ओ३म्

ऋषि दयानन्द और आर्य समाज

की

संस्कृत साहित्य को देन

[राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा 'आर्यसमाज का संस्कृत भाषा और साहित्य को योगदान' विषय पर पीएच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का संशोधित और परिवर्द्धित रूप]

लेखक—

डा० भवानीलाल भारतीय,

एम.ए. (हिन्दी, संस्कृत) पीएच. डी.

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

राजकीय महाविद्यालय, पाली (राजस्थान)

प्रकाशक—

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर

फाल्गुन २०२५ वि०

ग्रन्थ-प्राप्ति स्थान—

१–रामलाल कपूर ट्रस्ट, २३२ माडल टाऊन, सोनीपत (हरयाणा)।

२–रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेण्ट्स, गुरु बाजार, अमृतसर।

३–रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेण्ट्स, नई सड़क, देहली।

४–रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेण्ट्स, वारी मार्केट, सदर बाजार, देहली।

५–रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेण्ट्स, विरहाना रोड़, कानपुर।

६–रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेण्ट्स, ५१ सुतार चाल, बम्बई।

७–डा० भवानीलाल भारतीय, गवर्नमैन्ट कालेज पाली, (राजस्थान)

प्रथम वार १०००

मूल्य ६-०० रुपये

मुद्रक—

श्री सुरेन्द्रकुमार कपूर

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस, सोनीपत (हरयाणा)

स्व० श्री पं० भगवद्दत्त जी, लेखक के साथ
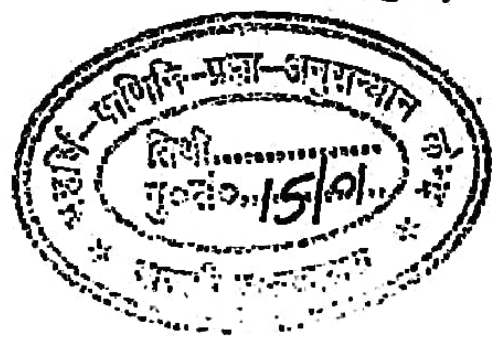
समर्पण

आर्यसमाज में वैदिक-शोध के प्रवर्तक

स्व० श्री पं० भगवद्दत्तजी रिसर्चस्कालर

की

पुण्य स्मृति में

जिनका लेखक पर सदा वरद हस्त रहा ।

प्रकाशकीय वक्तव्य

श्री प्रा० भवानीलालजी भारतीय एम० ए० का पीएच० डी० के लिए स्वीकृत 'आर्यसमाज का संस्कृत-भाषा और साहित्य को योगदान' नामक निबन्ध का संशोधित और परिवर्धित रूप ही हम 'ऋषि दयानन्द और आर्य-समाज की संस्कृत साहित्य को देन' शीर्षक से प्रकाशित कर रहे हैं।

श्री भारतीयजी स्वाध्यायशील, उत्कृष्ट लेखक एवं उत्तम व्याख्याता हैं। इन सब गुणों के साथ आप में ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति भी है। उनके इन गुणों की झलक इस ग्रन्थ के पाठकों को पदे-पदे मिलेगी।

मेरा आपके साथ लगभग १० वर्ष से परिचय है। आपने कुछ वर्ष पूर्व अजमेर में ऋषि-निर्वाण दिवस पर आयोजित मेले में मुझ से पीएच० डी० के लिए निबन्ध के विषय में संमति चाही। इससे पूर्व 'हिन्दी-भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन' विषय पर श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त लखनऊ विश्वविद्यालय से पीएच० डी० की उपाधि प्राप्त कर चुके थे। उनका निबन्ध भी छप चुका था। संस्कृत-भाषा और संस्कृत-साहित्य को ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की क्या देन है इस पर तब तक किसी भी शोध-कर्त्ता ने शोध-कार्य नहीं किया था, इसलिए मैंने उन्हें इस विषय पर निबन्ध लिखने के लिए सम्मति दी। श्री भारतीयजी ने तत्काल इस कार्य की महत्ता का मूल्यांकन करते हुए इसी विषय पर शोध-निबन्ध लिखने का संकल्प किया। उसी शुभ संकल्प का यह मूर्तरूप पाठकों के कर-कमलों में उपस्थित है। श्री भारतीयजी को इस कार्य में कितना परिश्रम करना पड़ा होगा, यह तो कोई समानधर्मा शोध-कर्ता ही पूर्णरूप से जान सकता है, परन्तु साधारण पाठकों को भी इसका परिचय स्थान-स्थान पर अवश्य मिलेगा।

इस कार्य में मेरा आरम्भ से ही सहयोग रहा था। अतः मैं इस कार्य की गुरुता से पूर्णतः परिचित था। कार्य पूर्ण होने पर मैं चाहता था कि यह महत्त्वपूर्ण कार्य शीघ्र प्रकाश में आवे। इसके सम्बन्ध में मैंने वेदवाणी में कुछ पंक्तियां

लिखीं। उन्हें पढ़कर माननीय श्री कृष्णलालजी पोद्दार (कलकत्ता-बंगलोर) ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अपना सहयोग देने का संकल्प प्रकट किया और दो-चार पत्रों के आदान-प्रदान में ही आपने इस ग्रन्थ के सुन्दर प्रकाशन के लिए २०००) दो हजार रुपये की सहायता देने का वचन दिया। आपके सहयोग से उत्साहित होकर हमने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को रामलाल कपूर ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित करने की योजना बनाई। उस के फलस्वरूप यह ग्रन्थ पाठकों की सेवा में उपस्थित करते हुए हमें महान् हर्ष हो रहा है।

माननीय श्री पोद्दारजी ने इस ग्रन्थ के लिए अपने भ्राता श्री आर० के० पोद्दारजी द्वारा अपने पिता श्री आनन्दीलालजी पोद्दार की पुण्य-स्मृति में स्थापित श्री आनन्दीलाल धर्मार्थ ट्रस्ट कलकत्ता की ओर से दो सहस्र रुपयों की हमें सहायता की है, उसके लिए हम माननीय पोद्दारजी एवं श्री आनन्दी-लाल धर्मार्थ ट्रस्ट के अधिकारियों के अत्यन्त आभारी हैं और आशा करते हैं कि सत्साहित्य के प्रकाशन में हमें आगे भी आप महानुभावों से इसी प्रकार समय-समय पर सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

श्री पोद्दारजी की भावना और निर्देश के अनुसार इस ग्रन्थ का मूल्य बहुत स्वल्प रखा जा रहा है। इससे पाठकों को इस ग्रन्थ के संग्रह करने में विशेष सुविधा होगी।

इस ग्रन्थ के मुद्रण में करनाल निवासी चौधरी श्री प्रतापसिंह जी ने २५०—०० ढाई सौ रुपये और शोलापुर निवासी श्री वंशीलाल गोदानी ने १००—०० सौ रुपये प्रदान किये हैं। इस सहायता के लिये हम इन महानु-भावों के भी अत्यन्त आभारी हैं।

ट्रस्ट के मुद्रणालय का अभी आरम्भ ही है। अभी इसमें अनेक कमियां हैं, पुनरपि हमने इस ग्रन्थ को अधिक-से-अधिक सुन्दर छापने का प्रयत्न किया है। इसके लिए प्रेस के सभी कार्यकर्त्ता विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। उनके सहयोग के बिना हम इस ग्रन्थ का इस रूप में और इतना शीघ्र प्रकाशित नहीं कर सकते थे।

सं० २०२५, शिवरात्रि — **विदुषां वशंवदः**

२३२, माडल टाऊन, सोनीपत — **युधिष्ठिर मीमांसक**

आदि वचन

भारत का धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का आन्दोलन संस्कृत भाषा और साहित्य के पुनरुत्थान और प्रगति का आन्दोलन था। नवोदय का जयघोष करने वाले सांस्कृतिक आन्दोलनों में सर्वाधिक सशक्त, जन-व्यापी तथा प्रभविष्णु था आर्यसमाज, जिसने कई दशाब्दियों तक जन-मानस का नेतृत्व किया। धर्म, समाज, संस्कृति और राजनीति के विभिन्न क्षेत्रों में आर्यसमाज ने किस प्रकार देशवासियों का मार्गदर्शन किया, यह एक पृथक् अध्ययन का विषय है। आर्यसमाज की विचारधारा ने अभिव्यक्ति के लिए जिस भाषा के माध्यम को स्वीकार किया, वह यद्यपि भारत की लोकभाषा हिन्दी थी, परन्तु पुरातन आर्यशास्त्रों से अनुभूति और प्रेरणा ग्रहण करने वाले आर्यसमाज का संस्कृत भाषा और उसके महनीय साहित्य से सम्बद्ध होना स्वाभाविक ही था।

संस्कृत साहित्य की जो रस-निर्झरिणी सहस्राब्दियों तक इस देश में प्रवहमान रही और जिसकी भाव-राशि से लाखों-करोड़ों लोगों का सहस्रों वर्षों तक मनोरञ्जन और मनोवृत्तियों का परिष्कार हुआ, वह विगत दो शताब्दियों से सूख-सी गई थी। वर्षों की राजनीतिक पराधीनता ने भारत-वासियों का सर्वाङ्गीण पतन कर दिया था और वे मानसिक दासत्व के शिकार होकर स्वजातीय गौरव की अभिव्यक्ति की भाषा संस्कृत के प्रति अपने सक्रिय दायित्व को विस्मृत कर बैठे थे। इसी बीच पाश्चात्य जातियों से भारत का सम्पर्क हुआ जो एक साथ ही इस देश के लिए वरदान और अभिशाप कहा जा सकता है। एक ओर जहां हमारे देशवासी पश्चिमी जीवन की भौतिकता-प्रधान जीवन-प्रणाली की चाकचिक्य से दिङ्मूढ़ और पथभ्रष्ट हुए तथा उनमें हीनभावना जागृत हुई, वहां पश्चिमी राष्ट्रों में सद्यः उत्पन्न राष्ट्रीयता के भावों, व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की भावना तथा वैज्ञानिक दृष्टि से उनमें एक नया दृष्टि-बोध भी उत्पन्न हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में उत्पन्न भारतीय नवजागरण के आन्दोलन इसी पाश्चात्य सम्पर्क की एक सुनिश्चित प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुए।

आर्यसमाज उस काल में उत्पन्न एक ऐसा ही सांस्कृतिक आन्दोलन था, जो देश के लुप्त गौरव और आर्य जाति की विगत महनीय संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए सतत् प्रयत्नशील रहा। इस ध्येय की पूर्ति के लिए आर्यसमाज ने अन्यान्य साधनों के अतिरिक्त संस्कृत भाषा और उसके साहित्य से प्राप्त होने वाली प्रेरणा को भी अपना सम्बल बनाया।

आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द स्वयं संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका भाषण, लेखन तथा विचाराभिव्यञ्जन प्रायः संस्कृत पर ही आधारित था। यद्यपि धर्मप्रचार हेतु जनसाधारण से सम्पर्क करने में लोकभाषा कितनी सहायक होती है, इस तथ्य से वे अनभिज्ञ नहीं थे, तथापि भारत की सर्वमान्य प्राचीन भाषा होने तथा आर्यधर्म और वैदिक संस्कृति के उदात्त तत्वों को उत्कृष्ट रूप में अपनी ग्रन्थ-राशि के भीतर सन्निविष्ट कर रखने वाली संस्कृत भाषा का प्रेरणा स्रोत कितना प्रबल हो सकता है, यह भी वे जानते थे। संस्कृत भाषा के प्रचार, प्रसार तथा उसे लोकप्रिय बनाने के लिए स्वामीजी ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उससे उनके अनुयायी आर्यसमाज में एतद्-विषयक कार्य की नींव पड़ गई।

स्वामीजी के परवर्ती आर्यसमाजी संस्कृतज्ञों ने भी संस्कृत के लिए पर्याप्त कार्य किया। शास्त्रीय ग्रन्थों पर भाष्य, टीका, व्याख्या आदि का लेखन तथा साहित्य के क्षेत्र में काव्य, गद्य, नाटकनिबन्ध, चम्पू, आलोचना आदि वाङ्मय की विविध विधाओं को समृद्ध करने में आर्यसमाज के संस्कृत-साहित्य-रसिक रसज्ञों का जो महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है वह किसी से अप्रकट नहीं है। संस्कृत साहित्य विषयक शोध-कार्य को भी आर्यसमाज ने निश्चित प्रगति दी है। वैज्ञानिक और ऐतिहासिक शोध-दृष्टि-सम्पन्न आर्यसमाज के कतिपय विद्वानों और संस्थानों ने इस क्षेत्र में जो उल्लेखनीय कार्य किया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत भाषा के शिक्षण और उसके पक्ष में किये जाने वाले आन्दोलन और प्रचार कार्य में भी आर्यसमाज सदा आगे रहा। आर्यसमाज की गुरुकुल तथा अन्य शिक्षण संस्थाओं ने संस्कृत के अध्ययन को व्यापक दिशा प्रदान की है और आर्यसमाज के संस्कृत-प्रचार विषयक कार्यों से जन–मन संस्कृत के प्रति अधिकाधिक उन्मुख हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ राजस्थान विश्वविद्यालय को 'डाक्टर ऑफ फिलासफी' उपाधि प्रदान किये जाने हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का संशोधित और परिवर्धित रूप है। मूल शोध-प्रबन्ध जुलाई १९६७ में ही मूल्यांकन हेतु विश्वविद्यालय

को प्रस्तुत कर दिया गया था, परन्तु इस तिथि के पश्चात् भी जो नूतन सामग्री लेखक को उपलब्ध हुई, उसको इसमें समाविष्ट कर ग्रन्थ को प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण बना देने का प्रयास किया गया है। आर्यसमाज के संस्कृत भाषा और साहित्य विषयक योगदान का मूल्यांकन करने तथा एतद्-विषयक सामग्री का आकलन करने का विनम्र प्रयास ही इस ग्रन्थ की प्रमुखविशेषता है।

शोध-ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है:—

प्रथम अध्याय में संस्कृत भाषा और साहित्य के इतिहास का संक्षिप्ततम इतिवृत्त प्रस्तुत करने के पश्चात् उत्तर मध्यकाल, विशेषत: ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में संस्कृत साहित्य में उत्पन्न गत्यवरोध तथा उसके कारणों का विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में इसी शताब्दी में उत्पन्न धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के आन्दोलनों की राजनीतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि का निरूपण करने के पश्चात् आर्यसमाज के पूर्ववर्ती ब्रह्म-समाज एवं प्रार्थना-समाज तथा उत्तरवर्ती थियोसोफिकल सोसाइटी और रामकृष्ण मिशन जैसे आन्दोलनों का प्रसंगोपात्त परिचय देते हुए इन आन्दोलनों से संस्कृत भाषा और साहित्य के सम्बन्धों का विवेचन किया गया है। आर्यसमाज के समकालीन और समानधर्मी आन्दोलनों की संस्कृत-विषयक नीति का विवेचन जिस अभिप्राय से किया गया है वह है आपेक्षिक दृष्टि से आर्यसमाज के संस्कृत-विषयक कार्य की गुरुता की स्थापना। इस सापेक्षिक दृष्टि से ही यह तथ्य स्पष्ट रूप में उभरकर हमारे समक्ष आता है कि संस्कृत-विषयक आर्यसमाज की नीति अधिक व्यावहारिक और यथार्थ पर आवृत थी तथा उसके क्रियान्वयन से संस्कृत भाषा और साहित्य का निश्चित हित हुआ है।

तृतीय अध्याय में आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द के जीवन और कार्यों का संक्षिप्त परिचय देते हुए स्वामीजी का संस्कृत भाषा से जो अन्तरङ्ग और आत्मीय सम्बन्ध रहा है, उसका विवेचन किया गया है। इसी प्रसंग में स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज के सिद्धान्तों, कार्यों तथा उसकी उपलब्धियों का सूक्ष्म विवेचन करते हुए उसके मूल में निहित आर्यसमाज की संस्कृत विषयक दृष्टि को स्पष्ट किया गया है। इसी संदर्भ में एक बार पुन: समकालीन धार्मिक संस्थाओं से आर्यसमाज की तुलना करते हुए उसकी अपेक्षाकृत अधिक सफलता के मूल में उसके द्वारा संस्कृत के महत्त्व को स्वीकृत किये जाने का निरूपण किया गया है।

चतुर्थ अध्याय स्वामी दयानन्द की संस्कृत सेवा से सम्बद्ध है। इसमें स्वामीजी के संस्कृत अध्ययन, उनके द्वारा रचित संस्कृत ग्रन्थ, उनके द्वारा निर्मित संस्कृत पाठविधि का विश्लेषण करते हुए स्वामीजी द्वारा स्थापित संस्कृत पाठशालाओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत-विषयक स्वामी दयानन्द के प्रचारात्मक कार्य का परिशीलन करते हुए उनके द्वारा लिखित उन संस्कृत पत्रों और प्रकाशित विज्ञापनों का भी उल्लेख किया गया है, जो पं० भगवद्दत्त द्वारा एकत्रित किए जाकर प्रकाशित हो चुके हैं।

स्वामी दयानन्द के परवर्ती आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा रचित संस्कृत साहित्य का द्विविध अध्ययन किया गया है।

पञ्चम अध्याय में आर्यसमाज के विद्वानों द्वारा रचित उस शास्त्रीय साहित्य का लेखा-जोखा उपस्थित किया गया है जो अधिकांश वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शन, स्मृति, काव्य आदि शास्त्रीय ग्रन्थों पर लिखे गये टीका, टिप्पणी, व्याख्या और भाष्य के रूप में है। यद्यपि अधिकांश आर्यसमाजी विद्वानों ने ये भाष्य और टीकाएं हिन्दी में लिखी हैं, परन्तु यह निश्चित है कि संस्कृत में लिखे गये शास्त्रों का लोकभाषा में रूपान्तर और अनुवाद भी संस्कृत सेवा के एक अंग के रूप में ही परिगणित किया जाना चाहिए। यदि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा संस्कृत साहित्य के अंग्रेजी, जर्मन आदि पश्चिमी भाषाओं में किये गए अनुवाद, व्याख्या और समीक्षण कार्य को संस्कृत सेवा में अन्तर्गत किया जा सकता है तो कोई कारण नहीं कि आर्यसमाजी विद्वानों के इस गुरुतर कार्य को नगण्य समझा जाए। फिर यह भी नहीं कि आर्यसमाज के विपश्चितों ने शास्त्र-समीक्षा के लिए हिन्दी का ही एकान्ततः प्रयोग किया हो। पं० भीमसेन शर्मा, शिवशंकर शर्मा, काव्यतीर्थ, तुलसीराम स्वामी, ब्रह्ममुनि परिव्राजक जैसे विद्वानों ने संस्कृत को ही अपने शास्त्रीय विवेचन का माध्यम बनाया है।

छठे अध्याय में आर्यसमाजी कवियों और साहित्यकारों द्वारा रचित रस-परक साहित्य का विशद मूल्यांकन किया गया है। यह साहित्य भाषा, भाव, कल्पना और अभिव्यञ्जना—प्रत्येक दृष्टि से सशक्त भाव-प्रवण साहित्य की कोटि में आता है। यह अध्याय इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा अध्याय है, जिसमें पद्य-गद्य, रूपक और चम्पू—काव्य की विविध विधाओं के अन्तर्गत आर्यसमाजी कृतिकारों की कृतियों का साहित्य-शास्त्रीय मानदण्डों के आधार पर विस्तृत समीक्षण किया गया है। इसी अध्याय में आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा किये गए काव्यालोचन और भाषा-विज्ञान विषयक कार्य का भी आकलन किया है।

सप्तम अध्याय आर्यसमाज में संस्कृत-शोध का जो कार्य व्यक्तिगत तथा संस्थागत प्रयत्नों से सम्पन्न हुआ है उसका विवेचन इस अध्याय का आलोचनीय विषय है। यहां आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा किये गए संस्कृत शोध–कार्यों का उल्लेख करते हुए उनके द्वारा लिखित और प्रकाशित जिन ग्रन्थों का विवरण उपस्थित किया गया है उसमें कहीं-कहीं पुनरुक्ति हो गई है, क्योंकि इन्हीं ग्रन्थों का पञ्चम अध्याय में प्रासंगिक वर्णन आया है। परन्तु इनका शोध और अनुसंधान की दृष्टि से जो स्पष्ट महत्त्व है उसे ध्यान में रखते हुए ही इस अध्याय में उनका पुनरुल्लेख हुआ है।

आठवें अध्याय में आर्यसमाज द्वारा संस्कृत भाषा के शिक्षण और उसके प्रचार हेतु अपनाये गए साधनों और कार्यक्रमों का विवेचन कर आलोच्य प्रबन्ध को समाप्त किया गया है। उपसंहार में स्वामी दयानन्द कृत वेद-भाष्य का परवर्ती वेद-भाष्यकरों पर प्रभाव तथा आर्यसमाज की प्रतिक्रिया में उत्पन्न सनातनधर्मी आन्दोलन द्वारा हुई संस्कृत सेवा का भी संक्षिप्त निरूपण किया गया है। निश्चय ही सनातनधर्म आन्दोलन के सूत्र संचालकों ने संस्कृत-शास्त्रों के प्रचार, प्रसार तथा संस्कृत भाषा के शिक्षण आदि की जिन प्रवृत्तियों को संचालित किया था, उसके पीछे आर्यसमाज का प्रभाव ही दृष्टिगोचर होता है।

ग्रन्थ की समाप्ति पर एक बृहद् ग्रन्थ सूची उपस्थित की गई है। इसमें आलोच्य विषय के अध्ययन के आधारभूत सहायक ग्रन्थों के अतिरिक्त उन ग्रन्थों को भी सम्मिलित कर लिया गया है, जिनका उल्लेख येन-केन प्रकारेण इस ग्रन्थ में हुआ है। इस प्रकार यह सूची आर्यसमाज के वैदिक और संस्कृत वाङ्मय विषयक ग्रन्थों की एक सम्पूर्ण एवं समग्र सूची के निकट तक पहुंच गई है। भावी-शोधकर्ता निश्चय ही इस संदर्भ-ग्रन्थ-सूची से लाभ उठा सकते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ का महत्त्व इसलिए भी है कि इसमें मैंने आर्यसमाजी संस्कृत विद्वानों और साहित्यकारों द्वारा निर्मित उस ग्रन्थ-सामग्री को भी अपने विवेचन का आधार बनाया है जो दशाब्दियों पूर्व प्रकाशित हुई थी और जो अब सामान्यतया अनुपलब्ध है। ऐसे दुर्लभ ग्रन्थों का उल्लेख यथाप्रसंग हुआ है। इसी प्रकार आर्यसमाज की पुरानी पत्र-पत्रिकाओं, यथा आर्यसिद्धान्त, वेदप्रकाश, परोपकारी का भी यथेच्छ उपयोग लिया गया है। पं० भीमसेनशर्मा पं० तुलसीराम स्वामी तथा पं० पद्मसिंह शर्मा के सम्पादन में प्रकाशित होने वाले उपर्युक्त पत्रों की संचिकाओं में मुझे प्रभूत सामग्री उपलब्ध हुई।

शोध ग्रन्थों के विवेचनीय विषय का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक रखा गया है। इसमें आर्यसमाजी लेखकों द्वारा रचित उस सामग्री का तो समग्ररूपेण विवेचन हुआ ही है जो प्रत्यक्षरूप से आर्यसमाज के सिद्धान्तों या मन्तव्यों से सम्बन्ध रखती है, साथ ही उस साहित्य की भी समीक्षा की गई है जो यद्यपि आर्यसमाज से सम्बद्ध नहीं है, तथापि जिसकी रचना आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा हुई है। इसी प्रकार स्व० पं० सातवलेकर, पं० विश्वबन्धु शास्त्री तथा आचार्य विद्यानन्द विदेह आदि के साहित्यिक कृतित्व का मूल्यांकन भी यदि इस शोध-प्रबन्ध में स्थान पा सका है तो उसका कारण यही है कि इन महानुभावों के विचार और सिद्धान्त भी मूल रूप से ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज से ही प्रभावित रहे हैं। यह दूसरी बात है कि कारणवश इनका आर्यसमाज से संस्थागत सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया है।

शोध-ग्रन्थ का सुचारु रूप से लेखन और लिखने के पश्चात् उसका परिष्कार सम्भव नहीं था, यदि मुझे अपने शोध निर्देशक डा० ब्रह्मानन्द शर्मा, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय अजमेर का विद्वत्तापूर्ण निर्देशन और मार्गदर्शन प्राप्त नहीं होता। समय-समय पर डा० शर्मा ने शोध-ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को देखा और अपने अमूल्य सुझाव देकर मुझे उपकृत किया। प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान के संस्थापक, वेदवाणी के सम्पादक तथा आर्यसमाज के मूर्धन्य विद्वान पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने भी शोध-ग्रन्थ लेखन कार्य के समय पाण्डुलिपि को देखकर आवश्यक एवं उपयोगी परामर्श दिया, तदर्थ मैं उनका आभारी हूँ। आर्यसमाज के अन्ताराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैदिक विद्वान स्व० पं० भगवद्दत्त तथा दर्शन के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् पं० उदयवीर शास्त्री ने भी शोध-प्रबन्ध का सार संक्षेप सुनकर अपने मूल्यवान् सुझावों से उपकृत किया है। राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के रीडर डा० सुधीरकुमार गुप्त ने भी शोध-प्रबन्ध की पाण्डुलिपि को देखकर यत्र-तत्र उसे परिष्कृत करने के जो उपयोगी सुझाव दिये हैं, उनके लिए मैं डा० गुप्त का ऋणी हूं। शोध-ग्रन्थ परीक्षकद्वय डा० मंगलदेव शास्त्री तथा डा० सूर्यकान्त ने ग्रन्थ के प्रकाशन से पूर्व अनेक उपयोगी सुझाव एवं सूचनायें प्रदान कीं, तदर्थ मैं उक्त सभी महानुभावों का आभार स्वीकार करता हूँ।

इसके अतिरिक्त मैं आर्यसमाज के उन सभी संस्कृत विद्वानों, कवियों और लेखकों का भी आभार स्वीकार करता हूं जिन्होंने अपनी अमूल्य कृतियाँ मुझे भेंट स्वरूप प्रदान कर मेरे विवेचन कार्य को सुकर बनाया। विशेषतः

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के भूतपूर्व उपकुलपति और मुख्याधिष्ठाता प्रिन्सिपल महेन्द्रप्रताप शास्त्री, गुरुकुल कांगड़ी के संस्कृत अनुसंधान विभाग के अध्यक्ष पं० भगवद्दत्त वेदालंकार, बम्बई के स्नातक सत्यव्रत वेदाविशाद, दयानन्द कालेज कानपुर के वैदिकशोध संस्थान के संचालक डा० मुन्शीराम शर्मा 'सोम' का धन्यवाद अर्पण करना आवश्यक है। शोधसामग्री के संकलन हेतु मुझे विभिन्न नगरों के आर्यसमाजों के पुस्तकालयों को टटोलना पड़ा। विशेषतः नगर आर्यसमाज जोधपुर, आर्यसमाज सरदारपुरा जोधपुर, आर्यसमाज, महर्षि दयानन्द मार्ग (रातानाड़ा) जोधपुर, आर्यसमाज नसीराबाद, आर्यसमाज ब्यावर, आर्यसमाज शिवगंज तथा आर्यसमाज कृष्णपोल बाजार जयपुर के पुस्तकालयों से मुझे महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई। इसी प्रकार अजमेर स्थित परोपकारिणी सभा के बृहत् पुस्तकालय, गुरुकुल चित्तौड़गढ़ के दयानन्द पुस्तकालय तथा पं० युधिष्ठिर मीमांसक के व्यक्तिगत पुस्तकालय से भी उल्लेखनीय सहायता मिली है। तदर्थ मैं उक्त संस्थाओं के अधिकारियों के प्रति अपना हार्दिक आभार स्वीकार करता हूँ।

ग्रन्थ को सुन्दर और नयनाभिराम रूप में प्रकाशित किया जाना सम्भव नहीं होता यदि वैदिक वाङ्मय के प्रकाशक श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के अधिकारीगण और ख्यातिप्राप्त वैदिक विद्वान् पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक इसे प्रकाशित करने की सुव्यवस्था न करते। श्री मीमांसक जी का मुझ पर प्रारम्भ से ही अनुकम्पाभाव रहा है, अतः उनके और ट्रस्ट के अधिकारी महानुभावों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करना मैं नितान्त आवश्यकत समझता हूँ। आशा है इस शोध-कृति से ऋषि दयानन्द तथा आर्यसमाज की संस्कृत सेवा का स्वरूप सुधी-पाठकों के सम्मुख स्पष्ट हो सकेगा।

पाली (राजस्थान)
वि० २०२५, मार्गशीर्ष शुक्ला ११

भवानीलाल भारतीय
अध्यक्ष—हिन्दी विभाग,
राजकीय महाविद्यालय

विषयानुक्रमणिका

काव्य—ब्रह्मर्षिविरजानन्दचरितम्, नारायणस्वामिचरितम्, महापुरुष-कीर्तनम्, महिलामणिकीर्तनम्, ऐतिहासिक काव्य—वीरतरङ्गरङ्ग, आर्योदय-काव्यम्, भारतैतिह्यम्, नीतिकाव्य—आर्यस्मृति, सत्याग्रह-नीतिकाव्यम्, रश्मिमाला, अमृतमन्थनम्, शतककाव्य—ब्रह्मचर्यशतकम्, गुरुकुलशतकम्, यतीन्द्रशतकम्, स्तोत्रकाव्य—लहरीकाव्य, अनूदितकाव्य—आर्यसमाज के नियमों का काव्यानुवाद—हिन्दी, बंगला और उर्दू से संस्कृत काव्यानुवाद, अखिलानन्द शर्मा और मेधाव्रताचार्य के स्फुटकाव्य—संस्कृत पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित प्रकीर्ण संस्कृत कविताएं—शोकगीत—गद्यकाव्य विवेचन—उपन्यास विवेचन—कुमुदिनीचन्द्र और कुसुमलक्ष्मी, निवन्धविवेचन—पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित स्फुट संस्कृत निवन्ध—ओंकारदर्शनम्—प्रवन्धमंजरी का प्रकाशन, शास्त्रार्थ—शास्त्रार्थों में प्रयुक्त संस्कृत गद्य का स्वरूप, प्रकाशित शास्त्रार्थों का विवेचन—शास्त्रार्थ फीरोजावाद—बूंदी शास्त्रार्थ, गद्यानुवाद—सत्यार्थ-प्रकाश का संस्कृत गद्यानुवाद, चम्पूविवेचन—श्रीप्रतापचम्पू, अभिनवकाव्यम्, महर्षिदयानन्दचरितम्, दृश्यकाव्य विवेचन—प्रकृतिसौन्दर्यम्, महर्षि-चरितामृतम्, संवादमाला, संस्कृत सुभाषित ग्रन्थ, काव्यलोचन, आचार्य विश्वेश्वर रचित साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों के टीका और व्याख्या ग्रन्थ, साहित्य-विषयक मौलिकग्रन्थ और संस्कृत साहित्य का इतिहास—भाषा-विज्ञान—प्रारम्भिक परिचय, उपदेशमञ्जरी और सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के उद्धरणों में व्यक्त स्वामी दयानन्द का भाषा-विज्ञान विषयक मत—आधुनिक भाषा-विज्ञान के डा० धीरेन्द्रवर्मा, डा० मंगलदेव शास्त्री तथा डा० बाबूराम सक्सेना के ग्रन्थ, पं० भगवद्दत्त का भाषा का इतिहास—निष्कर्ष।

अध्याय—७ पृष्ठ ३०९—३३१

संस्कृत शोध कार्य में आर्यसमाज का योगदान—संस्कृत शोध-कार्य का संक्षिप्त परिचय—आर्यसमाज के विद्वानों का वैयक्तिक शोधकार्य, पं० भगवद्दत्त, डा० मंगलशास्त्री, डा० सूर्यकान्त, युधिष्ठिर मीमांसक, स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक, पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर का शोध विषयक कृतित्व-विवेचन, विश्वविद्यालय शोध-पद्धति पर आर्यसमाजी विद्वानों का शोध-कार्य, संस्थागत शोधकार्य—डी० ए० वी० कालेज, लाहौर का शोध विभाग, विश्वेश्वरानन्द वैदिकशोध संस्थापन, गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी का शोध विभाग, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, विरजानन्द वैदिक संस्थान गाजियावाद, स्वाध्याय मण्डल (पारडी), भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान अजमेर, हरयाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर, महर्षि दयानन्द स्मारक अनुसंधान

विभाग टंकारा, दयानन्द कालेज कानपुर का वैदिक शोध संस्थान, आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब का शोध विभाग।

ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज
की
संस्कृत साहित्य को देन

अध्याय १

[संस्कृत भाषा और साहित्य के इतिहास का सिंहावलोकन, उत्तर मध्यकाल में उत्पन्न संस्कृत साहित्य में गत्यवरोध तथा उसके कारण]

संस्कृत भाषा का इतिहास विश्व की प्राचीन उपलब्ध भाषा का इतिहास है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान ने संसार की समस्त भाषाओं का जो पारिवारिक वर्गीकरण किया है, उसके अनुसार भारोपीय[1] परिवार की भाषायें आज के सभ्य और समृद्ध राष्ट्रों की भाषायें होने के कारण सर्वाधिक महत्त्व रखती हैं। भारोपीय परिवार में ही संस्कृत, फारसी, लैटिन, ग्रीक, जर्मन, फ्रेन्च, अंग्रेजी आदि वे प्राचीन और नवीन भाषायें आती हैं जिनके माध्यम से एशिया और यूरोप की सभ्यता और संस्कृति को अभिव्यक्ति मिली है। अब तक विद्वानों की यही धारणा थी कि संस्कृत ही संसार की प्राचीनतम भाषा है, परन्तु पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिकों ने यह सम्भावना प्रकट की है कि संस्कृत के पूर्व भी एक आदिम भारोपीय भाषा थी। यतः इस आदिम भाषा का अस्तित्व अभी तक सम्भावना तथा कल्पना तक ही सीमित है, अतः यह मानने में कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये कि आज की प्रचलित भाषाओं में संस्कृत ही मानव जाति की प्राचीनतम भाषा है।

लौकिक संस्कृत साहित्य के काल से पूर्व वैदिक वाङ्मय का काल था।[2]

---

१. 'भारोपीय' शब्द 'भारतयोरोपीय' का संक्षिप्त रूप है।

२. यह योरोपीयन लेखकों का मत है। भारतीय मतानुसार मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल, सूत्रकाल, लौकिक साहित्य काल आदि काल विभाग नहीं हैं।

ऋग्वेद को संसार के पुस्तकालय का प्राचीनतम ग्रन्थ घोषित किया गया है।[1] वेदों की भाषा लौकिक संस्कृत से अनेक अंशों में भिन्न है। वेदार्थ-ज्ञान के लिए पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरण उतना सहायक नहीं होता जितने निघण्टु, निरुक्त, प्रातिशाख्य तथा ब्राह्मण ग्रन्थ। वैदिक साहित्य में चारों वेदों का तथा कहीं-कहीं वेदत्रयी[2] का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, पूषा, सविता, सोम आदि देवताओं के स्तुतिपरक सहस्रों मन्त्र हैं जो यद्यपि पृथक्शः तत्-तत् देवताओं का ही गुणानुवाद करते हैं, परन्तु उनका मूल अभिप्राय एक परमेश्वर का ही कीर्तन करना है।[3] ऋग्वेद आर्यों के प्राचीनतम धर्म, मत, विश्वास, दर्शन तथा सृष्टि-विद्या विषयक सिद्धान्तों का आकर ग्रन्थ है। ऋग्वेद के मन्त्रों को वैदिक साहित्य में ज्ञानकाण्ड की संज्ञा दी गई है।

यजुर्वेद कर्मकाण्ड विधायक संहिता है। शैली की दृष्टि से इसमें पद्यात्मक ऋचायें तथा गद्य दोनों ही मिलते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौत सूत्रों के अनुसार अग्निहोत्र, दर्श-पौर्णमास, अश्वमेध, पुरुषमेध आदि विभिन्न यज्ञ-यागों की विधियां यजुर्वेद में वर्णित हुई हैं। यजुर्वेद का अन्तिम चालीसवां अध्याय ईशावास्योपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है[4] जिसमें ब्रह्मतत्त्व का विवेचन हुआ है। जैमिनि के सूत्र **'गीतिषु सामाख्या'**[5] के अनुसार सामवेद में गीतितत्त्व की प्रधानता है। ऋङ्मन्त्रों को ही संगीत विधि से प्रस्तुत करना सामसंहिता का प्रमुख लक्ष्य रहा है। कथ्य और शैली दोनों दृष्टियों से विचार करने पर अथर्ववेद में कई विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं। बीस काण्डों में विभक्त इस संहिता में अध्यात्म विद्या के अतिरिक्त

---

1. The Rigveda is probably the oldest book in the library of the world. F. Maxmuller.

२. मीमांसकों के मतानुसार वेद का त्रित्व चारों वेदों में ऋक्, यजुः और सामसंज्ञक त्रिविध मन्त्रों पर आश्रित है।

३. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

ऋग्वेद १।१६४।१६॥

४. ईशोपनिषद् और बृहदारण्यक उपनिषद् के दो प्रकार के पाठ सम्प्रति उपलब्ध हैं। वे माध्यन्दिन और काण्व के नाम से प्रसिद्ध हैं। सम्प्रति अत्यन्त प्रसिद्ध ईश और बृहदारण्यक उपनिषद् के पाठ काण्व-शाखानुसारी हैं। यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय माध्यन्दिन ईशोपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध है। माध्यन्दिन बृहदारण्यक उपनिषद् के अनेक पाठ सत्यार्थप्रकाश आदि में उद्धृत हैं।

५. पूर्व मीमांसा २।१।३६॥

आयुर्वेद, वनस्पति-शास्त्र, गार्हस्थ्य-शास्त्र, काम-शास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति, समाज-शास्त्र और शरीर-विज्ञान जैसे अनेक लोकोपयोगी विषय वर्णित हुए हैं।

कालान्तर में प्रत्येक वेद संहिता की विभिन्न शाखाओं का आर्ष प्रवचन हुआ। शाखा प्रवचन का कार्य शताब्दियों तक चलता रहा। शाखा भेद देश, काल और अध्येता छात्र की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर प्रवर्तित हुआ। वेदों की व्याख्या, प्रवचन तथा वेदार्थ के अन्वेषण का कार्य शताब्दियों की दीर्घ अवधि को अपने भीतर समेटे हुए है। इस विस्तृत काल में प्रत्येक शाखा की संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और कल्प सूत्रों का पृथक्-पृथक् प्रवचन हुआ। समस्त वैदिक शाखायें ११२७ हैं, जिनमें सम्प्रति कुछ ही उपलब्ध होती हैं।

संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों का काल आता है। ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ क्रमशः चारों वेदों से सम्बद्ध ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। आरण्यक और उपनिषद् इन ब्राह्मण ग्रन्थों के ही अध्यातम विद्या प्रधान अंश हैं। आर्य-समाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती के मतानुसार, ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के व्याख्यान हैं, जिनमें विभिन्न मन्त्रों की प्रतीकें धर कर उनकी व्याख्या की गई हैं।[1] मन्त्रार्थ विवेचन के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों की रहस्यमय-व्याख्या, आध्यात्मिक तथा दार्शनिक विषयों पर संवाद तथा वैदिक शब्दों की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं। आरण्यक और उपनिषद् वर्णित भारतीय अध्यातम विद्या दार्शनिक चिन्तन का सर्वोच्च सोपान है। ब्रह्मनिष्ठ मुमुक्षुओं के लिए उपनिषदों के अध्ययन से बढ़ कर और कोई तपश्चर्या नहीं मानी गई है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष की गणना वेदाङ्गों में होती है। इन विषयों से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ रचे गये, जिनका अद्यावधि यथार्थ मूल्याङ्कन नहीं हो सका।

षड् दर्शन और तत् सम्बन्धी विपुल वाङ्मय संस्कृत भाषा में लिखे गये दार्शनिक ग्रन्थों की एक नवीन विधा हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। मूल दर्शन ग्रन्थ सूत्र शैली में लिखे गये हैं परन्तु इस सारगर्भित, सूक्ष्म और अल्पाक्षरों में बहुत कुछ कह देने वाली दुरूह शैली वाले ग्रन्थों की व्याख्या में भाष्य, प्रवचन, वार्तिक, विवरण, तात्पर्य, टीका आदि अभिधान वाले अनेक ग्रन्थ

---

१ "ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानान्येव सन्ति, नैव वेदाख्यानीति"। कुतः? 'इषे त्वोर्जे त्वेति' (श० कां० १। अ० ७। ब्रा० १। कं० २) इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात्।" ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदसंज्ञा-विचार।

लिखे गये जिनमें भारत की दार्शनिक चिन्ता को अभिव्यक्ति मिली। शंकर, कुमारिल, वाचस्पति, वात्स्यायन, उद्योतकर, उदयन, विज्ञानभिक्षु जैसे महान् प्रतिभाशाली दार्शनिकों ने जिस गौरवपूर्ण वाङ्मय का निर्माण किया, वह संस्कृत वाङ्मय की स्थायी निधि है।

इसी प्रकार मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर, शौनक, उशना, नारद, विष्णु, हारित, शङ्ख आदि विभिन्न ऋषियों के नामों पर उपलब्ध होने वाली स्मृतियां विभिन्न युगों के सामाजिक विधि-निषेधों, वर्णाश्रम धर्म, न्याय, राजनीति तथा शासनव्यवस्था संबन्धी महत्त्वपूर्ण नियमों का संग्रह हैं। कालान्तर में धर्मशास्त्र विषयक विपुल ग्रन्थराशि का निर्माण हुआ। विवाह, दायभाग, जातियों और वर्णों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का विवेचन तथा वर्णाश्रम धर्म विधान आदि विषय विज्ञानेश्वर, मित्रमिश्र, कमलाकर भट्ट, स्मार्त रघुनन्दन भट्टाचार्य जैसे धर्मशास्त्र के निबन्धकारों ने उपनिबद्ध किये। संभवतः किसी अन्य भाषा में धर्म, अध्यात्म, दर्शन तथा सामाजिक विधि-विधान से सम्बद्ध इतना प्रचुर साहित्य नहीं लिखा गया, जितना संस्कृत भाषा में।

रामायण और महाभारत का रचना काल भी संस्कृत साहित्य का एक समृद्ध युग कहा जाता है। यद्यपि रामायण और महाभारत महाकाव्य कहलाते हैं। तथापि इनमें इतिहास की सामग्री भी प्रचुर भाषा में पाई जाती है। संस्कृत के ये दो ही ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें इतिहास, धर्म, काव्य, पुराण आदि सभी के तत्त्व एक साथ पाये जाते हैं। रामायण को तो 'आदि काव्य' की संज्ञा प्रदान की गई है। वस्तुतः परवर्ती आलंकारिकों ने रामायण के आधार पर ही महाकाव्य के लक्षणों का निरूपण किया था, क्योंकि सर्गबद्ध, धीरोदात्त नायक युक्त, जाति के सर्वाङ्गीण व्यापक चित्रण से संयुक्त, प्रकृति वर्णन से विभूषित तथा एक महान् आदर्श को चित्रित करने वाला महाकाव्य रामायण से पूर्व नहीं लिखा गया था। भारतीय साहित्य में रामायण तथा महाभारत की महत्ता निर्विवाद है। महान् ऋषि महात्मा कृष्ण द्वैपायन की विमल मेधा से निस्सृत 'जय काव्य' ही कालान्तर में 'भारत' और 'महाभारत' का विपुल आकार धारण कर परवर्ती काव्यों और आख्यानों का उपजीव्य बना। महाभारत के विषय में इस उक्ति को अतिशोक्ति नहीं कहा जा सकता कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-पुरुषार्थ चतुष्टय का सर्वाङ्गीण विवेचन इस महा-

---

१. नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥ महाभारत का मंगल श्लोक।

भारत में हुआ है। जो यहां है वही अन्यत्र है, जो यहां नहीं वह कहीं नहीं।[1] कौरव पाण्डव इतिहास के साथ लेखक ने मानव जीवन के उपयोगी सभी ज्ञान-विज्ञान को महाभारत में समाविशिष्ट कर लिया है। धर्म, दर्शन, तत्त्वज्ञान, अध्यात्म, युद्धनीति, कूटनीति, समाज-शास्त्र, विभिन्न देशों और जातियों के आचार विचार—सभी कुछ तो महाभारत में हैं। अष्टादश पुराणों का (अर्वाचीन होते हुए भी) अध्ययन समाज-शास्त्रीय दृष्टि से होना अभीष्ट है। यद्यपि पुराण नामधारी इन ग्रन्थों में साम्प्रदायिक उग्रता के भाव प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं, तथापि सरल अनुष्टुप् छन्दों में लिखा गया यह विपुलकाय पुराण नामक साहित्य भारतीय इतिहास के अद्यतन कतिपय अनुपलब्ध तथ्यों का महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

संस्कृत का शास्त्रीय वाङ्मय जितना समृद्ध है उतना ही उसका रसपरक लौकिक साहित्य भी। काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका, चम्पू, सूक्ति, सुभाषित, काव्यालोचन आदि साहित्य की सभी विधायें संस्कृत में उपलब्ध होती हैं। प्रत्येक काव्याङ्ग पर संस्कृत में सहस्रों ग्रन्थ लिखे गये। कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष आदि कवियों ने जिन काव्य-कृतियों का सृजन किया वे किसी भी भाषा के लिए गर्व की वस्तु हो सकती हैं। रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषधीय चरित जैसे काव्यों ने शताब्दियों तक काव्यरसिकों का मनोरंजन किया है तथा आज भी कर रहे हैं। इसी प्रकार नाटककारों में भास, कालिदास, शूद्रक, भवभूति, विशाखदत्त, और भट्ट नारायण ने जिन महनीय रूपक कृतियों की रचना की है, वे इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि भारत में नाट्य कला का विकास नैसर्गिक रूप में हुआ तथा इस पर यवन नाटक-कला का प्रभाव देखना कल्पनामात्र है।

गद्य को कवियों की कसौटी कहा जाता है।[2] संस्कृत में सुबन्धु, बाण और दण्डी जैसे गद्यकार हुए हैं। जिनकी वासवदत्ता, कादम्बरी एवं दश-कुमार चरित जैसी कथायें गद्य का उदात्त और प्राञ्जल रूप उपस्थित करती हैं। कल्पना प्रसूत कथाओं के अतिरिक्त ऐतिहासिक वृत्तान्तों को भी गद्य के माध्यम से लिखा गया। कथा, आख्यायिका और चरित्र नामधारी गद्य रचनायें पर्याप्त संख्या में लिखी गईं। पञ्चतन्त्र और हितोपदेश जैसे ग्रन्थ संस्कृत की निजी विशिष्ट कृतियां हैं जिनमें पशु पक्षियों की कथाओं के व्याज से मनुष्य

---

१. धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्र चित्॥ स्वर्गारोहण पर्व ५।५०।

२. गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।

के लिए सारगर्भित नीति-रत्नों का संकलन किया गया है।[1] इसी प्रकार गद्य-पद्य का सम्मिलित रूप 'चम्पू' संस्कृत में ही दृष्टिगोचर होता है। चम्पू-काव्य लेखन में रचयिता कलाकार की गद्य-पद्य लेखन क्षमता की पूर्ण परीक्षा हुई है। सुभाषित संग्रह, नीति काव्य, उपदेशात्मक गद्य तथा सामान्य लौकिक दृष्टान्तों के संग्रह वाले पद्य साहित्य का संस्कृत में इतना प्राचुर्य है कि सीमित स्थान में उन सबका सम्यक् विश्लेषण करना तो दूर रहा, सामान्य उल्लेख भी कठिन है। इसी प्रकार विविध देवी-देवताओं, पूज्य पुरुषों तथा दैवी चरित्रों के प्रति श्रद्धा और भक्ति के पूत भावों से परिपूर्ण जो विपुल स्तोत्र साहित्य है, वह भी अद्यापि शोध और अनुसंधान का विषय बना हुआ है।

संस्कृत में काव्यालोचन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भारत का नाट्यशास्त्र इस विषय का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। इसमें नाट्य-तत्त्वों के विवेचन के प्रसंग में रस, अलंकार आदि काव्य तत्त्वों की समीक्षा की गई है। भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, मम्मट. विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने कालान्तर में रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य के सिद्धान्तों को जिस प्रकार पुष्पित, पल्लवित और परिवर्द्धित किया, वह यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि काव्यालोचन का समृद्धतम रूप संस्कृत में शताब्दियों पूर्व विकसित हो चुका था। काव्यालंकार, ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, सहित्यदर्पण, रसगङ्गाधर आदि संस्कृत समालोचना के आकर ग्रन्थ हैं, जिन पर किसी भी भाषा को उचित गर्व हो सकता है।[10]

वस्तुतः संस्कृत साहित्य की पुनीत मन्दाकिनी वैदिककाल से लेकर मुगल शासन काल तक निरन्तर अबाध गति और अप्रतिहत वेग से प्रवाहित होती रही। यह अवश्य है कि समय-समय पर उसका प्रवाह कभी मन्थर और कभी तीव्र गति से बहता रहा, परन्तु गीर्वाणवाणी का यह रसस्रोत कभी सूखा नहीं। उत्तर मुगलकाल तक आते-आते संस्कृत साहित्य धारा का मार्ग अवरुद्ध-सा होने लगा और ऐसी आशंका होती थी कि कहीं यह रस निर्झर सूख न जाय।

अब हम उन कारणों का विवेचन करेंगे जो ईसा की अठारहवीं और उन्नीसवीं शती में संस्कृत भाषा और उसके साहित्य के क्षेत्र में उत्पन्न गत्यवरोध के लिए उत्तरदायी ठहराये जा सकते हैं।

---

१. इस शैली का मूल महाभारत की अनेक वे कथाएं हैं, जिनमें पशु-पक्षियों की कथा के रूप में सामाजिक या राजनीतिक विचारों का संकलन मिलता है।

१. संस्कृत साहित्य की निर्माणावस्था में प्राकृत और अपभ्रंश भाषायें भी समय-समय पर साहित्य की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में प्रयुक्त होती रहीं। यों भी कहा जा सकता है कि जिस समय धर्म और साहित्य के क्षेत्र में संस्कृत को अभिव्यक्ति की एक मात्र भाषा स्वीकार कर लिया गया था, उस समय भी सामान्य लोक व्यवहार में प्राकृत भाषाओं का ही प्रयोग होता था। कालान्तर में जब प्राकृत भाषायें भी साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनीं, तो अपभ्रंश भाषायें जन व्यवहार में प्रयुक्त होने लगीं। परन्तु इन सब परिस्थितियों में भी न्यूनाधिक रूप में संस्कृत ही साहित्य रचना का निर्विवाद माध्यम बनी रही।

२. अपभ्रंश भाषाओं के पश्चात् देशी भाषाओं का काल आया। हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, उड़िया, असमी, पंजाबी आदि उत्तर भारतीय आर्य-भाषायें साहित्यिक रूप से समृद्ध होने लगीं। साहित्य में इन देशी भाषाओं का प्रयोग संस्कृत साहित्य निर्माण की दृष्टि से बाधक सिद्ध हुआ। अब तक संस्कृत का शिष्ट सम्मत (Classical) रूप और महत्त्व स्थिर हो चुका था। जन-सामान्य ने उसमें रुचि लेना बन्द कर दिया था। वह केवल पण्डितों और विद्वानों की ही भाषा रह गई। सामान्य जनता लोक भाषाओं में निर्मित साहित्य से रसानुभूति ग्रहण करने लगी। संस्कृत भाषा और उसके साहित्य पर ब्राह्मण वर्ग के एकाधिकार की स्थापना मध्यकाल में सुदृढ़ हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में जनता के हर्ष, शोक, सुख, दुःख आदि भावों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ तथा लोक से असंपृक्त संस्कृत भाषा और उसके साहित्य का विकास-क्रम अवरुद्ध हो जाना स्वाभाविक ही था।

३. मुसलमानी शासन ने भारतवासियों के स्वधर्म, स्वभाषा और स्व-संस्कृति के प्रति निष्ठा के भावों को आघात पहुंचाया। मुसलमान शासक अपने साथ अरब और फारस की भाषा, इस्लाम का सैमेटिक मत तथा अरब की सभ्यता लाये। मुगलपूर्व मुसलमान शासकों का भारत के स्वात्मबोध को कुचलने में बहुत बड़ा हाथ था। वे यह सहन नहीं कर सकते थे कि भारत-वासी अपने धर्म और भाषा पर अभिमान करें। फारसी साहित्यकारों को राज्याश्रय प्राप्त होना और फारसी भाषा को राजकाज की भाषा का पद मिलना संस्कृत की प्रगति में बाधक सिद्ध हुआ। मुगलों की दृष्टि अपने पूर्ववर्ती मुसलमान शासकों से भिन्न थी तथा साहित्य और भाषा के सम्बन्ध में भी उन्होंने पर्याप्त उदारता का परिचय दिया। अरबी, फारसी तथा हिन्दी के कवियों और लेखकों को प्रोत्साहन, पुरस्कार आदि देने के साथ-साथ वे संस्कृत कवियों

का भी सम्मान करते थे। शाहजहां द्वारा संस्कृत के कवि और आलंकारिक आचार्यों की परम्परा में अन्तिम पण्डितराज जगन्नाथ का सम्मानित किया जाना इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि मुगल शासकों में संस्कृत भाषा के प्रति आदर भाव था। तथापि मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् इतने बृहत् रूप में संस्कृत को राज्याश्रय नहीं मिला, जिसके कारण वह अपनी प्रगति को स्थिर रख सकती।

४. यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि भाषायें लोक-शक्ति और जन-सहयोग से प्रगति करती हैं तथा साहित्य की प्रगति भी न्यूनाधिक रूप में शासन और जनता के प्रोत्साहन पर निर्भर होती है। संस्कृत में विक्रम और भोज जैसे नरेशों के उदाहरण प्रसिद्ध है जिनके शासनकाल में संस्कृत को अभूतपूर्व संरक्षण प्राप्त हुआ। संस्कृत कवियों, लेखकों और विद्वानों को जो सहायता और प्रोत्साहन शताब्दियों तक शासक वर्ग की ओर से मिलता रहा, वह उत्तर मुगल काल तक आते-आते क्षीण हो गया। राजपूत राजाओं का वर्चस्व ही क्षीण नहीं हुआ, वे स्वयं भी परतन्त्र, हीनवीर्य और कदर्य होकर अपने अस्तित्व की रक्षा के लिएं परमुखापेक्षी बन गये। राजाओं और सामन्तों में विद्या का व्यसन समाप्त हो गया। भौतिक समृद्ध, ऐश्वर्य, विलास और उद्दाम वासना पूर्ति में निरन्तर निमग्न रहने के कारण इन राजाओं से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे उस संस्कृत साहित्य को प्रोत्साहन प्रदान करते जो अब तक उनके स्वनामधन्य, पुण्यश्लोक पूर्वजों का संरक्षण प्राप्त करता रहा था। राज्याश्रय प्राप्त करने वाले कवि और साहित्यकार भी संस्कृत को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम न बनाकर लोक भाषाओं में ही साहित्य रचना कर संतुष्ट हो जाते थे। उनका वैदुष्य और पाण्डित्य भी उस कोटि का नहीं रह गया था, जिससे प्रौढ़ और महनीय कृतियों का सृजन होता।

५. संस्कृत के पठन-पाठन की परम्परा का क्षीण होना भी संस्कृत साहित्य के ह्रास का एक प्रमुख कारण बना। लोगों ने अनुभव किया कि सांसारिक समृद्धि और राजदरबार में सम्मान प्राप्त कराने में अब संस्कृत भाषा सहायक नहीं रह गई है। इसके विपरीत फारसी आदि भाषाओं का पठन-पाठन लोगों के लिए अधिक उपयोगी और अर्थंकर हो गया। जीविका-निर्वाह तथा राज्य और समाज में सम्मान प्राप्त कराने में फारसी का जितना महत्त्व था, उतना संस्कृत का नहीं। फलतः संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन एक वर्ग तक ही सीमित रह गया, जो या तो स्वकर्त्तव्यवश संस्कृत पढ़ते थे, अथवा जिनकी यह धारणा थी कि संस्कृत विद्या को पढ़ कर आमुष्मिक सिद्धि प्राप्त

की जा सकती है। धर्म, कर्मकाण्ड आदि के सीमित उद्देश्यों की सिद्धि के लिए जो संस्कृत पढ़ते थे अथवा ज्योतिष आयुर्वेद जैसे व्यवसायों में सफल होने हेतु जो संस्कृत का अध्ययन करते थे, उनका संस्कृत भाषा और साहित्य का ज्ञान कितना अपूर्ण और उथला होता होगा, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

६. शताब्दियों तक रचा जाने वाला संस्कृत साहित्य प्रतिपाद्य विषय और अभिव्यक्ति की शैली की दृष्टि से पर्याप्त रूढ़ हो चुका था। उसमें यद्यपि नवीन भावों को वहन करने की क्षमता थी, तथापि युगों तक एक से ही कथ्य का निरूपण करते-करते भाषा की अभिव्यञ्जना शैली दुर्बल हो चुकी थी। संस्कृत का शास्त्रीय साहित्य धर्म और तत्त्वज्ञान को तो अभिव्यक्ति प्रदान कर सका, परन्तु उसका लौकिक रसात्मक साहित्य मानव की शृङ्गारोन्मुखी प्रवृत्तियों को ही जागृत करने में समर्थ हुआ। यों तो संस्कृत साहित्य में मानव और प्रकृति की बहुमुखी प्रवृत्तियों का आलेखन हुआ है, परन्तु शताब्दियों तक एक ही ढर्रे पर चलते रहने के कारण उसमें जड़ता का आ जाना स्वाभाविक ही था। काव्य, नाटक, गद्य—साहित्य की सभी विधाओं में एकरसता तथा राजा, रानी, सपत्नी, विदूषक, दूती और अन्तःपुर के भीतरी क्रिया-कलापों का निरन्तर चित्रण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि साहित्य के भाव पक्ष की मौलिकता समाप्त हो चुकी थी तथा एक ही विषय की पुनरावृत्ति और पिष्टपेषण ने साहित्यिक गतिविधियों को अवरुद्ध बना दिया था।

७. संस्कृत में यथार्थवादी तत्त्व भी उपलब्ध होते हैं। समाज के उच्च और निम्न, अभिजात और अकुलीन, सुसंस्कृत और मूर्ख सभी वर्गों का चित्रण इस साहित्य में हुआ है। शिव और शिवेतर, संस्कारी और जुगुप्साजनक सभी प्रकार के चरित्र संस्कृत साहित्य में अंकित हुए हैं, तथापि यह कहा जा सकता है कि उत्तर मध्यकालीन संस्कृत साहित्य जनता के अभावों और अभियोगों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहा। यद्यपि विचारों में यह जड़ता और प्रगति में ऐसा गत्यवरोध उस काल में हिन्दी आदि अन्य भाषाओं में भी दिखलाई पड़ता है फिर भी संस्कृत के जनमानस से दूर हट जाने और जन भावनाओं को प्रतिबिम्बित करने में अशक्त हो जाने के कारण उसका साहित्यिक गतिरोध अधिक स्थायी बन गया। इसके विपरीत हिन्दी आदि भाषाओं ने शीघ्र ही जन-जन की वाणी को व्यक्त करना अपना लक्ष्य बना लिया, पुनः वे जनता की बोलचाल की भाषायें तो थी हीं, अतः लोक की युग सापेक्ष मांगों के अनुसार अपने आपको ढाल लेना इन लोक भाषाओं

के लिए कठिन नहीं था। संस्कृत की स्थिति इससे विपरीत ही रही, फलतः उसका गत्यवरोध भी अधिक स्थायी बन गया।

संस्कृत के प्रति पुनः अनुराग

संस्कृत भाषा और उसके साहित्य की गरिमा और महत्ता की ओर हमारा ध्यान उस समय गया जब भारत के तत्कालीन शासक जाति के विद्वानों ने उसका महत्त्व स्वीकार कर लिया। विलियम जोन्स, एच.एच.विलसन, मोनियर विलियम्स, फ्रैडरिक मैक्समूलर तथा ग्रिफिथ आदि पाश्चात्य विपश्चितों ने जब संस्कृत के अध्ययन और उसके साहित्य के मूल्याङ्कन का प्रयास तुलनात्मक भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों के निर्धारण के संदर्भ में किया तो भारतवासी मानो चौंक उठे। अब तक संस्कृत पिछड़े हुए पण्डित वर्ग और उनके युग-दृष्टिविहीन अन्तेवासियों के वाग्-विलास की भाषा समझी जाती थी, जिसके अध्ययन का भौतिक समृद्धि की प्राप्ति की दृष्टि से कोई उपयोग नहीं था तथा जो राज्य संरक्षण दिलाने में भी सहायक नहीं हो सकती थी। इसी संस्कृत के प्रति आदर एवं संभ्रम की दृष्टि निक्षेप कर उसे पुनः अङ्गीकार करना एक चमत्कार ही समझा जायेगा।

संस्कृत के प्रति आदर एवं अनुराग के भावों को उत्पन्न करने तथा उसे पुनः अध्ययन, अध्यापन और साहित्य प्रणयन का जीवन्त माध्यम बनाने के लिए जितनी प्रेरणा भारतवासियों को उन यूरोपीय विद्वानों से मिली[1] जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन संस्कृत सारस्वत सरोवर का अवगाहन करने के निमित्त अर्पित कर दिया था, उतनी ही प्रेरणा धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के उन आन्दोलनों से भी मिली जो भारत में नवयुग का संदेश प्रसारित कर रहे थे। आर्यसमाज इन आन्दोलनों में अन्यतम था।[2] आर्यसमाज की विचारधारा संस्कृत भाषा के साहित्य में अभिव्यक्त विचारों से सर्वथा अनुप्राणित और परिपोषित थी। संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रचार-प्रसार में आर्यसमाज ने अपना सक्रिय योगदान ही नहीं दिया, अपितु संस्कृत साहित्य की गद्य, पद्य, नाटक, चम्पू, कथा, आख्यायिका, आदि विविध विधाओं के अन्तर्गत अनेक सप्राण और महत्त्वपूर्ण कृतियों की रचना कर गीर्वाण-वाणी के वाङ्मय को समृद्ध बनाने में भी उसने अपने महान् दायित्व का निर्वाह किया है, यह आगे के अध्यायों में प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट हो जायगा।

---

१. "पश्चिम ने संस्कृत की खोज की, जो कि पुनर्जागरण के समय से यूरोपीय विचारधाराओं में सबसे सार्थक घटना कही जा सकती है।" वे० राघवन—'आज का भारतीय साहित्य' (साहित्य एकादमी १९५८ ई०)

२. "नये आन्दोलन में आर्यसमाज का संस्कृत के पुनरुत्थान से घनिष्ठ सम्बन्ध है।" वे० राघवन—'आज का भारतीय साहित्य' पृष्ठ ३०८।

अध्याय २

[उन्नीसवीं शताब्दी के पुनर्जागरण आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में आर्यसमाज तथा उसका संस्कृत से सम्बन्ध निरूपण]

शताब्दियों की राजनीतिक पराधीनता ने भारतीय-समाज को विकार-ग्रस्त बना दिया था। राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक उत्पीड़न तथा आत्मबोध के अभाव ने भारतवासियों में जिस हीन भावना को जागृत किया उसका सहज ही उन्मूलन होना कठिन था। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक पहुंचते-पहुंचते स्थिति और भी भयानक बन गई। मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने के पश्चात् उत्पन्न राजनीतिक अस्थिरता ने देश के नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों को विचलित कर दिया। अराजकता, असुरक्षा तथा अस्थायित्व के भाव भारतीय जनसमाज में पनपने लगे और ऐसा प्रतीत होता था कि यदि शीघ्र ही शासन की स्थिरता, सामाजिक सुरक्षा तथा वैयक्तिक और समष्टिगत अधिकारों की रक्षा का आश्वासन नहीं मिला तो देश का भविष्य अन्धकार पूर्ण हो जायेगा।

विदेशी शासन से उत्पन्न पराधीनता के भाव ने हिन्दू समाज को विकारग्रस्त ही नहीं बनाया, हिन्दुओं के धार्मिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक मानदण्डों को भी अपूरणीय क्षति पहुंचाई। सहस्राब्दियों पूर्व के वैदिक, औपनिषदिक तथा रामायण--महाभारत कालीन समाज में लोगों की इहलोक और परलोक के प्रति जो स्वस्थ दृष्टि थी, वह तो अतीत की वस्तु हो ही गई, मौर्य और गुप्त युगीन भौतिक समृद्धि तथा वैभव, कलात्मक अभिरुचि, साहित्य, संगीत, काव्य और स्थापत्य के क्षेत्र में महती उपलब्धियाँ तथा वृहत्तर भारत के समुद्र-पारीय देशों पर भारत की सांस्कृतिक विजय के तथ्य भी अब केवल इतिहास में लिखने योग्य ही रह गये। धर्म, समाज और सामान्य जनजीवन के क्षेत्र में पराधीनता की काली घटाओं ने जिन आपत्ति, विपत्ति और अभिशापों की उपल वृष्टि की उससे जनता के दुःख और कष्ट ही बढ़े। धर्म के नाम पर थोथा कर्मकाण्ड, नैतिकता के नाम पर मिथ्या एवं मूढ़ विश्वासों का प्रचलन तथा सुसंगत सामाजिक विधान के स्थान पर कठोर वर्जनायें और नियन्त्रण इस युग की कतिपय

विकृतियाँ हैं। लोगों का चिन्तन इतना विकारग्रस्त तथा दूषित हो गया था कि वैचारिक उदारता के स्थान पर कट्टर संकीर्णता तथा अनुदारता के भावों का ही प्रसार हुआ। फलतः समाज में बाल विवाह का प्रचलन, विधवा विवाह पर प्रतिबन्ध, बहु विवाह की स्वीकृति, स्त्रियों की शिक्षा पर रोक तथा उन्हें पर्दे के पीछे रखे जाने की प्रथा, जन्म के आधार पर स्पृश्यास्पृश्य की कल्पना तथा नारी वर्ग के प्रति असीम अत्याचारों का विधान स्वीकृत हुआ। इन सामाजिक कुरीतियों ने हिन्दू समाज की एकता को विशृङ्खल कर दिया, जिसका एक अवश्यम्भावी परिणाम हुआ सहस्रों जातियों और उपजातियों की संकीर्ण काराओं में बंध कर समाज का छिन्न-भिन्न हो जाना।

इसी समय भारतवासियों का पश्चिमी जातियों से सम्पर्क हुआ। यूरोपीय राष्ट्रों ने धीरे-धीरे भारत में अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया। पुर्तगाली फ्रांसीसी और अंग्रेजी उपनिवेशों की स्थापना इस देश में हुई। इन राष्ट्रों में इंगलैंड ही सर्वाधिक शक्तिशाली प्रमाणित हुआ और अंग्रेजों को ही भारत में साम्राज्य स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ। अंग्रेजी शिक्षा, शासन तथा सभ्यता से प्रभावित होने वाला भारत का सर्वप्रथम प्रान्त बंगाल था। अठारहवीं शताब्दी का यह धूमिल संध्या काल था। नवयुग के आगमन की वेला सन्निकट थी।

भारत में धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि

अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना के साथ-साथ पाश्चात्य सभ्यता की भी आँधी आई और उसने भारतीय जनमानस को बुरी तरह झकझोर दिया। भारत-वासी राजनीतिक दृष्टि से तो दास बने ही, उनकी नैतिक, सामाजिक और आर्थिक दशा भी शोचनीय हो गई। देश एक अभूतपूर्व सांस्कृतिक संकट से गुजर रहा था। पश्चिम के इस सम्पर्क का भारतवासियों पर द्विविध प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव को श्रेयस्कर, मङ्गलकारक तथा स्पृहणीय इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि इससे भारतीयों में स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुत्व के भाव जागृत हुए। इस समय तक यूरोप में राष्ट्रवाद का उदय हो चुका था। धार्मिक संकीर्णता से वहाँ के लोग प्रतिदिन मुक्त हो रहे थे। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति तथा अमेरिका के स्वातन्त्र्य युद्ध ने लोगों में प्रजातन्त्र के भाव उत्पन्न किये और व्यक्तिगत स्वाधीनता का उद्घोष हुआ। उधर इंगलैंड तथा यूरोप के अन्य देशों में जो औद्योगिक क्रान्ति हुई उसने समाज के ढांचे में प्रभावी परिवर्तन किये। लोगों के सोचने की दृष्टि बदली तथा युग के दार्शनिक, विचारक और चिन्तक यह

अनुभव करने लगे कि मध्यकालीन संकीर्णता और कट्टरता का युग समाप्त हो कर विज्ञान और बुद्धिवाद पर आश्रित नवीन युग बोध का उदय हो रहा है।

यूरोपियन राष्ट्रों के सम्पर्क, विज्ञान के रेल, तार, डाक के साधन तथा अन्य नूतन आविष्कारों के प्रसार तथा पश्चिमी शिक्षा के प्रारम्भ ने हमारे अन्ध-विश्वासों और रूढ़िगत कदाचारों पर निर्मम प्रहार किया और हमें उदार तथा व्यापक दृष्टि अपनाने के लिए विवश कर दिया। भारतवासियों में राष्ट्रीय भावों का उदय हुआ, उन्होंने समष्टिगत दृष्टि से सोचने का प्रयत्न करना आरम्भ किया. फलतः वैयक्तिक वैचारिक स्वतन्त्रता के लिए लड़ने की प्रेरणा भी उन्हें मिली। इन सबका यह परिणाम निकला कि शताब्दियों से प्रचलित गतानुगतिकता, रूढ़िवाद एवं कुरीतियों के बन्धनों से मुक्त होने के लिए उनका मन व्याकुल हो उठा।

यह सब कुछ होने पर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि पश्चिम के इस सम्पर्क का हम पर सर्वथा अनुकूल प्रभाव ही नहीं पड़ा, हम में अन्धा-नुकरण, परमुखापेक्षिता तथा स्वाभिमान-शून्यता के भाव बढ़ने लगे। यद्यपि समाज में एक ऐसा वर्ग भी था जो अन्धविश्वास, परम्परा-पालन तथा वैचारिक जड़ता से चिपके रहने में ही अपना हित समझता था, तथापि पश्चिमी सम्पर्क से प्रभावित नवयुवक वर्ग ने प्रत्येक स्वदेशी वस्तु को हेय मानकर प्रत्येक बात में अपनी अनुकरणवृत्ति को मुख्यता देते हुए विदेशी वर्ग की ओर सतृष्ण नेत्रों से देखने में ही अपनी सार्थकता मान रखी थी।

पश्चिमी प्रणाली की शिक्षा तथा ईसाई धर्म प्रचारकों के प्रचार कार्य[1] ने हमारे राष्ट्रीय स्वाभिमान को और भी कुचल डाला। विजयी राष्ट्रों की यह सदा की प्रवृत्ति रही है कि पराजित राष्ट्र को न केवल राजनीतिक दृष्टि से ही पंगु बनाया जाय, अपितु भाषा, भाव और आचार-विचार का दासत्व भी उन पर थोप दिया जाये, इसके लिए वे पराजित राष्ट्र पर अपनी शिक्षा प्रणाली थोपते हैं। इसका सुनियोजित परिणाम थोड़े समय के भीतर ही प्रकट होने लगता है। अंग्रेजों ने भी भारत में यही किया। उन्होंने भारत को राज-नीतिक दृष्टि से तो दास बनाया ही, उनकी यह चेष्टा रही कि शिक्षा, सभ्यता,

---

१. भारत में ईसाई धर्म प्रचार कार्य पर पठनीय सामग्री—

1. James Hough: The History of Christianity in India.
2. J. A. Richter: A History of Missions in India.
3. James R. Campbell: Missions in Hindustan: 1853.
4. M. A. Sherring: A History of Protestant Missions in India.
5. Gungaprasad Upadhyaya: Christianity in India.

धर्म और विचारों की दृष्टि से भी भारतवासी अपने शासकों का मुंह जोहने वाले बन जायं। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने अंग्रेजी ढंग के स्कूल वा कालेज स्थापित किये तथा उनमें पश्चिमी ढंग की शिक्षा प्रणाली का प्रारम्भ कर भारतवासियों को हीन-सत्त्व, स्वाभिमान-शून्य तथा पाश्चात्य जीवन प्रणाली का अनुगामी बनाया। लार्ड मैकाले द्वारा निर्धारित इस शिक्षा योजना ने भारतीयों के स्वात्मबोध को सर्वथा नष्ट कर दिया। जिस शिक्षा का उद्देश्य ही एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करना था जो रंग और आकृति में चाहे भारतीय हो परन्तु आचार-विचार, बुद्धि और मन से अंग्रेज होने का दम भरे, उससे अधिक आशा रखना ही व्यर्थ था। मैकाले के उस प्रसिद्ध पत्र की वह उद्धृत पंक्तियों[1] का उपर्युक्त भाव यह स्पष्ट सूचित करता है कि इस शिक्षानीति के क्रियान्वयन में उसका मूल उद्देश्य क्या था ?

लार्ड मैकाले को अपनी इस शिक्षा विषयक योजना के सफल होने का पूर्ण विश्वास था। तभी तो अपने पिता को १८३६ ई० में लिखे गये अपने एक पत्र में उन्होंने यह विश्वास व्यक्त किया था कि जो भी हिन्दू अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण कर लेता है वह अपने धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा और विश्वास खो बैठता है। कुछ केवल दिखावे के रूप में उसे मानते हैं और अनेक शुद्ध ईश्वरवादी बन जाते हैं, कतिपय अन्य ईसाई हो जाते हैं। यह मेरा सुनिश्चित विश्वास है कि यदि शिक्षा की हमारी यह योजना पूरी तरह काम में लाई गई तो अब से तीस वर्ष पश्चात् बंगाल के कुलीन घरानों में कोई मूर्तिपूजक (हिन्दू) नहीं रहेगा।[2]

इस प्रकार सरकारी शिक्षण संस्थाओं में जहाँ अंग्रेजी शिक्षा के कीटाणु भारतवासियों के जात्यभिमान और अस्मिता को नष्ट कर रहे थे वहाँ विदेशी शासकों की सहानुभूति पाकर ईसाई धर्म प्रचारक भी धर्म प्रचार की ओट में उन्हें अधिकाधिक पश्चिमाभिमुखी बनाने का प्रयास कर रहे थे। ये ईसाई प्रचारक यत्र-तत्र अपनी राष्ट्रघाती प्रवृत्तियों का सूत्र संचालन करते हुये जन-मानस को हीन भावग्रस्त एवं दुर्बल बना रहे थे।

---

1. English education would train up a class of persons, Indian in blood and colour but English intastes, in opinions, in morals and intellect.

2. No Hindoo who has received an English education, ever remains sincerely attached to his religion. Some continue to profess it as a matter of policy and some embrace Christianity, it is my firm belief that if our plans of education are followed up there will not be a single idolator among the respectable castes in Bengal thirty years hence.

ऐसी परिस्थिति में देश में धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के आन्दोलनों का उदय होना स्वाभाविक ही था। नवोदय के इन आन्दोलनों का उद्देश्य था भारतीय समाज में व्याप्त रूढ़िवादिता की व्याधि को समाप्त कर भारत की युवक शक्ति को पाश्चात्य सभ्यता के विनाशकारी प्रभाव से बचाते हुए भारतीय अस्मिता को सुरक्षित रखना। इन आन्दोलनों के द्वारा समाज में प्रचलित बाल, अनमेल और वृद्ध विवाह, विधवा विवाह निषेध, पर्दा प्रथा, समुद्र यात्रा अस्वीकार आदि रूढ़ियों और कदाचारों को उन्मूलित करने की चेष्टा की गई। समाज के क्षेत्र में ही नहीं, धर्म के क्षेत्र में भी मूल्यों का पुनर्विवेचन किया गया। उसे युग के अनुसार ढालने का प्रयास तो हुआ ही, साथ ही इस बात पर भी विचार किया गया कि क्या बाह्याचारों और स्थूल कर्मकाण्डों को ही धर्म की संज्ञा दी जा सकती है, अथवा धर्म के उदात्त तत्त्व और ही हैं जो सत्य, अहिंसा, क्षमा, करुणा, सर्वभूतहित जैसे महनीय गुणों में विद्यमान रहते हैं।

भारतीय समाज को रूढ़िमुक्त बनाने का एक उपाय यह भी था कि देशवासियों का ध्यान भारत के उस सुदूर अतीत की ओर खींचा जाये जो विकार रहित था, जिसमें सत्त्व की प्रधानता थी तथा जो अपनी वैचारिक शुद्धता और पवित्रता के कारण शताब्दियों तक देश के गौरव, पराक्रम तथा वर्चस्व की अभिवृद्धि का कारण बना। नवोदय-वादियों ने यही किया। लगभग सभी नवोत्थानवादी नेताओं ने अतीत की स्वर्णिम पृष्ठभूमि पर ही नवनिर्माण की बात कही है। भारत के नवजागरण के प्रथम ज्योतिर्धर राजा राममोहनराय ने उपनिषदों में व्याख्यात अध्यात्म तत्त्व को अपने मनन और चिन्तन का आधार बनाया। उनके परवर्ती ब्रह्मसमाजी नेता महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर के प्रेरणा स्रोत भी उपनिषद् ग्रन्थ ही थे। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द का तो बहु प्रचलित नारा ही **'वेदों की ओर लौटो'** [1] था। वेदों की सुदृढ़ आधारभूमि पर ही उन्होंने हिन्दू समाज को पुनर्गठित करने का प्रयास किया। थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापकों तथा रामकृष्ण मिशन के साधुओं को यद्यपि पश्चिम से भी बहुत कुछ प्रेरणा मिली, तथापि भारत के अतीत के प्रति भी उनका आकर्षण कुछ कम नहीं था।

पश्चिमी सभ्यता में उदारता के जो तत्त्व थे, उन्हें अपनाये जाने की आवश्यकता थी। नवाभ्युत्थानवादी महापुरुषों की यह निश्चित धारणा थी कि पुरातन आचार-विचार न तो सर्वांश में साधु ही हैं और न ग्राह्य ही। इसी

1. Back to the Vedas.

प्रकार जो कुछ नवीन है वह भी अनिवार्यतः अवद्य ही हो, यह भी आवश्यक नहीं। विदेशी सम्पर्क से जो कुछ सत्य, शिव और सुन्दर हमें प्राप्त होता है उसे स्वीकारने में हमें कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए। पश्चिम में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य, राष्ट्रवाद, मानवमात्र के प्रति समानता और बंधुत्व के भाव, दासप्रथा का उन्मूलन आदि जिन उदार विचारों का जन्म हुआ है वे निश्चित रूप से भारतवासियों में व्याप्त संकीर्णता, अनुदारता तथा रूढ़िवादिता के भावों का विनाश कर सकेंगे, यह उनकी सुनिश्चित धारणा थी।

पश्चिमी आदर्शों को ज्यों-का-त्यों अपना लेने में एक भय भी था वह यह कि चिन्तन, मनन और विचार की पश्चिमी पद्धतियों को स्वीकार कर हम कहीं सर्वथा परावलम्बी न बन जाएं। यह भय वास्तविक ही था और इसका निराकरण करना भी इन आन्दोलनों का एक प्रमुख ध्येय बन गया। अतः नवजागरण के इन पुरस्कर्ताओं ने जहां पश्चिम के स्पृहणीय आचार-विचार, मन्तव्य और सिद्धान्त एक सीमा तक स्वीकार कर लेने का इस देशवासियों से आग्रह किया वहां उन्होंने एक सामयिक चेतावनी भी दी कि युगधर्मी पाश्चात्य जीवन मीमांसा के मूलभूत सत्यों को स्वीकार करते हुये हमें अपने परम्परागत जीवन मूल्यों को भी विस्मृत नहीं करना है। परम्परा का यह दायित्व बोध कितना आवश्यक था, यह इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि पुनर्जागरण के सभी आन्दोलनकर्ताओं ने अतीत की भावभूमि पर ही पुनर्निमाण का कार्य आरम्भ किया और इसी प्रकार अतीत और वर्तमान तथा पाश्चात्य और पौरस्त्य का सुखद समन्वय करते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि यद्यपि अतीत का आश्रय लेकर हम अपने भविष्य के स्वप्नों को साकार बनायें, तथापि हमें पश्चिम में उदित होने वाले नवयुग की नव सभ्यता के उन कतिपय उदात्त तत्त्वों को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा जो हमें नूतन वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान करते हैं तथा हमारे जड़ताग्रस्त समाज के विकारों को दूर करने में सहायक हो सकते हैं।

यह निर्विवाद है कि पुनर्जागरण ने अपने आपको किसी न किसी रूप में भारत की पुरातन संस्कृति और विचारधारा से ही सम्बद्ध रखा। इसका एक अनिवार्य परिणाम यह भी हुआ कि जिस भाषा में उक्त पुरातन भारतीय चिन्ता अभिव्यक्त हुई थी उस भाषा से पुनर्जागरण के सूत्र-संचालकों का

अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित हो सका।[1] कहना नहीं होगा कि पुरातन भारतीय चिन्तन को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली भाषा संस्कृत ही थी। अतः संस्कृत भाषा से इन आन्दोलनों का सम्बद्ध हो जाना स्वाभाविक ही था।

अब हम संस्कृत भाषा और साहित्य के संदर्भ में पुनर्जागरण के इन आन्दोलनों पर विचार करें। ऐसा करते समय हमें इन आन्दोलनों की भाषा विषयक नीतियों का भी अध्ययन करना पड़ेगा। साथ ही यह भी देखना होगा कि इन आन्दोलनों का पश्चिमी देशों की भाषाओं तथा उनमें व्यक्त विचार-धाराओं के प्रति क्या दृष्टि रही है? यह तथ्य है कि अंग्रेजी आदि पश्चिमी भाषाओं तथा उनमें अभिव्यक्त यूरोप की सैमेटिक मतावलम्वी जनता की विचारधारा से भारत के जो आन्दोलन जितने अधिक प्रभावित थे, वे संस्कृत भाषा तथा उसमें विवेचित भारत की आर्य संस्कृति से उतने ही दूर रहे। जिन-जिन आन्दोलनों पर पश्चिमी भाषाओं और पश्चिमी सभ्यता का जितना ही रंग चढ़ा उनसे भारतीय संस्कृति और उसके मूल उत्स संस्कृत भाषा का उतना ही न्यून हित हुआ। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज के तुलनात्मक अध्ययन से इसे स्पष्ट किया जा सकता है। यद्यपि ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय का संस्कृत भाषा की ओर पर्याप्त झुकाव था तथा उन्होंने उपनिषद् प्रतिपादित वेदान्त से ही अपने एकेश्वरवादी दर्शन की प्रेरणा प्राप्त की थी, तथापि ईसाई ग्रन्थों के अध्ययन में रुचि लेने तथा ईसाई मत की अभिव्यक्ति की भाषाओं—हिब्रू, लैटिन, ग्रीक तथा अंग्रेजी के प्रगाढ़ एवं आसक्तिपूर्ण अध्ययन के पश्चात् उनके विचारों में कुछ ऐसा परिवर्तन आया जिसने ब्रह्मसमाज के रूप में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। कालान्तर में ब्रह्मसमाज में ऐसे तत्वों का प्रवेश हुआ जिनके कारण इस समाज का भारत के गौरवपूर्ण अतीत, उसकी महती शास्त्रसम्पत्ति तथा इस देश की परम्परा की वाहिका संस्कृत भाषा के प्रति उदासीनतापूर्ण दृष्टि बन गई और धीरे-धीरे ब्रह्मसमाज की स्वभाषा, स्वधर्म और स्वसंस्कृति के प्रति निष्ठा समाप्त हो गई।

इसके विपरीत आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द का पाश्चात्य विचार प्रणाली से यत्किञ्चित भी सम्पर्क नहीं था। जहां तक भाषा का

---

१. "इधर सारे देश में जो आत्मिक जागरण हुआ और उसने नवजीवन की जो चेतना निर्मित की, उसका बहुत सा श्रेय भारत के भूतकालीन वैभव के नवीन बोध को है। इस चैतन्य का मूल आशय संस्कृत की परम्परा के पुनः भान से सम्बद्ध है।" वे० राघवन—'आज का भारतीय साहित्य' पृ. २८९।

प्रश्न है वे संस्कृत, हिन्दी और गुजराती के अतिरिक्त और कोई भाषा ही नहीं जानते थे। उन्होंने अपने धर्मान्दोलन और शास्त्रचर्चा का प्रमुख माध्यम संस्कृत और हिन्दी को ही बनाया।[1] परिणामस्वरूप उनके स्थानापन्न आर्यसमाज को भी संस्कृत भाषा और उसके साहित्य के पोषण, पल्लवन और विशदीकरण का अवसर प्राप्त हुआ। वस्तुतः यह तथ्य हमें इस बात का अन्वेषण करने के लिए भी प्रवृत्त करता है कि हम इस बात को जानने का यत्न करें—आन्दोलन विशेष के जनक तथा उस आन्दोलन को अग्रसर करने वाले अन्य महापुरुषों की भाषा सम्बन्धी तथा उस भाषा में अभिव्यक्त चिंतन तथा चित्रित संस्कृति विषयक क्या मान्यतायें रही हैं, क्योंकि भाषा विषयक मान्यतायें भी आन्दोलन के स्वरूप को तो न्यूनाधिक रूप से प्रभवित करती ही हैं साथ ही उनसे आन्दोलनकर्ता तथा उसके द्वारा प्रवर्तित आन्दोलन की भाषा विषयक नीतियों का भी ज्ञान होता है। आर्यसमाज ने संस्कृत भाषा और उसके साहित्य को क्या योगदान दिया है इस पर विचार करने के प्रसंग में हमें आर्यसमाज के उन समानधर्मी आन्दोलन की संस्कृत भाषा विषयक नीतियों का भी अध्ययन करना होगा, क्योंकि इसी परिप्रेक्ष्य में हम आर्यसमाज की एतद् विषयक देन का वास्तविक मूल्यांकन कर सकेंगे। अस्तु, हम सर्व प्रथम ब्रह्मसमाज को लेते हैं।

ब्रह्म-समाज–

भारतीय पुनर्जागरण के प्रथम ज्योतिर्धर राजा राममोहन राय ने हिन्दू धर्म के प्रचलित बहुदेववादी रूप से खिन्न होकर उपनिषद् प्रतिपादित '**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**' की उपासना का प्रचार करने हेतु ब्रह्मसमाज की

---

१. आर्यसमाज द्वारा अपने विचारों के प्रचार हेतु संस्कृत तथा देशी भाषाओं के माध्यम को स्वीकार करने के तथ्य को स्वीकार करते हुए अमेरिकन पादरी डा० जे० टी० सदरलैंड डी० डी० लिखते हैं—

1. "Arya Samaj is a purely Indian movement which arose almost wholly apart from Christian influences or any influence of the Christian or Western world. Even the languages which it employs in its oral and printed propaganda have been and still are almost wholly the ancient Sanskrit and the modern languages of India. In this it differs videly from Indian Christianity and from the Brahma Samaj; both of which have much literay coninection with Europe and America and make much use of the English Language".

(लाला लाजपतराय की अंग्रेजी पुस्तक 'आर्यसमाज" की समालोचना के प्रसंग में)

नींव डाली। बंगाल के कुलीन ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न राममोहन राय ने बाल्यकाल में फारसी और अरबी भाषा का अध्ययन किया। इस अध्ययन के फलस्वरूप वे इस्लाम के एकेश्वरवाद तथा सूफियों के तसव्वुफ़ मत की ओर आकृष्ट हुए। युग की मांग के अनुसार यद्यपि राममोहन राय ने अरबी, फारसी पढ़ी थी, परन्तु परिवार की धार्मिक मान्यताओं के पालन हेतु वे संस्कृत अध्ययन में भी प्रवृत्त हुए। उन्हें संस्कृत अध्ययन की प्रेरणा देने वाली उनकी माता ही थीं जो एक शाक्त मतानुयायी ब्राह्मण परिवार की कन्या थीं। स्वयं राममोहन राय ने अपनी संस्कृत शिक्षा के लिए अपनी माता की प्रेरणा को स्वीकार किया है।[1] राममोहन राय का संस्कृत शिक्षण काशी में हुआ वहां रह कर, लगभग अढ़ाई वर्षों में उन्होंने उपनिषद्, वेदान्त, स्मृति, पुराण तथा तन्त्र आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। उपनिषद् और वेदान्त दर्शन के अध्ययन ने उनके हृदय में अङ्कुरित एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को और भी दृढ़ कर दिया।

बड़े होकर राममोहन राय ने अपने सिद्धान्तों के प्रचारार्थ ब्रह्मसमाज की स्थापना की।[2] तदनन्तर वे धर्म-संशोधन, समाजसुधार, शिक्षा-प्रचार आदि के कार्यों में लगे। सती प्रथा को कानून से बन्द कराना उनका चिरईप्सित स्वप्न था जो तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्डविलियम बैन्टिक के सहयोग से पूरा हुआ। सती प्रथा की अशास्त्रीयता को सिद्ध करने के लिए उन्हें पुराणपन्थी पण्डित समुदाय से शास्त्रार्थ समर में उतरना पड़ा। इसके लिए राममोहन राय को स्मृतिग्रन्थों तथा धर्मशास्त्र के निबन्ध ग्रन्थों का अनुशीलन करना आवश्यक था। इसी प्रकार बहुदेवतावाद के खण्डन तथा एकेश्वरवाद के प्रतिपादन में राम मोहन राय को शंकर शास्त्री, चैतन्यदेव गोस्वामी तथा कलकत्ता निवासी एक अन्य भट्टाचार्य महाशय से शास्त्रविचार करना पड़ा। इनमें से मद्रास निवासी शंकर शास्त्री ने अपना पूर्व पक्ष अंग्रेजी में रखा, अतः राम मोहन राय को भी उसका उत्तर अंग्रेजी में ही देना पड़ा, यद्यपि वे यह जानते थे कि धार्मिक विचार विमर्श में संस्कृत भाषा का माध्यम ही अपनाया जाना चाहिए। अपने इस विचार को उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया—"एक विद्वान ब्राह्मण से हिन्दू अध्यात्म-

---

1. "According to the usage of my maternal relations, I devoted myself to the Study of Sanskrit and the theological works written in it, which contains the body of the Hindoo literature, law and religion."—Autobiographical Sketch: English works of Raja Ram Mohon Roy P. 223. Panini office, Allahabad.

२. ब्रह्मसमाज की स्थापना २५ अगस्त १८२८ ई० को हुई।

वाद विषयक विचारों को एक विदेशी भाषा में पाकर मुझे खेद हुआ। भारत के सभी प्रान्तों के निवासी लोगों की यह एक अनिवार्य प्रवृत्ति है कि वे ऐसे विषयों पर वाद-विवाद संस्कृत में ही करते हैं। कारण यह है कि संस्कृत ही देश के समस्त विद्वानों की समान भाषा है जिसके माध्यम से वे अपने विचारों को पूर्ण शुद्धता तथा सुविधा के साथ व्यक्त कर सकते हैं, अपेक्षाकृत उस भाषा के जो विदेशी है।" [1]

इस प्रकार धार्मिक विवेचन के लिए राममोहन राय संस्कृत को ही शास्त्रार्थ का माध्यम स्वीकार करते थे, यह सिद्ध हो जाता है। परन्तु राम-मोहन राय के ही जीवन में एक ऐसा प्रसग उपस्थित हुआ जिससे यह सिद्ध हो गया कि उनकी दृष्टि में संस्कृत अध्ययन-अध्यापन की कोई विशेष आवश्यकता या उपयोगिता नहीं थी तथा वे अंग्रेजी शिक्षाप्रणाली को ही प्रोत्साहित करना चाहते थे। बंगाल सरकार का विचार उस समय कलकत्ता में एक संस्कृत कालेज की स्थापना करने का था। प्राचीन शिक्षा प्रणाली के पक्ष पोषक इस योजना से प्रसन्न थे, परन्तु राममोहन राय की दृष्टि में संस्कृत कालेज की स्थापना तथा सस्कृत शिक्षा का प्रचार एक अनावश्यक तथा प्रति-गामी कदम था। उन्होंने इस योजना के विरोध में एक पत्र[2] तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड एमहर्स्ट को लिखा। जिसमें उन्होंने सस्कृत भाषा और साहित्य के विषय में जो विचार व्यक्त किये उन्हें पढ़ कर खेद तथा आश्चर्य होता है। पत्र के प्रारम्भ में ही उन्होंने लिखा—"हमें यह ज्ञात हुआ है कि सरकार पण्डितों के नियन्त्रण में एक ऐसा संस्कृत विद्यालय स्थापित करना चाहती है जिसमें प्रचलित परिपाटी पर संस्कृत की शिक्षा दी जायेगी। इस विद्यालय से यही आशा की जा सकती है कि इसमें जो छात्र शिक्षा प्राप्त करेंगे उनके मस्तिष्क में व्याकरण के सूक्ष्म नियमों तथा दर्शन शास्त्र की

---

1. "I beg to be allowed to express the disappointmant I have felt in receiving from a bearned Brahmin controversial remarks on Hindoo Theology written in a foreign language, as it is invariable practice of the natives of all Provinces of Hindustan to hold their discussions on such subjects in Sanskrit, which is the learned language common to all of them, and in which they many naturally be expected to convey their ideas with perfect correctness and greater facility than in any foreign language."—A Defence of Hindoo Theism: English works of Raja Ram Mohan Roy, P. 89.

2. A Letter on English Education.

जटिल प्रक्रियाओं को ठूंस-ठूंस कर भर दिया जायेगा, जिनका कि उन छात्रों तथा समाज के लिए भी कोई अधिक उपयोग नहीं है।" [1]

संस्कृत भाषा के अध्ययन को क्लिष्ट बताते हुए उसी पत्र में आगे लिखा गया—"संस्कृत भाषा इतनी कठिन है कि उसे सीखने में लगभग सारा जीवन लगाना पड़ता है। ज्ञान प्राप्ति के मार्ग में यह शिक्षा कई युगों से बाधक सिद्ध हो रही है। इसे सीख कर जो लाभ होता है वह इसको सीखने में किये गए परिश्रम की तुलना में नगण्य है।" [2] इसी पत्र में आगे क्रमशः संस्कृत व्याकरण, वेदान्त, मीमांसा, न्याय आदि विद्याओं के शास्त्रीय अध्ययन की निरर्थकता तथा निस्सारता का प्रतिपादन करते हुए उपसंहार रूप में कहा गया है—'यह संस्कृत शिक्षाप्रणाली देश को अंधकार में गिरा देगी। क्या ब्रिटिश सरकार की यही नीति है?" [3]

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि यद्यपि राजा राममोहन राय धार्मिक शास्त्रार्थों में संस्कृत का उपयोग करने के पक्षपाती थे और धर्मज्ञान के लिए संस्कृत अध्ययन की आवश्यकता भी स्वीकार करते थे, तथापि वे शास्त्रीय प्रणाली से संस्कृत भाषा और साहित्य के शिक्षण एवं अध्ययन को प्रोत्साहित करने के विरुद्ध थे। राममोहन राय के इस पत्र में मैकाले की शिक्षापद्धति की विजय ही प्रतिध्वनित होती है।

१८३३ ई० में राममोहन राय के दिवंगत होने के पश्चात् ब्रह्मसमाज का नेतृत्व ऋषि कल्प देवेन्द्रनाथ ठाकुर के हाथों में आया। राममोहन ने यदि ब्रह्मसमाज का बीज वपन किया तो ठाकुर महाशय ने उसमें ऊष्मा भर कर उसे एक पुष्ट पादप का रूप प्रदान किया। देवेन्द्रनाथ ने ब्रह्मसमाज की

---

1. "We find the Government are establishing a Sanskrit School under Hindu Pandits to impart such knowledge as is already currect in India. This seminary can only be expected to load the minds of youth with grammatical niceties and metaphysical distinctions of little or no practical use to the possenors or to Society." Raja Ram Mohan Roy: His life, writoings and speeches. G. A. Nateson & Co. Madras P. 86.

2. "The Sanskrit language, so difficult that almost a life time is necessary for its acquistion, is well known to have been for ages a lamentable check to the diffusion of knowledge, and the learning concealed under this almost impervious veil, is far from sufficient to reward the labour of acquiring it." ibid. P. 86.

3. "The Sanskrit system of education would be the best calculated to keep this country in darkness, if such had been the policy of the British legislator." ibid. P. 89.

उपासना पद्धति को निश्चित स्वरूप प्रदान किया, समाज के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए तत्त्वबोधिनी पत्रिका [1] निकाली तथा ब्रह्ममत के प्रचारकों के लिए तत्त्वबोधिनी पाठशाला [2] स्थापित की। ब्रह्मसमाज के धर्म विषयक मत को सुनिश्चित करने के लिए देवेन्द्रनाथ ने उपनिषद्, महाभारत तथा कतिपय अन्य ग्रन्थों को लेकर एक पुस्तक संग्रहीत की, जिसे ब्रह्मधर्म [3] नाम दिया गया। इसी प्रकार अपने अनुयायियों के उपयोग के लिए धार्मिक कर्मकाण्डों का भी निर्धारण किया जिसे 'अनुष्ठानपद्धति' के नाम से उन्होंने स्वयं ही संकलित किया था। ब्रह्मसमाज के एकेश्वरवाद के सिद्धान्त में श्रद्धा, भक्ति, आस्था और विश्वास के तत्त्वों को समाविष्ट करना देवेन्द्रनाथ का ही कार्य था।

अब तक वेद की प्रामाणिकता को लेकर ब्रह्मसमाज में कोई सुनिश्चित सिद्धान्त स्थापित नहीं हो सका था। यद्यपि राममोहन राय ने यह स्पष्ट घोषणा की थी कि धार्मिक शास्त्रार्थ और वाद-विवाद की सत्यता मुख्यतः शास्त्रीय प्रमाणों पर ही निर्भर करती है। [4] परन्तु राजा महाशय की मृत्यु के पश्चात शास्त्र प्रमाण का क्या रूप हो और वेदों के प्रमाणत्व को किस सीमा तक स्वीकार किया जाये, इन विषयों को लेकर ब्रह्मनेताओं में मतभेद हो गया था। देवेन्द्रनाथ ने इस समस्या के समाधान हेतु अपने चार शिष्यों आनन्दचन्द्र, तारकनाथ, वनेश्वर और रामनाथ को चारों वेदों का अध्ययन करने के लिए काशी भेजा। ऐसा प्रतीत होता है कि इन शिष्यों ने वेदाध्ययन के अनन्तर वेदों के विषय में जो धारणा देवेन्द्रनाथ के समक्ष प्रस्तुत की, वह बहुत उत्साहप्रद नहीं थी, अतः ब्रह्मसमाज ने वेदों की प्रामाणिकता के सिद्धान्त से सदा के लिए मुक्ति पा ली।

उपरिनिर्दिष्ट तथ्यों के आधार पर देवेन्द्रनाथ ठाकुर के संस्कृत विषयक मन्तव्य पर विचार करने के अनन्तर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि उनके हृदय में पुरातन भारतीय धर्म और अध्यात्म के भण्डार उपनिषदादि ग्रन्थों

---

१. यह पत्रिका सर्वप्रथम १८४३ ई० में अक्षयकुमार दत्त के सम्पादन में प्रकाशित हुई

२. स्थापना काल १८४४ ई.

३. यह दो भागों में संकलित किया गया था।

4. "The validity of the theological controversy chiefly depends upon scriptural authority. The Mono the isticed system of the Vedas." English works of Raja Ram Mohan Roy. P. 113 Panini Office, Allahabad.

के प्रति निष्ठा का भाव था, तथापि शास्त्रप्रमाण की अपेक्षा अपनी आत्मा की आवाज को अधिक महत्त्व देने के कारण सामान्यतः संस्कृत ग्रन्थों के प्रति उनका उपेक्षा भाव ही रहा। संस्कृत भाषा के प्रति भी उनका कोई विशेष आग्रह नहीं था और न वे भारत की इस प्राचीनतम भाषा के प्रचार और प्रसार में कोई उल्लेखनीय योगदान ही कर सके।

ब्रह्मसमाज का आन्तरिक विग्रह और केशवचन्द्र सेन—देवेन्द्रनाथ के जीवनकाल में ही ब्रह्मसमाज का आचार्य पद 'ब्रह्मानन्द' पदवीधारी केशव-चन्द्र सेन को मिल गया। उनके संरक्षण में समाज में कुछ ऐसे क्रान्तिकारी तत्त्व पनपने लगे जिनके कारण संस्था का अब तक का स्वरूप ही आमूलचूल परिवर्तित हो जाने की आशंका बन गई। सामाजिक कुरीतियों के त्याग पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा, परम्पराओं के पाश क्षीण होने लगे, ईसाई विश्वास ब्रह्ममत में प्रवेश पाने लगे और शीघ्र ही यह विदित हो गया कि ब्रह्मसमाज एक ऐसे सार्वभौम धर्म के रूप में प्रकट होगा जिसमें वैदिक, बौद्ध, ईसाइयत और इस्लाम—सभी मतों और विश्वासों के सिद्धान्त सन्निविष्ट हो जायेंगे। केशवचन्द्र के इन तथाकथित प्रगतिशील कार्यों ने ब्रह्मसमाज में फूट और विग्रह के बीज बोये। फलस्वरूप आदि ब्रह्मसमाज[1] भारतवर्षीय ब्रह्म-समाज[2] नवविधानसमाज[3] तथा साधारण ब्रह्मसमाज[4] के नाम से उसकी पृथक्-पृथक् शाखायें बन गईं। केशवचन्द्र की शिक्षा पाश्चात्य प्रणाली पर हुई थी। उनके विचारों पर भी पाश्चात्य मनीषियों की छाप स्पष्टतया अंकित थी तथा उनके मत और विश्वास भी ईसाइयत से अधिकाधिक प्रेरणा और स्फूर्ति ग्रहण करते थे।

आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द से केशवचन्द्र सेन की भेंट १८७२ ई० में कलकत्ते में हुई। उस समय तक स्वामीजी संस्कृत को अपनी विचाराभि-व्यक्ति का साधन बनाये हुये थे। उनके व्याख्यान भी सरल तथा प्रसाद गुणयुक्त संस्कृत में होते थे। एक दिन जब उनके भाषण का बंगला अनुवाद गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज के स्थानापन्न आचार्य पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न पूर्वाग्रह-

१. देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र के बीच मतभेद हो जाने पर देवेन्द्रनाथ के अनुयायियों ने अपने आप को 'आदि ब्रह्मसमाज' के नाम पर संगठित किया।

२. यह केशवचन्द्र के अनुयायियों का संगठन था।

३. कूचबिहार विवाह काण्ड के पश्चात् केशव ने अपने समाज को नवविधान का नाम दिया। इसकी स्थापना १८८१ ई० में हुई।

४. केशवचन्द्र से मतभेद रखने वाले शेष व्यक्तियों का संगठन।

युक्त दृष्टि के कारण त्रुटिपूर्ण ढंग से किया तो स्वामी दयानन्द को लोगों ने यह प्रेरणा दी कि भविष्य में उन्हें अपने व्याख्यान लोक भाषा हिन्दी में ही देने चाहिये। इसी अवसर पर केशवचन्द्र ने भी स्वामीजी को संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी में ही धार्मिक वक्तृता देने का परामर्श दिया। यह भी उल्लेख मिलता है कि केशवचन्द्र ने स्वामी दयानन्द के अंग्रेजी न जानने पर खेद व्यक्त करते हुये कहा था कि यदि आप अंग्रेजी जानते होते तो मैं आपको इंगलैंड ले जाकर वैदिक धर्म का प्रचार करवाता। इस पर स्वामीजी का उत्तर भी सटीक था—"मुझे अंग्रेजी न जानने का उतना दुःख नहीं है जितना इस बात का कि आप जैसे ब्रह्ममत के नेता अपने धर्म की भाषा संस्कृत से अनभिज्ञ हैं और लोगों को उस भाषा में उपदेश देते हैं, जिसे वे समझ नहीं सकते।"[1]

वस्तुतः केशवचन्द्र का अंग्रेजी भाषा पर असाधारण अधिकार था, परन्तु वे संस्कृत से अनभिज्ञ थे। उनकी प्रवृत्ति भी आर्यशास्त्रों की अपेक्षा ईसाई धर्म ग्रन्थों की ओर अधिक थी। अतः हम निर्द्वन्द्व भाव से कह सकते हैं कि केशवचन्द्र से संस्कृत भाषा और उसकी साहित्य सम्पत्ति के प्रचार और रक्षण में कोई उल्लेखनीय सहायता नहीं मिली।

प्रार्थनासमाज—

ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों के अनुरूप ही महाराष्ट्र में प्रार्थनासमाज की स्थापना हुई। १८६४ ई० में केशवचन्द्र की बम्बई यात्रा ने महाराष्ट्रवासियों में नवीन प्रेरणा और जागृति के भाव उत्पन्न किये। बम्बई हाईकोर्ट के न्यायाधीश महादेव गोविन्द रानडे तथा डा० आत्माराम पाण्डुरंग के प्रयत्नों ने प्रार्थनासमाज के विचार को मूर्त रूप दिया। समाजसुधार की प्रवृत्तियों का संचालन ही इस संस्था का प्रमुख उद्देश्य था। कालान्तर में महामति रानडे ने अखिल भारतीय सामाजिक सम्मेलन (All India Social Conference) के मञ्च से समाजसुधार के कार्य को उत्तेजना और स्फूर्ति प्रदान की, फलतः प्रार्थनासमाज की प्रवृत्तियां किंचित् शिथिल हो गईं। संस्कृत भाषा के प्रचार व प्रसार की दृष्टि से महाराष्ट्र तक सीमित इस संस्था ने कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया। इतना ही उल्लेखनीय है कि सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् डा० रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर प्रार्थनासमाज के सदस्य थे। उनकी संस्कृत सेवा के पीछे प्रार्थनासमाज की प्रेरणा दृष्टिगोचर होती है।

---

१. स्वामी सत्यानन्द रचित श्रीमद्दयानन्द प्रकाश पृ० २३९।

ऊपर जिन ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज के सुधारवाद आन्दोलनों की चर्चा की गई है वे आर्यसमाज के पूर्ववर्ती हैं। ब्रह्मसमाज और प्रार्थना-समाज का स्थापनाकाल क्रमशः १८२८ और १८६७ ई० है जबकि आर्य-समाज की स्थापना १८७५ ई० में हुई। आर्यसमाज से परवर्ती नवजागरण के आन्दोलनों में थियोसोफिकल सोसाइटी तथा रामकृष्ण मिशन का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। भारतीय धर्म और अध्यात्म से आकृष्ट होकर कर्नल एच० एस० आल्काट तथा मैडम एच० पी० ब्लैवेटस्की ने ७ सितम्बर १८७५ के दिन अमेरिका के न्यूयार्क नगर में थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना की। इस सोसाइटी के अनुयायियों की धारणा है कि इस स्थूल संसार के अतिरिक्त एक सूक्ष्म संसार भी है जिसमें परलोकगत जीवन्मुक्त आत्माएं निवास करती हैं। माध्यम के द्वारा इन आत्माओं से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। थियोसोफिकल सोसाइटी सब मतों की तात्त्विक एकता में विश्वास रखती है। ईसाइयत की अपेक्षा इस संस्था के धार्मिक मन्तव्य आर्य सिद्धान्तों के ही अधिक अनुकूल हैं।

थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना के साथ-ही-साथ उसके संस्थापक द्वय का आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द से पत्रव्यवहार[1] हुआ, जिसके द्वारा यह निश्चय किया गया कि आर्यसमाज की शाखा के रूप में सोसाइटी को मान्यता प्रदान की जाय तथा दोनों के कार्य तथा प्रवृत्तियाँ एक सी हों। परन्तु शीघ्र ही दोनों संस्थाओं के मौलिक मतभेद प्रकट हो गये और स्वामी दयानन्द ने बम्बई में थियोसोफिकल सोसाइटी तथा आर्यसमाज के सम्बन्ध-विच्छेद की विशिष्ट विज्ञापन द्वारा सार्वजनिक घोषणा कर दी।[2]

वस्तुतः थियोसोफिकल सोसाइटी एक विश्वसंस्था है, जिसकी गतिविधियाँ संसार के सारे देशों में फैली हुई हैं। अन्ताराष्ट्रीय धर्म संगठन होने के कारण किसी देश की भाषा विशेष के प्रति इस संस्था का विशिष्ट अनुराग कभी नहीं रहा, तथापि भारत की प्राचीन योग आदि गुह्य विद्याओं के प्रति प्रबल आकर्षण होने तथा हिन्दू धर्म के सार्वभौम सिद्धान्तों को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करने के कारण थियोसोफी ने संस्कृत भाषा और साहित्य की प्रगति तथा उन्नति की एकान्त कामना की है।

थियोसोफिकल सोसाइटी में श्रीमती ऐनी बेसेन्ट का प्रवेश एक महत्त्व-

---

१. यह पत्रव्यवहार 'पाखण्डतिमिरनाशक' शीर्षक से पं० गोपालराव हरि द्वारा पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। यह पुस्तक अन्वेषणीय है।

२. देखो ऋषि दयानन्द का पत्र और विज्ञापन। पृष्ठ ३१९, द्वि० सं०।

पूर्ण घटना है। यद्यपि श्रीमती वेसेन्ट इंगलैण्ड में जन्मी, पलीं और वढ़ीं, तथापि उनका कार्यक्षेत्र भारत ही रहा। आचार-विचार और क्रिया-कलापों ने श्रीमती वेसेन्ट को हिन्दू वना दिया था। वे स्वयं यह कहा करती थीं कि अपने पूर्व जन्म में वे निश्चय ही एक निष्ठावान् हिन्दू रही होंगी। शुभ्र हिन्दू परिधान में सदा विभूषित गौरांगना श्रीमती वेसेन्ट को काशी के एक विद्वान् ने 'सर्वशुक्ला सरस्वती' का जो विरुद् प्रदान किया, वह यथार्थ ही था। संस्कृत विद्या की केन्द्रस्थली वाराणसी श्रीमती वेसेन्ट की कर्मभूमि रही, जहाँ रहकर उन्होंने रामायण और महाभारत के संक्षिप्त अंग्रेजी अनुवाद किये तथा डा० भगवान्-दास के सहलेखन में भगवद्गीता का The Lord's Song के नाम से अंग्रेजी में लोकप्रिय अनुवाद किया।

पुरातन हिन्दू आदर्शों से अनुप्राणित होकर संस्कृत शास्त्रों के अध्ययन को विशेष प्रगति देने के ध्येय से श्रीमती वेसेन्ट ने १८९८ ई० में सैन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की, जो आगे चलकर महामना मालवीयजी के प्रयत्नों से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय बना। श्रीमती वेसेन्ट के पश्चात् थियोसोफिकल सोसाइटी को प्राणवान् नेतृत्व नहीं मिल सका, फलतः उसकी प्रवृत्तियां सार्वजनिक रूप लेने की अपेक्षा शिक्षित और सुसंस्कृत—अधिकांशतः अंग्रेजी पठित लोगों तक ही सीमित रह गईं। भारत में इस संस्था के द्वारा अतीत के धार्मिक और नैतिक मूल्यों की पुनः स्थापना, विगत गौरव के प्रति श्रद्धा, हिन्दू रीति-नीति, धर्म और विश्वासों के प्रति आस्था भाव का तथा संस्कृत के शास्त्रों के प्रति अध्ययन की रुचि उत्पन्न हुई है। अन्तिम वात ही हमारे लिये विशेष महत्त्व की है, क्योंकि हम जानते हैं कि भारत के अडयार (मद्रास) स्थित थियोसोफिकल प्रकाशन गृह ने अनेक शास्त्र ग्रन्थों के मुद्रण तथा प्रकाशन का प्रशंसनीय कार्य किया है। साथ ही वहाँ के संस्कृत के दुर्लभ एवं अलभ्य हस्तलिखित ग्रन्थों का विशाल पुस्तकालय भी है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक डा० भगवान्दास भी इस संस्था से सम्बद्ध रहे हैं। उनकी संस्कृत सेवा सर्वविदित है। डा० भगवान्दास ने मानव धर्मसार शीर्षक धर्मशास्त्र विषयक एक ग्रन्थ सरल अनुष्टुप् छन्दों में लिखकर अपने संस्कृत-प्रेम का परिचय दिया है।

रामकृष्ण मिशन—

आर्यसमाज के परवर्ती धर्मान्दोलनों में रामकृष्ण मिशन तथा उसके संस्थापक स्वामी विवेकानन्द के कार्यों का उल्लेख किया जाना आवश्यक है। वस्तुतः परमहंस रामकृष्ण ने जिस आध्यात्मिक साधना को अनुभव में लाकर

पुनः अपने भक्तों में स्फूर्त किया वह तर्क एवं युक्तिवाद से सर्वथा पृथक्, आस्तिकता एवं अध्यात्म निष्ठा का एक ऐसा अत्युच्च भाव था, जिसे अनुभव तो किया जा सकता है किन्तु जिस पर वाद-विवाद नहीं किया जा सकता। परमहंस देव यद्यपि लौकिक दृष्टि से शिक्षित नहीं थे, परन्तु आध्यात्मिक अनुभूति की दृष्टि से उनकी आत्मचेतना अपने सर्वोच्च सोपान पर प्रतिष्ठित रहती थी। उनके सम्पर्क में आकर नास्तिक नरेन्द्रनाथ दत्त ने ईश्वरानुभूति का साक्षात्कार किया तथा यह अनुभव किया कि उनके गुरु धर्म के साकार विग्रह हैं। विवेकानन्द के रूप में प्रव्रज्या लेकर नरेन्द्र ने दिग्दिगन्त में हिन्दू धर्म और सभ्यता की विजय वैजयन्ती फहराई, इसकी कथा ही पृथक् है। अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित १८९३ के विश्वधर्म परिषद् में उन्होंने हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। यहां अपने बहुचर्चित भाषण में उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि अपनी गई गुजरी अवस्था में भी हिन्दू धर्म संसार के लोगों को बहुत कुछ दे सकता है। यह विडम्बना ही है कि धर्म और अध्यात्म के लीला-निकेतन भारत को सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ाने ईसाई पादरी जाते हैं जब कि भारत को आज आवश्यकता भौतिक समृद्धि की है, मत और विश्वास की नहीं।

रामकृष्ण और विवेकानन्द का विश्व मानवता के लिए जो संदेश है, उसे सहज ही विस्मृत नहीं किया जा सकता। रामकृष्ण मिशन का कार्य सुधार की अपेक्षा सेवा और पुनर्निर्माण का ही अधिक रहा। देश के प्रोज्ज्वल अतीत और उसके महत्त्वपूर्ण दाय पर वास्तविक गौरव और अभिमान करना विवेकानन्द की शिक्षा की एक अनिवार्य फलश्रुति है। अतः संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रति उनका अनुराग स्वाभाविक ही था। विवेकानन्द स्वयं उपनिषद्, वेदान्त तथा दर्शन शास्त्र के पारंगत विद्वान् थे। उनके द्वारा शास्त्राध्ययन और संस्कृत अध्ययन को उचित प्रोत्साहन मिला। रामकृष्ण मिशन ने भी अद्वैत वेदान्त के दार्शनिक साहित्य के प्रकाशन और अनुवाद आदि का स्तुत्य कार्य किया है।

उपर्युक्त पङ्क्तियों में हमने उन्नीसवीं शताब्दी में उत्पन्न भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के आन्दोलनों का संस्कृत भाषा के संदर्भ में विचार किया है। वस्तुतः ये आन्दोलन एक निश्चित ध्येय को लेकर उत्पन्न हुए थे। समस्याओं के प्रति उनकी विशिष्ट दृष्टि तथा समाधान के लिए उनके पास विशिष्ट कार्यक्रम थे। इन आन्दोलनों के द्वारा एक महत् अनुष्ठान की सिद्धि होनी थी। भारतीय जनमानस में चेतना और स्फूर्ति भर देना उनका

अभीष्ट था। इसी समय पश्चिमी राष्ट्रों से भारत का सम्पर्क एक अहेतुक वरदान के तुल्य सिद्ध हुआ। अपने मध्ययुगीन आचार-विचार तथा रूढ़ि प्रेम को छोड़कर भारतवासियों ने यह अनुभव किया कि वे एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक परम्परा के उत्तराधिकारी तो हैं ही, यदि वे नवीन ज्ञानविज्ञान तथा वैज्ञानिक विचारधारा को भी आत्मसात् कर लें तो जहां वे अपने में एक नवीन युगबोध को जागृत करने में सफल हो सकेंगे वहाँ उनके द्वारा व्यापक राष्ट्रहित और मानवहित की भी सिद्धि हो सकेगी। इसी दृष्टि को लेकर ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि नवोदय के पुरोधा आन्दोलनों ने अपनी विचारधाराओं में प्राचीनता और नवीनता के सामञ्जस्य पर जोर दिया तथा देश की अतीतकालीन गौरवपूर्ण उपलब्धियों का आख्यान करते हुए भी भौतिकवादी पश्चिमी देशों के नवीन विज्ञान और अनुभवों को स्वीकार कर लेने का आग्रह किया।

नवोदय के सूत्र-संचालकों का संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रति विशिष्ट रागात्मक सम्बन्ध रहा है। यह स्वाभाविक ही था कि नवजागरण के ये ज्योतिर्वाहक भारत की सांस्कृतिक परम्परा को वहन करने वाली संस्कृत भाषा तथा उसके साहित्य के प्रति अनुरक्ति के भाव प्रदर्शित करते। ब्रह्मसमाज, थियोसोफिकल सोसाइटी तथा रामकृष्ण मिशन के संस्थापकों की संस्कृत के प्रति जो दृष्टि रही, हम उसका आकलन कर चुके हैं। न्यूनाधिक रूप से इन सभी संस्थाओं ने संस्कृत के प्रचार और प्रसार में यथाशक्ति योगदान दिया। राममोहन राय स्वयं संस्कृतज्ञ होने के साथ-साथ धर्मालोचन और दार्शनिक वाद-विवाद में संस्कृत को माध्यम के रूप में प्रयुक्त करने के समर्थक थे, यद्यपि शिक्षा के क्षेत्र में वे भी अंग्रेजी के वर्चस्व को ही बढ़ा हुआ देखने के इच्छुक थे। राममोहन राय के अनन्तर देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन के नेतृत्वकाल में ब्रह्मसमाज का आन्तरिक विघटन ही हुआ, अतः इस संस्था के द्वारा संस्कृत के गौरव और महत्त्व की अभिवृद्धि का कोई उल्लेखनीय कार्य परवर्ती काल में नहीं हो सका।

यही स्थिति थियोसोफिकल सोसाइटी की भी रही। इस संस्था के संस्थापक पश्चिमी देशों के निवासी थे। उनका संस्कृत भाषा से परिचय नगण्य सा ही था, यद्यपि पौरस्त्य धर्म और तत्त्वज्ञान के प्रति श्रद्धा-नत होने के कारण वे संस्कृत के महत्त्व को स्वीकार करते रहे। कालान्तर में थियोसोफी का आन्दोलन शिष्ट और शिक्षित लोगों के बुद्धिविलास का क्रीडाकानन बन गया। फलतः इसके अनुयायी संस्कृत जैसी प्राचीन भाषा से प्रेरणा ग्रहण करने

की अपेक्षा यूरोपीय भाषाओं के माध्यम से ही अपने बौद्धिक चिन्तन को व्यक्त करने लगे। स्वामी विवेकानन्द का लोकजागरण का कार्य अद्वैत वेदान्त की भावभूमि पर प्रतिष्ठित था। उनके ओजस्वी उपदेशों ने देशवासियों की अस्मिता को जागृत किया। भारतीय मानस में व्याप्त हीन भाव को उन्मूलित कर स्वदेश, स्वधर्म और स्वसंस्कृति के प्रति गौरव का भाव प्रतिष्ठित करना विवेकानन्द का अभीप्सित लक्ष्य था। यह महत् कार्य संस्कृत भाषा की सहायता के अभाव में असम्भव था। रामकृष्ण मिशन के साधु वर्ग ने संस्कृत शास्त्रों के अध्ययन के द्वारा अपने कार्य की नींव को सुदृढ़ बनाया है। वेदान्त के प्रस्थान ग्रन्थों तथा योग, अध्यात्म और दर्शन विषयक अन्यान्य संस्कृत ग्रन्थों का मुद्रण एवं प्रकाशन भी रामकृष्ण मिशन का इस विषयक उल्लेखनीय कार्य है।

यह सब कुछ होने पर भी यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि आर्यसमाजेतर आन्दोलनों का संस्कृत भाषा से सम्बन्ध मुख्य न होकर गौण-सा ही रहा। इन आन्दोलनों के जन्मदाता कुछ अपवादों को छोड़कर अंग्रेजी शिक्षा के वातावरण में ही पैदा हुए, पले और बढ़े। फलतः वे संस्कृत को अपने व्यापक कार्यों का प्रेरणास्रोत नहीं बना सके। यद्यपि कुछ अंशों तक उनकी वैचारिक भाव भूमि का आधार भारत की प्राचीन भाषा और संस्कृति भी थी, परन्तु उससे भी अधिक विचारों का खाद्य उन्हें यूरोप और अमेरिका के सांस्कृतिक वातावरण से मिला जो अंग्रेजी के माध्यम से उन्हें सुलभ था। राममोहन राय और केशवचन्द्र ईसाई धर्म के मर्मज्ञ थे। विवेकानन्द पर अंग्रेजी साहित्यकारों और यूरोपीय दार्शनिकों[1] के विचारों की छाप थी। यही कारण है कि संस्कृत को भारत की सांस्कृतिक धरोहर की भाषा तथा आर्य धर्म के गौरव को व्यक्त करने वाले सशक्त माध्यम के रूप में स्वीकार कर लेने के पश्चात् भी वे उस भाषा के प्रचार-प्रसार तथा पुनरुद्धार की कोई व्यापक योजना नहीं बना सके।

आर्यसमाज की स्थिति इन आन्दोलनों से भिन्न रही। यद्यपि अपने समकालीन अन्य सुधारवादी आन्दोलनों की भांति आर्यसमाज भी अध्यात्म और भौतिकता, धर्म और विज्ञान, प्राचीन और नवीन, पौरस्त्य और पाश्चात्य आदर्शों के सुखद समन्वय का संदेशवाहक रहा, परन्तु वह अपने से पूर्ववर्ती

---

१. विवेकानन्द ने स्पेन्सर, मिल, हीगल और कान्ट का विशद अध्ययन अपने छात्र जीवन में किया था।

ब्रह्मसमाज की भांति न तो ईसाइयत के प्रति अत्यधिक आग्रह और आस्था ही दिखला सका और न थियोसोफी की भाँति उसने विभिन्न पन्थों और मतों की अतात्त्विक एवं वायवीय एकता पर ही जोर दिया। रामकृष्ण तथा विवेकानन्द की भांति धर्म के क्षेत्र में अत्यधिक सहिष्णुतावादी दृष्टि अपनाने की अपेक्षा आर्यसमाज ने यथार्थवादी दृष्टि ही स्वीकार की, जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रिय गौरव का वहन करने वाला उसका पुनरुत्थानवादी आन्दोलन उत्तर भारत के सामान्य शिक्षित जनसमाज में अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त कर सका।

आर्यसमाज का विचारपक्ष और उसकी चिन्तनधारा भी अन्य सहधर्मी आन्दोलनों की अपेक्षा अधिक शास्त्रीय और परम्परा पक्षपातीर ही फलतः आर्यसमाज ने अपनी विचारधारा के प्रचार के लिए शास्त्रप्रमाण का ही सहारा लिया। वेदों को सर्वोच्च रूप में प्रमाण मानने तथा अन्यान्य शास्त्रों के वेदानुकूल होने पर ही प्रामाणिक स्वीकार किये जाने की दृष्टि ने आर्यसमाज को पुरानी शब्दप्रमाणवादी विचारधारा को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। परिणाम यह हुआ कि आर्यसमाज के नेता और अनुयायियों के लिए संस्कृत के विपुल धार्मिक साहित्य का सूक्ष्म मनन और अध्ययन आवश्यक हो गया। इसमें आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द की शास्त्र के प्रति निष्ठापूर्ण दृष्टि भी काम कर रही थी। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे। स्वामी दयानन्द शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् थे तथा वैदिक शास्त्रों के सूक्ष्म-विश्लेषण तथा धर्म के व्यापक और तुलनात्मक अध्ययन ने संस्कृत भाषा और उसके महनीय साहित्य के प्रति उनकी दृष्टि को आदरास्पद बना दिया था। फलतः आर्यसमाज को भी संस्कृत के विषय में अपनी स्पष्ट नीति उद्घोषित करनी पड़ी। आर्यसमाज के उपनियमों (विधान) में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि **समाज के प्रत्येक सभासद के लिये संस्कृत और आर्य भाषा (हिन्दी) का ज्ञान वांछनीय है।**[1] आर्यसमाज के प्रवर्तक का असाधारण संस्कृत ज्ञान तथा शास्त्रों पर उनका तलस्पर्शी अधिकार, साथ ही आर्यसमाज के विधान में संस्कृत अध्ययन की वाँछनीयता की स्वीकृति समाज के परवर्ती अनुयायियों के लिए दो अदम्य प्रेरणास्रोत रहे। यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि यद्यपि आर्यसमाज के सामान्य अनुयायियों में संस्कृत भाषा पर उत्कृष्ट अधिकार रखने वाले विद्वानों की संख्या बहुत अधिक नहीं रही है, तथापि आर्यसमाज का एक सामान्यतः साधारण शिक्षित सदस्य

---

१. ३६ वां उपनियम।

भी संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रति अपना असीम अनुराग व्यक्त करता रहा है तथा अनुवाद के माध्यम से ही वह वेद, उपनिषद्, मनुस्मृति, महाभारत, रामायण, दर्शन आदि महत्त्वपूर्ण धर्मग्रन्थों के अध्ययन में रुचि लेता रहा है। इसका कारण भी यही है कि आर्यसमाज ने संस्कृत भाषा और उसमें विद्यमान धार्मिक साहित्य के प्रचार और प्रसार को अपनी नीति का एक अंग बना लिया है।

संस्कृत के प्रचार और शिक्षण के विषय में आर्यसमाज ने अपनी स्पष्ट नीति निर्धारित की। आर्यसमाज का शिक्षा विषयक कार्यक्रम संस्कृत के सामान्य ज्ञान से ही प्रारम्भ होता है। चाहे हम स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित पाठविधि को लें वा आर्यसमाज द्वारा स्थापित गुरुकुलों तथा अन्य विद्यालयों के पाठ्यक्रम पर विचार करें, संस्कृत भाषा की शिक्षा के विषय में उनके आदेश स्पष्ट हैं। अतः यह निरपवाद रूप से कहा जा सकता है कि आर्यसमाज के विद्यालयों ने संस्कृत अध्ययन को प्रशस्त करने का सराहनीय प्रयास किया। अगले विवेचन से आर्यसमाज की संस्कृत विषयक देन का स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा।

अध्याय ३

[आर्यसमाज के संस्थापक का विशिष्ट परिचय तथा आर्यसमाज की सार्वत्रिक सफलताओं में उसकी संस्कृत के प्रति दृष्टि]

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में जन्म लेकर जिन महापुरुषों ने भारतीय राष्ट्र, धर्म, समाज तथा संस्कृति की अपूर्व सेवा की, उनमें आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द का नाम अन्यतम है। दयानन्द का जन्म सौराष्ट्र (काठियावाड़-गुजरात) के अन्तर्गत मौरवी राज्य के टंकारा ग्राम में १८८१ वि० (१८२४ ई०) में हुआ। उनके पिता करसनजी त्रिवेदी सामवेदी सहस्र औदीच्य ब्राह्मण थे। उनके यहाँ जमींदारी और लेन-देन का काम होता था। उनका बाल्यकाल का नाम मूलजी अथवा मूलशंकर था। १८८८ वि० में बालक मूलशंकर का यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। तदनन्तर वे अपने पिता के सान्निध्य में रह कर यजुर्वेद संहिता कण्ठस्थ करने लगे। १८९४ में यजुर्वेद कण्ठस्थ कर लेने के पश्चात् उन्होंने अन्य वेदों का भी पाठ किया और संस्कृत व्याकरण के शब्दरूपावली आदि कुछ ग्रन्थों का भी अभ्यास कर लिया।

शिवरात्रि व्रतोत्सव और मूर्तिपूजा के प्रति अश्रद्धा—

मूलशंकर के पिता कट्टर शिवोपासक थे। आयु के तेरहवें वर्ष में जब मूलशंकर जी किशोरावस्था में थे, पिता की प्रेरणा से १८९४ वि० माघ कृष्ण चतुर्दशी[1] को उन्हें शिवरात्रि का व्रत करने और रात्रि जागरण करने का प्रसंग उपस्थित हुआ। माता की असहमति होने पर भी पिता के आग्रह वश

---

१. काठियावाड़ देश में चान्द्र मास अमावस्या पर समाप्त होते हैं, अतः उत्तर भारतीय मतानुसार जो कृष्ण पक्ष जिस मास के आरम्भ में आता है, वह काठियावाड़ आदि में उस के पूर्वमास का द्वितीय पक्ष होता है। तदनुसार उत्तर भारतीय फाल्गुन कृष्ण १४ का शिवरात्रि का व्रत काठियावाड़ के पंचाङ्ग के अनुसार माघ कृष्ण चतुर्दशी को पड़ता है।

मूलशंकर को शिवव्रत में दीक्षित होना पड़ा। रात्रि को जब मंदिर में सभी उपासक निद्रागत हो गये तब भी मूलशंकर आंखों पर जल के शीतल छींटे दे-देकर अपने को अतन्द्र रखते रहे, ताकि जागरण व्रत का व्यतिक्रम न हो। इसी समय एक विचित्र घटना घटी। एक चूहा शिवपिण्डी पर चढ़े हुए अक्षतों तथा अन्य् देवन्निर्माल्य को खाने लगा। इस अकल्पनीय दृश्य को देख कर प्रत्युत्पन्न मति बालक के मन पर आघात-सा लगा। उसने पिता को तुरन्त जगाया और पूछा—कैलासवासी, त्रिशूलधारी, अपरिमित शक्तियुक्त, असुरसंहारी महादेव के लिए अर्पित इस प्रसाद को यह अपदार्थ चूहा खा रहा है। क्या यह देवशक्ति की विडम्बना नहीं है? पिता पुत्र के इस प्रश्न का संतोषजनक समाधान नहीं कर सके। फलतः बालक उसी समय पिता की आज्ञा लेकर एक प्रहरी के साथ घर लौट आया और माता से कुछ मिष्टान्न लेकर उसने अपना व्रत भंग कर दिया। शिवरात्रि को घटित इस घटना ने बालक मूलशंकर के हृदय में मूर्तिपूजा की उपादेयता तथा औचित्य के विषय में एक सहज अविश्वास तथा अश्रद्धा का भाव उत्पन्न कर दिया।

इस घटना के पश्चात् मूलशंकर के परिवार में दो अन्य दुःखद घटनाएं घटित हुईं, जिनके कारण उनका मन वैराग्योन्मुख हो गया। जब वे १६वें वर्ष में थे, तब १८९६ वि० में उनकी सहोदरा भगिनी विषूचिका ग्रस्त होकर दिवंगत हो गईं। इस अप्रत्याशित मृत्यु ने मूलशंकर को स्तब्ध और दिङ्मूढ़-सा बना दिया। अब उनके समक्ष मृत्यु मानो साकार रूप धारण कर खड़ी हो गई और वे संसार की नश्वरता तथा क्षणभंगुरता का सतत् चिंतन करने लगे। इसी बीच १८९९ वि० में उनके एक पितृव्य का भी देहान्त हो गया, जो उनसे अत्यन्त स्नेह रखते थे। अब मूलशंकर का मन संसार के बंधनों से मुक्त होने के लिये छटपटाने लगा, परन्तु उनके पिता-माता अपने युवा पुत्र का विवाह कर उसे सांसारिक बंधनों में और भी दृढ़ता से बाँधने का विचार रखते थे।

गृहत्याग और संन्यासदीक्षा—

१९०३ वि० के ज्येष्ठ मास की किसी संध्या को मूलशंकर ने चुपचाप अपने गृह और परिवार की ममता को त्यागकर जंगल का रास्ता लिया। ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य का नाम धारणकर वे यत्र-तत्र विचरण करते रहे। एक बार सिद्धपुर के मेले में उनका पिता से पुनः साक्षात् हुआ, जो उन्हें घर लौटा लिवा जाने के लिए ढूंढ़ते हुए आ गए थे। ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य पिता

के समक्ष तो विनम्र भाव से उनकी आज्ञा का पालन करने तथा घर लौट जाने के लिए तैयार हो गये, परन्तु रात्रि को पुनः अवसर पाकर भाग खड़े हुए। इसके पश्चात् उनका अपने परिजनों से पुनः कभी साक्षात्कार नहीं हुआ। कालान्तर में यही ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य एक दक्षिणी संन्यासी स्वामी पूर्णानन्द से प्रव्रज्या लेकर दयानन्द सरस्वती के नाम से लोक में विख्यात हुए।

उत्तराखण्ड का भ्रमण--

सन्यस्त होने के पश्चात् स्वामी दयानन्द ने उत्तर भारत का विस्तृत भ्रमण किया। गुजरात के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते हुए वे आबू शिखर पर पहुँचे। विभिन्न योगियों से योग की शिक्षा लेते हुए तथा संस्कृत के विभिन्न शास्त्र ग्रन्थों का अभ्यास करते हुये वे उत्तराखण्ड के वन पर्वतों में पहुँच गये। यहाँ हिमालय के हिमधवल उत्तुंग शिखरों पर विचरण करते हुये स्वामी दयानन्द योगियों का अन्वेषण करते रहे। उन्हें यत्र-तत्र धर्मध्वजी, पाखण्डी एवं परोपजीवी साधुवेशधारियों के दर्शन तो हुए परन्तु परम तत्त्व का साक्षात्कार करने वाला अलौकिक दृष्टि-सम्पन्न आध्यात्मिक पुरुष कोई भी नहीं मिला। उत्तराखण्ड का भ्रमण समाप्त कर स्वामीजी गंगा के तटवर्ती प्रदेश का भ्रमण करते रहे। तदनन्तर अवधूतावस्था में वे देशाटन करते हुये नर्मदा नदी के स्रोत तक चले गये।

मथुरा आगमन और दण्डी विरजानन्द की पाठशाला में शास्त्राभ्यास–

अब उन्हें पता चला कि मथुरा में दण्डी विरजानन्द नामक एक अशेष प्रतिभा सम्पन्न संन्यासी निवास करते हैं, जो बहुश्रुत एवं बहुपठित हैं। विद्या-लाभ की दृष्टि से कार्तिक शुक्ला द्वितीया बुधवार, १९१७ वि० (१४ नवम्बर १८६०) के दिन स्वामी दयानन्द माथुरा आये और नियमित रूप से दण्डीजी की पाठशाला में अध्ययन करने लगे। लगभग अढ़ाई वर्षों के अध्ययन काल में उन्होंने अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निरुक्त तथा वेदान्तादि कतिपय दर्शन ग्रन्थ पढ़े। यहां इन्हें दण्डीजी से आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों का विवेक हुआ और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि साक्षात्कृतधर्मा, आप्तज्ञानयुक्त ऋषियों द्वारा रचित ग्रन्थों तथा सामान्य अस्मदादि पुरुषों द्वारा निर्मित ग्रन्थों में महद् अन्तर होता है। अध्ययन की समाप्ति के पश्चात् जब दयानन्द गुरु दक्षिणा के रूप

में विरजानन्द के समक्ष उनके प्रिय पदार्थ लौंगों का एक थाल भर कर भेंट के रूप में अर्पित करने के लिए उपस्थित हुये तो गुरु ने अपने इस प्रिय अन्तेवासी से एक विचित्र, किन्तु महत्त्वपूर्ण दक्षिणा माँगी। विरजानन्द ने कहा— इस समय देश में अज्ञान और अविद्याजन्य अंधकार फैला हुआ है, इसे दूर करने तथा शताब्दियों से विलुप्त वैदिक धर्म को पुनः स्थापित करने की आवश्यकता है। उन्होंने दयानन्द से वचन लिया कि वे भविष्य में अपने शेष जीवन को लोकहितार्थ अर्पित कर देंगे तथा संसार के अज्ञानान्धकार को दूर करने तथा आर्ष ज्ञान का प्रचार कर साम्प्रदायिक मतों के जाल से देशवासियों को मुक्त करेंगे। स्वामी दयानन्द ने गुरु की आज्ञा सहर्ष शिरोधार्य की। इसके पश्चात् वे वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का महामंत्र लेकर कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण हुये।

कर्मक्षेत्र में अवतरण—अब से स्वामी दयानन्द का क्रियाशील, धर्म-प्रचारक, क्रान्तिकारी समाज-संशोधक तथा युगान्तरकारी विचारक का जीवन प्रारम्भ होता है। उनके धर्म प्रचारक जीवन का आरम्भ हरिद्वार के १८६७ ई० के कुम्भ के मेले पर किये गये उनके सर्वस्व त्याग (सर्व मेध यज्ञ) से माना जाना चाहिये, जब कि कौपीन मात्र वस्त्र अपने शरीर पर रख कर उन्होंने पूर्ण अपरिग्रह वृत्ति को अपनाया। इसके पश्चात् वे देश के विभिन्न भागों में धर्म प्रचार करते, कुरीतियों, कुसंस्कारों तथा मिथ्या आचारों के विरुद्ध आवाज उठाते भ्रमण करते रहे। स्थान-स्थान पर साम्प्रदायिक पण्डितों, मुल्ला-मौलवियों और ईसाई पादरियों से उनके शास्त्रार्थ हुए। विभिन्न स्थानों पर वे भाषण, शंकासमाधान, विचार-विमर्श के द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। इसी बीच ग्रन्थ रचना तथा विस्तृत पत्र व्यवहार द्वारा भी वे अपने ध्येय की पूर्ति में संलग्न रहे। अपने समकालीन धर्माचार्यों यथा ब्रह्मसमाज के नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, नवीनचन्द्र राय तथा मुसलमानों के नेता सरसैयद अहमद खाँ से भी उनका देशहित विषयक विचार-विमर्श चलता ही रहता था।

आर्यसमाज-संस्थापन—

दयानन्द सरस्वती ने अपने भक्तों और मित्रों के आग्रह पर १० अप्रैल १८७५ को बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की। इसका प्रथम अधिवेशन

चैत्र शुक्ला पंचमी[1] १९३२ वि० को गिरगांव स्थित डा० मानिकचन्द्र की वाटिका में हुआ। समाज के सिद्धान्तों और विधान को २८ नियमों में निबद्ध किया गया। प्रारम्भ में ही न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे, गोपालराव हरिदेशमुख, सेवकलाल कृष्णदास आदि कई प्रतिष्ठित पुरुष आर्यसमाज के सभासद बने। बम्बई के अनन्तर लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना हुई। इसी बीच स्वामीजी समग्र पंजाब प्रान्त का भ्रमण कर वहां आर्यसमाज की स्थापना के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण करते रहे। लाहौर में उन्हें रायबहादुर मूलराज तथा लाला सांईदास जैसे कर्मठ सहयोगी मिले। यहां पर ही आर्यसमाज के नियमों और उद्देश्यों को उसके विधान से पृथक् किया गया और संगठन सम्बन्धी विधान की धाराओं को उपनियमों के रूप में पृथक् किया गया। इस कार्य में स्वामीजी को रा० बा० मूलराज से विशेष सहायता मिली। स्वामी दयानन्द के जीवनकाल में ही उनके सिद्धान्तों का सर्वत्र प्रचार हुआ। शतशः लोग उनके अनुयायी बने और सहस्रों ने उनका स्फूर्तिदायक संदेश सुना। बहुत से राजा और राजघराने के लोगों ने उनके उपदेशानुसार अपने जीवन में परिवर्तन किया। मौखिक प्रचार के साथ-साथ ग्रन्थ रचना भी स्वामीजी के प्रचार कार्य का महत्त्वपूर्ण अंग था। उन्होंने अपने स्वल्प कार्यकाल में वेदभाष्य (अपूर्ण), सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका तथा अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। लगभग २० वर्ष तक कार्यक्षेत्र में लगे रहकर स्वामी दयानन्द ने अजमेर नगर में ३० अक्टूबर १८८३ ई० को दीपावली के दिन निर्वाण प्राप्त किया। मृत्यु से पूर्व वे राजस्थान के उदयपुर, शाहपुरा, जोधपुर आदि देशी राज्यों के राजाओं को स्वधर्म, प्राचीन राजनीति तथा प्रजापालन का उपदेश देकर देश के नवनिर्माण की भूमिका बना रहे थे। स्वामी दयानन्द के रूप में देश ने एक महान कर्मवीर, वीतराग साधक तथा लोकमंगल के विधाता महापुरुष के दर्शन किये।

उपर्युक्त पङ्क्तियों में आर्यसमाज के प्रवर्त्तक के जीवन और कार्यों की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। स्वामी दयानन्द की जीवन झांकी

---

१. प्राचीन लिखित सामग्री के अनुसार आर्यसमाज की स्थापना तिथि यही है। द्रष्टव्य 'वेदवाणी' पत्रिका माघ सं० २०१० में पं० युधिष्ठिर मीमांसक का लेख। आर्यसमाज बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना तिथि चैत्र शुक्ला पंचमी के रूप में अंकित है। जो लोग इस तिथि को स्वीकार करते हैं वे भी चैत्र प्रतिपदा को स्थापना का निश्चय तथा चैत्र शु० ५ को अधिवेशन का आरम्भ मानते हैं। द्र० आर्यसमाज का इतिहास भाग १, पृष्ठ ३१८।

का सिंहावलोकन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके जीवनादर्शों के निर्माण में संस्कृत वाङ्मय का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। संस्कृत के परिप्रेक्ष्य में जब हम स्वामीजी के जीवनकाल की आलोचना करते हैं तो हमें विदित होता है कि एक कुलीन ब्राह्मण वंश में जन्म लेकर इन्होंने संस्कृत अध्ययन की परम्परा को अविच्छिन्न रखा। बाल्यकाल में ही इन्होंने संस्कृत व्याकरण के प्रारम्भिक सूत्रों को आत्मसात् कर लिया तथा यजुर्वेद को समग्र रूपेण तथा अन्य वेदों को अंशतः कण्ठस्थ किया। ज्ञानपिपासा तथा विद्योपार्जन की अदम्य इच्छा लेकर स्वामी दयानन्द काशी जाने के लिये उद्यत हुए, जो उस समय और आज भी संस्कृत सरस्वती का केन्द्र है। संन्यास धारण के पश्चात् भी संस्कृत शास्त्रों का पारायण, चिन्तन और अध्ययन उनकी दैनन्दिन जीवन-चर्या का एक अंग बन गया था।

संस्कृत व्याकरण के आर्ष (अष्टाध्यायी और महाभाष्य) ग्रन्थों का महत्त्व और वेदज्ञान की गरिमा उन पर तब प्रकट हुई जब वे वैयाकरणमूर्धन्य स्वामी विरजानन्द की पाठशाला के अन्तेवासी बनकर मथुरा आये। यहाँ उन्हें व्याकरण के सिद्धान्त कौमुदी आदि प्रक्रिया ग्रन्थों की त्रुटियों का पता चला और आर्ष ग्रन्थों में उनकी आस्था सुदृढ़ हुई। आर्ष-अनार्ष विवेक ने उनकी वैचारिक प्रक्रिया में ही परिवर्तन नहीं किया, अपितु वे इस निष्कर्ष पर भी पहुँच गये कि अद्यावधि संस्कृत व्याकरण का ज्ञान जिन कौमुद्यादि ग्रन्थों की सहायता से कराया जाता है वह नितान्त दूषित और भ्रान्त होता है। इस प्रणाली में जिस अनुपात में छात्र का समय और श्रम व्यय होता है उस अनुपात में उसकी ज्ञानवृद्धि नहीं होती। अब उनकी यह धारणा बनी कि अष्टाध्यायी प्रणाली से ही व्याकरण का अध्ययन होना चाहिये। आगे चलकर हम देखेंगे कि स्वामीजी ने संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तरप्रदेश) के जिन-जिन नगरों में अपनी संस्कृत पाठशालायें स्थापित कीं वहाँ-वहाँ संस्कृत व्याकरण के अध्ययन का यही आर्ष क्रम जारी किया गया।

अपने धर्म प्रचारकाल में स्वामी दयानन्द का संस्कृत भाषा के प्रचार, प्रसार तथा उसे उन्नत और व्यापक बनाने के कार्यों में सदा सहयोग रहा। वे प्रत्येक देशवासी के लिए संस्कृत ज्ञान को आवश्यक समझते थे, केवल इसलिए नहीं कि संस्कृत भारतवासियों के धर्म, दर्शन और तत्त्वज्ञान की व्याख्या और विवेचना करने वाली भाषा है, अपितु इसलिये भी कि वह भारतीय संस्कृति और परम्परा का आख्यान करने वाली एक नितान्त महत्त्व-पूर्ण भाषा है जिसका ज्ञान पुरातन और नवीन युगों को जोड़ने वाली एक

शृंखला के रूप में होना आवश्यक है। पारस्परिक वार्त्तालाप, शंका समाधान, शास्त्रार्थ आदि प्रसंगों में संस्कृत का प्रयोग कर स्वामी दयानन्द ने यह सिद्ध कर दिया कि आज के युग में भी संस्कृत का प्रयोग और उपयोग व्यवहार्य है। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि संस्कृत भाषा देश में भावनात्मक एकता को बढ़ाने में समर्थ है, क्योंकि देश के समस्त भागों में उसके प्रति आदर है। विभिन्न भाषा-भाषी दूरवर्ती प्रदेशों के पठित लोग संस्कृत के माध्यम से ही अपने विचारों के आदान-प्रदान में समर्थ होते हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत ही भारत के गौरवपूर्ण भूत और आशाप्रद भविष्य की ध्वजवाहिका है।

इसी विचार सरणि को अपनाकर स्वामी दयानन्द ने अपने सम्भाषण, व्याख्यान, ग्रन्थ रचना तथा विचार-प्रसार की अन्यान्य प्रणालियों में मुख्यतया संस्कृत भाषा के माध्यम को ही स्वीकार किया। इतना ही नहीं उन्होंने अपने अनुयायियों के लिए भी संस्कृत ज्ञान की अपरिहार्यता बताई। समय-समय पर धर्म प्रचार, समाज संशोधन तथा राष्ट्रोत्थान की सिद्धि के लिए स्वामीजी ने जो आन्दोलनात्मक कार्यक्रम रखे उनमें संस्कृत भाषा के शिक्षण और व्यापक प्रचार का भी कार्यक्रम था। अपने सम्पर्क में आने वाले सहस्रों व्यक्तियों को इन्होंने संस्कृत पढ़ने की प्रेरणा दी। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी दयानन्द का सम्पूर्ण जीवन और उनकी कार्यप्रणाली संस्कृत के प्रचार, प्रसार तथा उसे व्यापक बनाने की दृष्टि से अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई है।

आर्यसमाज के सिद्धान्त कार्य तथा उपलब्धियां और उनका संस्कृत से सम्बन्ध—

हम यह देख चुके हैं कि आर्यसमाज की स्थापना स्वामी दयानन्द के जीवन की एक अविस्मरणीय घटना है। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान और बुद्धिवाद के आधार पर पुरातन आर्य धर्म और भारतीय संस्कृति की मान्यताओं का पुनर्मूल्याङ्कन करने के लिए जिन सुधार आन्दोलनों का भारत में जन्म हुआ उनमें आर्यसमाज अन्यतम था। आर्यसमाज की स्थापना से पूर्व बंगाल में ब्रह्मसमाज तथा महाराष्ट्र में प्रार्थनासमाज के द्वारा नवयुग के आगमन का दिशा-निर्देश किया जा चुका था। देशवासियों को पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान के आलोक में अपने सिद्धान्तों और अपनी मान्यताओं पर पुनरालोचन करने के लिए कहा जा रहा था। स्वामी दयानन्द द्वारा आर्यसमाज की स्थापना भी इसी कार्य को करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास था। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब ब्रह्मसमाज आदि संस्थायें राष्ट्र के नवजागरण के कार्य में पहले

से ही लगी हुई थीं, तब एक नवीन संगठन की स्थापना क्या की आवश्यकता थी ? क्या स्वामी दयानन्द ब्रह्मसमाज में ही सम्मिलित होकर उसके कार्य को गति देते हुये अपने लक्ष्य को पूरा नहीं कर सकते थे ?

यहां हमें ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज के मौलिक अन्तर को समझना पड़ेगा। यद्यपि निराकार ब्रह्मोपासना, मूर्तिपूजा की निस्सारता, समाज-सुधार का क्रान्तिकारी दृष्टिकोण तथा ऐसे ही अन्य अनेक मन्तव्यों में पूर्ण समानता होने के कारण ऊपरी तौर पर ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज में पार्थक्य की रेखायें अत्यन्त क्षीण दिखलाई देती हैं परन्तु दोनों के मूल प्रेरणा स्रोतों में पर्याप्त अन्तर है। आर्यसमाज के संस्थापक जहाँ भारतीय सभ्यता के मूल स्रोत वेद तथा संस्कृत शास्त्र समुदाय से अपनी प्रेरणायें ग्रहण करते हैं वहाँ ब्रह्मसमाज में राम मोहन राय के पश्चात् वेदों और उपनिषदों का स्थान बाइ-बिल तथा अन्य ईसाई ग्रन्थों को दे दिया गया था। प्रेरणा स्रोतों की यह भिन्नता दोनों संस्थाओं के दृष्टि बिन्दुओं की पृथकता पर भी प्रकाश डालती है। आर्यसमाज को जहाँ केवल भारतवासियों का ही नहीं अपितु विश्व भर का वैदिकीकरण या आर्यकरण[1] अभीष्ट था, वहाँ ब्रह्मनेता स्वदेश वासियों को पश्चिमी आदर्शों और विदेशी मान्यताओं को अधिकाधिक स्वीकार करने की प्रेरणा देकर, शासकों और शासितों का भेद (गौण रूप से ही सही) मिटा देने के इच्छुक थे। आर्यसमाज यदि भारतीयों के पश्चिमीकरण का विरोधी था तो ब्रह्मसमाज के परवर्ती नेताओं की यह इच्छा ही बन गई थी कि भारतवासी अपने पुरातन आदर्शों को तिलांजली देकर सम्पूर्णतया आधुनिक (?) बन जायें।[2]

पुनरुत्थानवादी दृष्टि लेकर चलने वाला आर्यसमाज अपने समसामयिक आन्दोलनों की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील तथा यथार्थवादी सिद्ध हुआ। आर्य-समाज ने वेदों के आधार पर धर्म के सिद्धान्तों की नवीन व्याख्या की और बताया कि धर्म का अभिप्राय केवल रूढ़िगत विचारों का अनुसरण करते हुये कर्मकाण्डों के जटिल क्रियाजाल का पालन ही नहीं है, अपितु धर्म उन उदात्त गुणों की समष्टि का नाम है जो मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान में सहायक होते हैं। आर्यसमाज की यह भी मान्यता रही है कि भारत के मूल

---

१. कृण्वन्तो विश्वमार्यम्-ऋग्वेद ९।६३।५।

२. द्रष्टव्य-सत्यार्थप्रकाश समु० ११ में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा ब्रह्म-समाज की आलोचना।

निवासी आर्यों ने अपने ग्रन्थों में धर्म और नैतिकता के जिन सिद्धान्तों को सूचित किया था वे सर्वकाल और सर्व देशों में उपयोगी हैं। अतः आर्यसमाज वेद और उपनिषद् प्रतिपादित उस नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा का धर्म के नाम पर प्रसार करना चाहता है जिसमें विश्वबन्धुत्व तथा मानव प्रेम के सूत्र गुम्फित हैं।

आर्यसमाज ने अपने सिद्धान्तों को देश और काल सापेक्ष नहीं बनाया। उसके छठे नियम के अनुसार **संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य** बताया गया है तथा **मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आत्मिक उन्नति को सर्वोपरि लक्ष्य** ठहराया गया है। मानव के व्यापक हित को अपना ध्येय मानते हुये भी आर्यसमाज की शिक्षाओं का राष्ट्रहित से कोई विरोध नहीं है। अपितु पुनर्जागरण आन्दोलन के अध्येयता विद्वानों का यह निश्चित् मत है कि आर्यसमाज के द्वारा देश का जो व्यापक हितसाधन हुआ है उसे ही उसकी लोकप्रियता तथा सफलता का मूल कारण समझा जाना चाहिये। ब्रह्मसमाज आदि संस्थायें जहाँ एक स्पष्ट राष्ट्रीय नीति के अभाव में कालकवलित हो गईं वहाँ आर्यसमाज ने धर्माचरण तथा राष्ट्र सेवा को सदा अभिन्न समझा। देश के राष्ट्रीय जागरण तथा स्वाधीनता प्राप्ति में पुनीत कार्य में आर्यसमाज के अनुयायियों का जो उल्लेखनीय योगदान रहा है, वह सर्वविदित है।

देश और धर्म के अतिरिक्त समाज सुधार, शिक्षा प्रचार जैसे क्षेत्रों में भी आर्यसमाज ने जो कार्य किया है उसका अपना महत्त्व है। बुद्धिवाद की निति पर तर्क और विज्ञानमूलक धर्म की कल्पना, अपने अनुयायियों में प्रखर राष्ट्रभक्ति जागृत करते हुये उन्हें निर्माणकारी कार्यों में लगाना—छुआछूत का उन्मूलन, नारी शिक्षा और नारी जागरण, कुरीति निवारण, रूढ़ियों तथा कदाचारों का उन्मूलन तथा अन्य ऐसे ही सुधार मूलक कार्यक्रमों का संचालन आर्यसमाज की प्रमुख उपलब्धियां हैं। शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज का कार्य तो शासन द्वारा किये गये इस विषयक कार्य के पश्चात् ही आता है। स्कूलों, कालेजों, गुरुकुलों और विद्यालयों की स्थापना द्वारा शिक्षा का प्रचार तथा इसके साथ-साथ इन शिक्षण संस्थाओं के विद्यार्थियों को धर्म, राष्ट्र तथा संस्कृति की सेवा में लगने की प्रेरणा करना, इन संस्थाओं का मुख्य ध्येय रहा है। आर्यसमाज से सैद्धान्तिक मतभेद रखने वाले व्यक्तियों ने भी उसके शिक्षण कार्यों का यथार्थ मूल्यांकन किया है तथा देश के लिए उसकी उपयोगिता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।

ऊपर हमने आर्यसमाज की सफलताओं का आकलन करने की चेष्टा की है। देखना यह है कि क्या आर्यसमाज की इन उपलब्धियों को उसकी संस्कृत विषयक दृष्टि से जोड़ा जा सकता है ? संक्षेप में, आर्यसमाज का कार्य धर्म, राष्ट्र, समाज और शिक्षा के क्षेत्रों में अविव्याप्त रहा है और निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इन सभी क्षेत्रों में कार्य करते समय आर्यसमाज की दृष्टि संस्कृत तथा उसके साहित्य पर सतत केन्द्रित रही है। उदाहरण के लिए आर्यसमाज ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया वह वेद तथा वेदानुकूल शास्त्रों पर आधारित था। वेद, उपनिषद्, दर्शन तथा स्मृति प्रतिपादित इस धर्म तक पहुँचने के लिए संस्कृत ज्ञान की अपरिहार्यता स्वतः सिद्ध है। यही कारण है कि आर्यसमाज का एक साधारण सभासद भी धर्म के शास्त्रोक्त तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए संस्कृत भाषा के अभ्यास को प्राथमिक आवश्यकता के रूप में स्वीकार करता है। इसी प्रकार राष्ट्रार्चन विषयक जो सूत्र आर्यसमाज ने देशवासियों को दिये उनमें में भी रूसो या वाल्तेयर जैसे किसी विदेशी देशभक्त के आदर्शों से प्रेरणा न लेकर आर्यसमाज के स्वदेश भक्त नेताओं ने वेद के **'स्वराज्यसूक्त'**[1] तथा **'पृथ्वीसूक्त'**[2] से ही प्रेरणा ली। आर्यसमाज के राजनीतिक आदर्श भी मनु और शुक्र चाणक्य और व्यास की नीतियों का ही अनुसरण करते हैं जिनके मनुस्मृति, शुक्रनीति, अर्थशास्त्र और महाभारत जैसे ग्रन्थ संस्कृत वाङ्मय के अमर रत्न हैं। आर्यसमाज के सामाजिक संशोधन का कार्य भी स्मृति और धर्म शास्त्र के ग्रन्थों के ऊहापोह पर ही निर्भर रहा। जहां तक आर्यसमाज की शिक्षानीति का प्रश्न है वह तो मूलतः संस्कृत शिक्षण पद्धति के ही पुनरुत्थान या उपबृंहण का प्रयत्न है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आर्यसमाज के सम्पूर्ण सिद्धान्त, उसकी कार्य प्रवृत्तियाँ तथा उसकी सफलतायें संस्कृत तथा उसके पुरातन साहित्य से अनिवार्यतः सम्बद्ध रही हैं। आर्यसमाज के अनुयायियों ने संस्कृत से प्रेरणा ली। उन्होंने भारत की कोटि-कोटि जनता में विद्यमान शास्त्र ग्रन्थों के प्रति श्रद्धा के भाव को अक्षुण्ण ही नहीं रखा, उसे बढ़ाने की भी चेष्टा की। आर्यसमाज का प्रचार कार्य प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रत्येक रूप में संस्कृत पर अवलम्बित रहा। आर्यसमाज का ग्रन्थ लेखन तथा आर्यसमाजी उपदेशकों के व्याख्यान, भजन, उपदेश, कथा वार्ता, शास्त्रार्थ और प्रवचन लोक

१. ऋग्वेद का १।८० सूक्त।
२. अथर्ववेद का १२।१ सूक्त।

भाषा हिन्दी की उस संस्कृतनिष्ठ शैली में होते रहे जो क्रियापदों के अतिरिक्त शब्द भण्डार की दृष्टि से संस्कृतबहुला होती है। अतः यह एक सुसंगत तथ्य है कि यदि आर्यसमाज अपने सिद्धान्तों और प्रवृत्तियों के क्रियान्वयन और निष्पादन में संस्कृत भाषा की उचित सहायता नहीं लेता तो उसकी सफलता अनिश्चित ही रहती।

यहाँ संस्कृत भाषा तथा उसके साहित्य के प्रति दृष्टिकोण को लेकर आर्यसमाज की समसामयिक आन्दोलनों से तुलना कर लेना अप्रासंगिक न होगा। इतिहास इस बात का साक्षी है कि ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज को अपने-अपने क्षेत्रों में जो सफलता मिली वह एकदेशीय तथा अस्थायी ही थी। बंगाल और महाराष्ट्र में सांस्कृतिक जागरण का कार्य निश्चय ही इन संस्थाओं के द्वारा हुआ, परन्तु वह उच्च एवं पठित वर्ग तक ही सीमित रहा। यह वर्ग अंग्रेजी भावधारा में दीक्षित होने के कारण जो कुछ नव्य था, उसका तो स्वागत करने के लिए सदा तत्पर रहता था, परन्तु प्राचीन के प्रति उसकी श्रद्धा विश्रृंखलित-सी थी। यही कारण है कि इन संस्थाओं को जनमानस का विश्वासभाजन बनने में न तो सफलता ही मिली और न ये आन्दोलन लोकव्यापी तथा जनप्रिय ही हो सके। थियोसोफिकल सोसाइटी तथा रामकृष्ण मिशन की स्थिति भी इनसे अधिक भिन्न नहीं रही। थियोसोफी का प्रचार तो अधिकांश में उस नवशिक्षित समाज में हुआ जिनके लिए धर्म और अध्यात्म आस्था और आचरण की वस्तु न होकर अनुकरण या फैशन के रूप में ही प्रयुक्त किये जाते हैं। अतः ऐसे लोगों के लिए संस्कृत भाषा में लिखित धार्मिक साहित्य की ओर आकर्षित होने की अपेक्षा मिल और स्पेन्सर, काण्ट और ह्यूम, हीगल और बर्गसां के दर्शन की ओर आकृष्ट होना ही अधिक स्वाभाविक था।

रामकृष्ण मिशन के संस्थापक स्वामी विवेकानन्द तथा उनके परवर्ती संन्यासी वर्ग ने संस्कृत भाषा तथा उसके समृद्ध वाङ्मय के प्रति भारतवासियों की श्रद्धा और आस्था को जागृत करने का निष्ठापूर्वक कार्य अवश्य किया, परन्तु मिशन का यह संन्यासी प्रचारक वर्ग भी सामान्य अशिक्षित और अर्द्धशिक्षित भारतीय जनता की ओर उन्मुख होने की अपेक्षा अंग्रेजी पठित शिक्षित वर्ग में ही लोकप्रियता प्राप्त करने का अधिक इच्छुक रहा। साथ ही एतद्देशीय लोगों की अपेक्षा वह यूरोप और अमेरिका के उस प्रवुद्ध जिज्ञासु वर्ग को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए भी अधिक यत्नशील रहा जो भौतिक दृष्टि से सम्पन्न होने के कारण अब अध्यात्म की ओर अग्रसर होना चाहता है, बल्कि यों

कहना अधिक उचित होगा कि जिनके लिए योग और वेदान्त, अध्यात्म और दर्शन आत्मा की अनिवार्य माँग न होकर बुद्धिविलास की वस्तु ही बनकर रह गये हैं।[1]

इस परिप्रेक्ष्य में जब हम आर्यसमाज की अपेक्षाकृत सफलता पर विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि समसामयिक आन्दोलनों की अपेक्षा उसकी उपलब्धियां अधिक रही हैं। देश की राष्ट्रिय भावधारा को अपनाने तथा स्वदेशवासियों के सुप्त, लुप्त, गौरव और आत्मबोध को जागृत करने के कारण ही आर्यसमाज इतना सफल हो सका, यह निश्चित है। आर्यसमाज ने यद्यपि पश्चिम के कतिपय वाँछनीय आदर्शों को अपनाया, परन्तु उन्हें अपने में इतना आत्मसात् कर लिया कि जिससे उनका परकीय रूप पूर्णतः छिप गया। इसी प्रकार प्रेरणा प्राप्त करने के लिए भी आर्यसमाज देश की विगत परम्पराओं की ओर ही उन्मुख रहा। ब्रह्मसमाज के प्रवर्त्तक तथा उनके अनुयायियों ने यहूदी और ईसाई शास्त्रों से प्रेरणा ली, यहां तक कि स्वामी विवेकानन्द ने भी पश्चिम के मनीषी विचारकों के ऋण को उन्मुक्त भाव से स्वीकार किया, परन्तु आर्यसमाज ने अपनी प्रेरणा के लिए वेद और उपनिषद् जैसे शास्त्रग्रन्थों, रामायण, महाभारत जैसे काव्य इतिहास तथा मनु और याज्ञवल्क्य जैसे नीति प्रणेताओं की ओर देखा। निश्चय ही आर्यसमाज की ये प्रेरणायें संस्कृत के उदात्त वाङ्मय से निस्सृत हुई थीं। आर्यसमाज की आस्थायें और प्रेरणायें भी यदि अन्य समसामयिक आन्दोलनों की भांति पश्चिमाभिमुखी रहतीं अथवा पूर्व और पश्चिम की ओर समान रूप से विभक्त रहतीं तो यह निश्चित है कि उसे इतनी सफलता कदापि नहीं मिलती। न केवल संस्कृत साहित्य से प्रेरणा ही लेने, अपितु अपनी शास्त्रीय तथा लौकिक रसपरक साहित्यिक कृतियों से संस्कृत साहित्य को अधिक समृद्ध बनाने की दृष्टि से भी आर्यसमाज का महत्त्व निर्विवाद है। ऐतिहासिक विश्लेषण तथा निष्पक्ष वैज्ञानिक मूल्यांकन का यह आग्रह है कि हम इस तथ्य को स्वीकार करें तथा आर्यसमाज की सापेक्षिक सफलता में उसकी संस्कृत भाषा तथा उसके वाङ्मय के प्रति आस्था, निष्ठा, विश्वास और सेवा को स्वीकार करें। अगले विवेचन में आर्यसमाज द्वारा रचित संस्कृत वाङ्मय का इसी दृष्टि से विचार किया जायेगा।

---
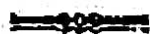
१. बीटल गायकों का भारतीय योग की ओर आकृष्ट होना इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

अध्याय ४

[स्वामी दयानन्द की संस्कृत सेवा]

आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व और कृतित्व पर जब हम विचार करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि उन्हें अपने ध्येय की पूर्ति के लिए संस्कृत भाषा और उसके महान् साहित्य से अपार सहायता और कार्य करने की अदम्य प्रेरणा प्राप्त हुई। प्रस्तुत अध्याय में हमें यही विचार करना है कि स्वामीजी के द्वारा प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप में संस्कृत भाषा और संस्कृत वाङ्मय की जो सेवा हुई है, वह कितनी महत्त्वपूर्ण है। स्वामी दयानन्द की संस्कृत सेवा का आकलन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(१) स्वामी दयानन्द का संस्कृत अध्ययन।

(२) स्वामी दयानन्द द्वारा संस्कृत ग्रन्थ रचना कार्य।

(३) स्वामी दयानन्द द्वारा संस्कृत पठन-पाठन की विधि का निर्माण।

(४) संस्कृत पाठशालाओं की स्थापना।

(५) संस्कृत भाषा के प्रचारार्थ उनका आन्दोलनात्मक कार्य।

दयानन्द का संस्कृत अध्ययन–

सर्वप्रथम हम उनके संस्कृत अध्ययन पर विचार करते हैं। स्वामी दयानन्द की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा प्राचीन परिपाटी पर हुई। यद्यपि उनके पिता सामवेदी ब्राह्मण थे, किन्तु शैवमतानुयायी होने के कारण यजुर्वेद के पठन-पाठन की प्रणाली उनके कुल में परम्परा से चली आई थी। शैशव पार करते-करते स्वामीजी ने यजुर्वेदान्तर्गत रुद्राध्याय पढ़ लिया। १४ वर्ष समाप्त होते-होते इन्हें सम्पूर्ण यजुर्वेद कण्ठाग्र हो गया तथा अन्य वेदों का भी किंचित् अभ्यास उन्होंने कर लिया। वेद पाठ और वेदाभ्यास के बाल्यकाल में पड़े हुये संस्कार ही आगे चलकर उनमें विशेष रूप से उद्‌बुद्ध हुये, जबकि वेदप्रचार को उन्होंने अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना लिया और वेद के अद्वितीय

प्रचारक के रूप में वे प्रशंसा के पात्र बने। व्याकरण के शब्दरूपावली, धातु-रूपावली आदि ग्रन्थों को भी स्वामीजी ने बाल्यकाल में ही पढ़ लिया था।

जब किशोर वय में उन्होंने पैर रखा उस समय मूलशंकर[1] का व्याकरण, ज्योतिष और वैद्यक के अध्ययनार्थ काशी जाने की इच्छा व्यक्त करना यह सूचित करता है कि वे आरम्भ से ही विद्याविलासी और शास्त्रजिज्ञासु थे। वैराग्य ग्रहण कर लेने के अनन्तर तो उनकी ज्ञानलिप्सा और भी तीव्र हुई अब उन्हें विद्याभ्यास के लिए समय भी पर्याप्त मिलने लगा। ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य के रूप में वैराग्य ग्रहण कर जब उन्होंने अपने आप को सर्वात्मना विद्याभ्यास और शास्त्रचिंतन में लगाया, तब भी भोजन की दृष्टि से स्वयंपाकी होने के कारण वे अपना पूरा समय इस ओर नहीं दे पाते थे। संन्यास ग्रहण में उनका एक प्रयोजन यह भी था कि वे समस्त विधिनिषेधों से मुक्त होकर एकमात्र अध्ययन में ही लग सकें, ताकि शीघ्र ही सर्वशास्त्र-निष्णात होकर स्वतन्त्र संन्यासी के रूप में धर्मप्रचार में प्रवृत्त हों।

अपने प्रमुख शास्त्रगुरु स्वामी विरजानन्द की सेवा में पहुँचने से पूर्व स्वामी दयानन्द ने अनेक गुरुओं[2] के सान्निध्य में रह कर शास्त्राभ्यास किया था। कृष्ण शास्त्री से उन्होंने व्याकरण के कुछ ग्रन्थ पढ़े तथा चरणोदकनाली निवासी किसी राजगुरु से भी कुछ दिनों तक वेदों का अभ्यास किया। उत्तराखण्ड भ्रमण के प्रसंग में उन्हें कई विलक्षण अनुभव हुये। टिहरी राज्य में निवास करते समय उन्हें तन्त्र ग्रन्थों के अध्ययन का अवसर मिला और इन ग्रन्थों पर विचार करने के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि तन्त्र साहित्य को तामस ग्रन्थों की कोटि में ही रखा जा सकता है। प्रचलित सदाचार और नैतिक नियमों के विरुद्ध पञ्चमकार सेवन आदि के जो वीभत्स प्रयोग तन्त्र ग्रन्थों में बताये गये हैं वे शास्त्रीय मर्यादा के विरुद्ध हैं, यह उनकी धारणा बन गई। उत्तराखण्ड प्रवास के पश्चात् स्वामीजी गंगातट पर भ्रमण करते रहे। इस समय वे संस्कृत भाषा ही बोलते थे। अब तक उन्होंने 'शिवसंध्या', 'हठप्रदीपिका', 'योगबीज' आदि हठयोग के ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया था, परन्तु एक नदी में प्रवाहित शव को बाहर निकालकर उसका परीक्षण करने के अनन्तर वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि हठयोग के ग्रन्थों में

---

१. स्वामी दयानन्द का संन्यास पूर्व का नाम।

२. स्वामीजी के विद्यागुरुओं में कृष्ण शास्त्री, परमानन्द, पूर्णानन्द सरस्वती तथा काशी के रामनिरंजन शास्त्री आदि उल्लेखनीय हैं।

पाई जाने वाली शरीर रचना का उल्लेख मिथ्या ही है, क्योंकि मनुष्य शरीर में उस प्रकार के चक्रादि उपलब्ध नहीं होते जिनका वर्णन इन ग्रन्थों में मिलता है।

स्वामी दयानन्द के संस्कृत भाषा और शास्त्राध्ययन की परिसमाप्ति स्वामी विरजानन्द के निकट हुई। प्रज्ञाचक्षु विरजानन्द ने प्रतिकूल परिस्थिति में भी संस्कृत व्याकरण शास्त्र पर जैसा असाधारण अधिकार प्राप्त कर लिया था, वह वस्तुतः प्रशंसनीय था। अपने युग में वे व्याकरण के सूर्य के नाम से विख्यात थे तथा अष्टाध्यायी और महाभाष्य के तलस्पर्शी विद्वान् माने जाते थे। जराजीर्ण शरीर लेकर भी वे मथुरा में अपनी पाठशाला का संचालन करते थे, जिसमें दूर-दूर के विद्यार्थी विद्याध्ययन हेतु आया करते थे।

कार्तिक शुक्ला द्वितीया संवत् १९१७ वि० को स्वामी दयानन्द दण्डी विरजानन्द की पाठशाला में प्रविष्ट हुये। यहाँ उनका अध्ययन लगभग अढ़ाई वर्षों तक चला*। उनके पाठ्यक्रम में अष्टाध्यायी, महाभाष्य, वेदान्त सूत्र तथा कतिपय अन्य ग्रन्थ थे। विरजानन्द की अध्यापन शैली में कुछ विशेषतायें थीं। प्रथम तो उनकी यह निश्चित मान्यता थी कि संस्कृत में जितनी शास्त्रसम्पत्ति है उसे आर्ष और अनार्ष इन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। आर्ष ग्रन्थ वे हैं जिन्हें वेद मन्त्रों के रहस्यद्रष्टा ऋषियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से लिखा है तथा जिनमें पूर्ण सत्य का प्रतिपादन है। इसके विपरीत जो सामान्य मनुष्य बुद्धि रचित ग्रन्थ हैं वे युक्ति विरुद्ध, विज्ञान विरुद्ध तथा सृष्टिक्रम विरुद्ध होने के कारण मिथ्या हैं। इन्हें कपोल कल्पनायुक्त, अतिशयोक्तिपूर्ण तथा शब्दाडम्बर युक्त होने के कारण त्याज्य ही मानना चाहिये। स्वामी विरजानन्द का यह भी मत था कि भागवतादि पुराण सर्वथा नवीन और मनुष्य कल्पित हैं, अतः वेदादिशास्त्रों की तुलना में उन्हें न तो मान्य ही ठहराया जा सकता है और न प्रामाणिक ही।

शास्त्रविषयक दण्डी विरजानन्द की इन मान्यताओं का स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों के निर्माण पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपने भावी कार्यक्रम में आर्षग्रन्थों के प्रचार को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। साथ ही उन्होंने यह भी दृढ़ निश्चय कर लिया कि धर्ममीमांसा में वेद को ही एकमात्र प्रामाणिक शास्त्र के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये। वेदानुकुल होने से ही अन्य ग्रन्थों का प्रामाण्य होता है। वेद के प्रतिकूल होने पर बड़े-से-बड़ा ग्रन्थ भी प्रामाण्य नहीं रखता।

स्वामी दयानन्द का संस्कृत शास्त्रचिंतन विरजानन्द की पाठशाला तक ही समाप्त नहीं होता। अपने शेष जीवन में भी वे शास्त्र मन्थन के कार्य में सतत संलग्न रहे। उनका संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन कितना गहन गम्भीर था, यह उनके इस कथन से भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि **मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेकर पूर्व मीमांसा पर्यन्त अनुमान के तीन हजार ग्रन्थों के लगभग (प्रमाण) मानता हूं।**[1] इस प्रकार उन्होंने सहस्रों ग्रन्थों का मन्थन करने के पश्चात् अपने धार्मिक मन्तव्यों को स्थिर किया था।

स्वामी दयानन्द का संस्कृत ग्रन्थ रचना कार्य–

अपने धर्मप्रचार कार्य की सिद्धि हेतु स्वामी दयानन्द ने वाणी और लेख दोनों ही साधन अपनाये। स्वकार्य की दीक्षा लेने के अनन्तर जब स्वामीजी संसार की कर्मस्थली में उतरे तो उन्हें कार्य करने के लिए २० वर्ष की स्वल्प अवधि ही मिली, इसमें भी उनका विशिष्ट कार्यकाल अन्तिम दस वर्ष ही रहे। इसी बीच उन्होंने देशाटन, व्याख्यान, शंका-समाधान, शास्त्रार्थ आदि के द्वारा तो जनमानस में वैचारिक क्रांन्ति उत्पन्न की ही, सहस्रों पृष्ठों का विपुलकाय साहित्य[2] लिखकर अपनी दृष्टि को पठित जनता तक पहुंचाने का प्रयास भी किया। स्वामी दयानन्द द्वारा निर्मित साहित्य सुविशाल तथा महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी दोनों भाषाओं को अपनी विचाराभिव्यक्ति का माध्यम् बनाया। अधिकाधिक लोगों तक अपने विचारों को पहुंचाने की दृष्टि से जो ग्रन्थ उन्होंने मूलतः संस्कृत में लिखे उनका हिन्दी में अनुवाद करना भी उन्होंने आवश्यक समझा।

स्वामीजी का संस्कृत भाषा पर असाधारण अधिकार था। उनकी मातृभाषा यद्यपि गुजराती थी, परन्तु संस्कृत का उत्कृष्ट अभ्यास होने के कारण यह भाषा उनकी भावाभिव्यक्ति का सहज साधन बन गई थी। हिन्दी में व्याख्यान देने तथा लिखने का उन्हें यत्नपूर्वक अभ्यास करना पड़ा था, यह बात उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण की भूमिका में स्वीकार की है, "जिस समय मैंने यह ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने

१. द्र. भ्रान्तिनिवारण, प्रारम्भिक भाग।

२. सम्पूर्ण ग्रन्थ लगभग २० सहस्र फुलस्केप आकार के पृष्ठों में समाप्त हुए हैं।

और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान नहीं था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी।"[1] परन्तु यह बात संस्कृत के विषय में नहीं कही जा सकती। स्वामीजी के लिए संस्कृत में विचाराभिव्यक्ति सहज सिद्ध थी।

स्वामी दयानन्द रचित संस्कृत वाङ्मय का निम्न क्रम से अध्ययन किया जा सकता है—

(१) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और वेदभाष्य।

(२) खण्डनात्मक ग्रन्थ।

(३) वेदाङ्गप्रकाश आदि व्याकरण के ग्रन्थ।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—

वेदभाष्य निर्माण से पूर्व वेदविषयक समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त करने तथा वेदार्थ विषयक अपनी दृष्टि को समझाने के लिए स्वामीजी ने इस ग्रन्थ की रचना की। इसे लिखते समय उनके समक्ष आचार्य सायण रचित वेदभाष्यभूमिका उपस्थित थी। यह ग्रन्थ मूल रूप में संस्कृत में ही लिखा गया था और इसका हिन्दी अनुवाद पण्डितों ने किया। भाषानुवाद कहीं-कहीं मूल से अधिक विस्तृत एवं कहीं-कहीं अत्यन्त संक्षिप्त भी है। भूमिका के प्रारम्भ में मंगल श्लोक के रूप में निम्न पद्य मिलता है—

ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतं
विद्या यस्य सनातनी निगमभृद्वैधर्म्यविध्वंसिनी।
वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा
तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते ॥१॥

भाष्य रचना विषयक अपने प्रयोजन को बताते हुए लेखक लिखता है—

मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः।
ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते ॥४॥

मनुष्यों के हित के लिए और सत्यार्थ के प्रकाशन हेतु, ईश्वर के अनुग्रह से मैं यह वेदभाष्य करता हूँ।

संस्कृतप्राकृताभ्यां यद्भाषाभ्यामन्वितं शुभम्।
मन्त्रार्थवर्णनं चात्र क्रियते कामधुङ्मया ॥५॥

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, भूमिका।

यह वेदभाष्य संस्कृत और प्राकृत (हिन्दी) दोनों भाषाओं में किया जायगा।

आर्य्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी।
तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा ॥६॥

इस प्रकार वेदाभाष्य की सनातन आर्ष प्रणाली को स्वामीजी ने अपना आदर्श घोषित किया।

अन्य वेददूषक टीकाओं और भाष्यों के दोषों का निराकरण भी इस भाष्य से होगा, यह विश्वास व्यक्त किया गया है—

येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः।
दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थविवर्णनाः ॥७॥

अन्त में ईश्वर की सहायता से इस वेदार्थ विषयक महत् कार्य की सिद्धि की कामना करते हुए कहा गया है—

सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः।
ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम् ॥८॥

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदोत्पत्ति, वेदानां नित्यत्वविचार, वेदविषयविचार, वेदसंज्ञाविचार, ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य विषय, वेदाधिकार निरूपण, भाष्यकरण शंकासमाधानादि लगभग चालीस विषयों का आलोचनात्मक तथा युक्तिपूर्ण विवेचन किया है। वेदविषयक मध्यकालीन भाष्यकारों तथा आधुनिक वेदविपश्चितों की धारणाओं का प्रसंगानुपात खण्डन भी किया गया है। इस ग्रन्थ में पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्तपक्ष स्थापन पूर्वक विषय विवेचन की प्राचीन शैली अपनाई गई है, यथा—**"अथ कोऽयं वेदो नाम? मन्त्रभागसंहितेत्याह। किं च मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति कात्यायनोक्तेर्ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्रियत इति। मैवं वाच्यम्। न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति। कुतः? पुराणेतिहाससंज्ञकत्वाद्वेदव्याख्यानादृषिभिरुक्तत्वादनीश्वरोक्तत्वात् कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वान्मनुष्यबुद्धिरचितत्वाच्चेति।"**[1]

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदसंज्ञाविचार।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पर रचित आलोचनात्मक साहित्य— वेदविषयक जिस क्रान्तिकारी दृष्टि का प्रतिपादन स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी इस 'भूमिका' में किया, उसका सनातनी पक्ष द्वारा विरोध किया जाना स्वाभाविक ही था। 'भूमिका' में उल्लिखित अनेक स्थापनाओं पर यदा-कदा शंकायें प्रकट की गईं। सर्वप्रथम प्रयाग निवासी किसी राममोहन शर्मा नामक व्यक्ति ने 'महामोह-विद्रावण'[1] पुस्तक लिखकर भूमिका के वेदसंज्ञाविचार प्रकरण का खण्डन किया। इस संस्कृत पुस्तक की शैली अत्यन्त शब्दाडम्बरपूर्ण एवं क्लिष्ट थी जिसमें यत्र-तत्र बाण भट्ट की अलंकृत शैली का अनुकरण करते हुये स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व तथा सिद्धान्तों की कटु समालोचना की गई थी। इस ग्रन्थ की प्रारम्भिक पंक्तियों से उसकी कृत्रिम शैली का आभास मिल जाता है—**"अथैकदा पवित्रतमायां सुलभसुभगगाङ्ग-प्रवाहायां बाराणस्यां विज्ञैरज्ञैः सर्वैरपि धर्मध्वजशिरोमणिः पुण्यजन-प्रवर इति समधिगतः पङ्कबहुलाल्पजलात्पल्वलात् सद्यः काश्यादि-पुण्यतीर्थभुवो दारयन्निव कश्चिद् भिक्षुवेषो देवनिन्दाघोरशब्दघुरघुरा-यितमुखः कलङ्कयन्निव स्ववेषं प्लावयन्निवाज्ञानाम्भसि जगदशेषं, संजनयन्निव सतां चेतसः क्लेशं, वञ्चयन्निव स्वदेशं वस्तुतः स्वात्मा-नमेव वञ्चयन् कलुषयंश्च समुपागमत्।"**[2]

स्वामीजी के शिष्य, इटावा निवासी पं० भीमसेन शर्मा ने अपने आर्य-सिद्धान्त मासिक पत्र के प्रारम्भिक अंकों[3] में इसका विद्वत्तापूर्ण उत्तर संस्कृत और हिन्दी में विस्तारपूर्वक दिया था।

संवत् १९७७ में आगरा निवासी पं० घनश्याम ने 'भूमिकाभास' या 'भूमिकाधिक्कार' नामक पुस्तक लिखकर ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के प्रति-पाद्य विषय तथा उसकी भाषा पर आक्षेप किये थे। जिस समय यह पुस्तक प्रकाशित हुई उस समय इसकी पर्याप्त चर्चा रही। इसके उत्तर में गुरुकुल वृन्दावन के प्रतिष्ठित स्नातक पं० द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री 'सिद्धान्त-शिरोमणि' ने संस्कृत में ही 'भूमिकाप्रकाश' ग्रन्थ लिख कर पं० घनश्याम द्वारा किये गये

---

१. यह पुस्तक वस्तुतः काशी के पण्डितों द्वारा लिखी गई थी, परन्तु इसे राममोहन शर्मा के छद्म नाम से प्रकाशित किया गया था। दयानन्द दिग्विज-यार्क (भाग ३) में इसका लेखक पं० मोहनलाल बताया गया है।

२. आर्यसिद्धान्त, आषाढ़ १९४४ वि० में उद्धृत।

३. आर्यसिद्धान्त के प्रथम वर्ष (१९४४-४५ वि०) तथा सप्तम वर्ष (१९५१-५२ वि०)

आक्षेपों का समाधान किया। भूमिकाप्रकाश की शैली व्यंग्यपूर्ण है। स्वामी दयानन्द के 'भूमिका' में उल्लिखित वेद विषयक विचारों की पुष्टि में लेखक ने कुछ भी उठा नहीं रखा है। पुस्तक की व्यंग्यपूर्ण शैली का परिचय इस उदाहरण से मिल सकता है—"क्व खलु मानसराजहंसः? क्व च पुनर्वराकः काकः। क्व विद्वत्कुलावतंसः परमहंसो महर्षिः क्व चोद्दण्ड-मण्डलललामो घनश्यामः? अथवा ऽद्यत्वे किमुनाम न सम्भाव्यम्।"[1]

इसी प्रकार बरेली निवासी महन्त ब्रह्मकुशलोदास ने संस्कृत में 'ऋगादि-भाष्यभूमिकेन्दु'[2] नामक पुस्तक १८६१ ई० में लिखी। इसमें भी ब्राह्मण ग्रन्थों के वेदत्व को प्रतिपादित करने की चेष्टा की गई है तथा स्वामी दयानन्द उद्घोषित 'संहिता भाग ही वेद है' इस सिद्धान्त का खण्डन किया गया है। इसका उत्तर भी संस्कृत में ही 'ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दूपराग' के नाम से पं देवीदत्त शास्त्री तथा पं० तुलसीराम स्वामी द्वारा दिया गया। वस्तुतः ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में ऐसे अनेक विषय निरूपित किये गये थे, जिनके विषय में विद्वानों में मतभेद की सम्भावना थी। वेदों के विषय में प्रचलित सनातनी दृष्टि तथा स्वामी दयानन्द की दृष्टि में पर्याप्त अन्तर था। यहाँ इस विषय का विस्तृत विवेचन करना प्रासंगिक न होने से इतना ही लिखना पर्याप्त है कि 'भूमिका' में व्याख्यात मन्तव्यों ने वेद विषयक आलोचना में एक नवीन क्रान्ति का सूत्रपात किया है। वेदोत्पत्ति, वेदसंज्ञा विचार, वेदाध्ययन का अधिकार आदि विवादास्पद विषयों पर दोनों पक्षों की ओर से पर्याप्त ऊहापोह किया गया। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां प्रश्नमालिका—आर्यसमाजस्थमहाशयानां प्रति' शीर्षक से एक प्रश्नों की सूची पं० शिवचन्द्र इन्द्रप्रस्थ निवासी द्वारा प्रस्तुत की गई। इसका उत्तर पं० तुलसीराम स्वामी ने आर्यसिद्धान्त के माध्यम से दिया। इसी प्रकार हाजीपुर (पंजाब) की सद्धर्मप्रचारिणी सभा के अध्यक्ष, महन्त रघुवीरदास ने 'भूमिका' के खण्डन में 'पाखण्डमतखण्डनकुठार' शीर्षक पुस्तक लिखी। इसका प्रत्युत्तर पं भीमसेन शर्मा द्वारा आर्यसिद्धान्त के माध्यम से दिया गया।

वस्तुतः ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आर्यसमाज के साहित्य के इतिहास में ही नहीं, समग्र संस्कृत साहित्य के इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

---

१. भूमिकाप्रकाश, पृष्ठ १४६ (प्रकाशक, राजेन्द्रनाथ वैद्यभूषण बम्बई १९८१ वि०)

२. यह ग्रन्थ १६ भागों में पूर्ण हुआ था। इसका 'वेदोत्पत्ति' शीर्षक प्रथम भाग १९४७ ई० में आर्यदर्पण यंत्रालय, शाहजहाँपुर से प्रकाशित हुआ।

प्रो० मैक्समूलर ने इस प्रसंग में ठीक ही लिखा है—"ऋग्वेदकाल से प्रारम्भ करके दयानन्द द्वारा रचित ऋग्वेद की भूमिका लिखे जाने के समय तक के साहित्य को हम दो भागों में बांट सकते हैं। यहाँ यह बता देना भी समुचित ही होगा कि दयानन्द द्वारा लिखी गई ऋग्वेद की भूमिका भी कम रुचिपूर्ण नहीं है।"[1]

सायण और दयानन्द रचित वेदभाष्यभूमिका की तुलना—यहाँ सायण रचित वेदभाष्य की भूमिका से स्वामी दयानन्द कृत वेदभाष्य-भूमिका की तुलना करना अनुपयुक्त न होगा। सायण ने वैदिक वाङ्मय पर जो बृहत् भाष्य लिखे हैं उनमें से निम्न पर उसकी भाष्यभूमिकायें उपलब्ध होती हैं—ऋग्वेद संहिता, कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता, शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व संहिता, सामवेद संहिता तथा अथर्ववेद संहिता।[2] सायण का वेद विवेचन मुख्यतः जैमिनि के पूर्व मीमांसा दर्शन पर आधृत है, यथा ऋग्वेद संहिता के भाष्य की भूमिका लिखते हुये उसने वेद विषयक निम्न प्रश्न उठाये हैं—

क्या वेद का अस्तित्व है ?

क्या वेद व्याख्यान के योग्य हैं ?

क्या वेद अपौरुषेय है ?

मन्त्र और ब्राह्मण का स्वरूप क्या है ?

वेद के अध्ययन का महत्त्व क्या है ?

वेद के अर्थज्ञान का महत्त्व क्या है ?

इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का सांगोपांग विवेचन करने के पश्चात् सायण वेद के अनुबन्ध चतुष्टय (विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकार), वेद के षडंगों के ज्ञान का प्रयोजन, वेदार्थ ज्ञान में पुराण इतिहास का उपयोग आदि महत्त्व-पूर्ण समस्याओं पर विचार करते हैं। उनके विचार में अधिक मौलिकता नहीं है। लगभग सारा विवेचन पूर्वमीमांसा के सूत्रों की अपेक्षा रखता है। वेद को

---

1. "We may divide the whole of Sanskrit literature beginning with the Rigveda and ending with Dayanand's introduction to his edition of Rigveda, his by on means uninteresting Rigveda Bhumika in two treat periods." 'India what can it teach us?'

शीर्षक भाषण माला के अन्तर्गत तृतीय व्याख्यान।

२. पं० बलदेव उपाध्याय सम्पादित वेदभाष्यभूमिकासंग्रह, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, काशी १९९१ वि० में प्रकाशित।

अनर्थक मानने वाले पूर्वपक्ष का समाधान करने में सायण ने जो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं वे लगभग सभी निरुक्त[1] तथा पूर्वमीमांसा में उपलब्ध इसी विषय के विवेचन पर आश्रित हैं। सायण की वेद विषयक दृष्टि यज्ञप्रक्रियानुसारी है। अतः उसे वेदविषयक मध्यकालीन विचारधारा का प्रतिनिधि माना जा सकता है।

स्वामी दयानन्द ने यद्यपि अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का प्रारूप सायण की 'भूमिका' के आधार पर ही बनाया, परन्तु इसमें उन्होंने अपनी वेदविषयक कतिपय मौलिक स्थापनाओं को भी समाविष्ट कर लिया। यथा वेदोत्पत्ति, वेदनित्यत्व, वेदसंज्ञा जैसे विषयों का विवेचन करने के साथ-साथ स्वामी दयानन्द वेद में वर्णित विषयों का विचार करते हुये वेद में ब्रह्मविद्या, सृष्टि-विद्या, पृथिव्यादि लोक भ्रमण विषय, धारणाकर्षण विषय, प्रकाश्य प्रकाशक विषय, गणित विद्या, नौविमानादि विद्या, तार विद्या, वैद्यकशास्त्र आदि विविध विषयों की सत्ता को स्वीकार करते हैं। वेद में कतिपय वैज्ञानिक आविष्कारों और भौतिक विद्याओं के अस्तित्व को स्वीकार करने के कारण ही उस प्रसिद्ध विवाद की सृष्टि हुई जिसके आधार पर स्वामी दयानन्द पर यह आक्षेप किया गया कि उन्होंने वेदमन्त्रों के तत्त्वार्थ का वास्तविक विचार किये बिना ही अपने समय में प्रचलित तार, नौका, विमानादि कतिपय वैज्ञानिक उपलब्धियों की सत्ता वेद से सिद्ध करने का प्रयास किया है।[2]

इसी प्रकार स्वामीजी ने अपनी वेदभाष्यभूमिका में विवाह, नियोग, राजप्रजाधर्म, वर्णाश्रम, पंचमहायज्ञ आदि सामाजिक तथा धार्मिक इतिकर्त्तव्य विषयक अपने विचारों को भी वेदमन्त्रों के आधार पर निरूपित किया तथा ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य, वैदिक प्रयोग, स्वर-व्यवस्था, व्याकरण-नियम, अलंकार-भेद आदि कतिपय अन्य भाष्योपयोगी विषयों को भी समाविष्ट किया है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की संस्कृत अत्यन्त सरल, प्रसादगुणोपेत तथा प्रसन्न गम्भीर शैली युक्त है। भूमिका का अंग्रेजी अनुवाद[3] हुआ है तथा

---

१. कौत्स मत खण्डन के प्रसंग में इस विषय का विवेचन निरुक्त (अध्याय १ पंचम पाद) में हुआ है।

२. वस्तुतः स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इन विषयों के वर्णन की प्रेरणा अपने भारतीय ग्रन्थों से ही प्राप्त की थी। भारतीय प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में इन विषयों का वर्णन यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। द्रष्टव्य रा० ला० कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित इस ग्रन्थ के अभिनव संस्करण में तत्तत् प्रकरणों की टिप्पणियाँ।

३. पं० घासीराम एम० ए० एल० एल० बी० तथा डा० परमानन्द के दो अनुवाद छप चुके हैं।

यह मराठी और गुजराती भाषा में भी अनूदित हो चुकी है। कुरुक्षेत्र विश्व-विद्यालय के डा० परमानन्द ने इस ग्रन्थ पर पी० एच० डी० उपाधि हेतु कार्य किया है तथा यह अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों की संस्कृत एम० ए० परीक्षा के वेदविषयक पाठ्यक्रम में निर्धारित है। 'भूमिका' की रचना भाद्रपद शुक्ला प्रतिपदा १९३३ वि० आदित्यवार[1] को प्रारम्भ हुई।

वेदभाष्य—

स्वामी दयानन्द के धर्मान्दोलन की नींव वेदप्रामाण्यवाद का सिद्धान्त है। उनकी समस्त मान्यताएं वेदमूलक हैं। इस कारण उन्होंने वेदों से ही उन्हें पुष्ट करने का यत्न किया। वैदिक सिद्धान्तों के प्रचारार्थ जब उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की, तो उसके नियमों का निर्धारण करते समय वेदोंके महत्त्व को महान् कण्ठ से स्वीकार किया। इसी कारण आर्यसमाज का तृतीय नियम **वेद को सब सत्य विद्याओं की पुस्तक** घोषित करता है तथा **वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म** बताता है। वेद का आधार लेकर चलने वाले स्वामी दयानन्द के लिए यह भी आवश्यक था कि वे वेद के वास्तविक स्वरूप और अर्थ को लोगों के समक्ष रखते, क्योंकि पर्याप्त समय से वेद का नाम तो लिया जाता रहा, परन्तु शताब्दियों से उसका अध्ययन और विचार की परम्परा लुप्त हो चुकी थी। जिन सायण, महीधर, उव्वट आदि भाष्यकारों ने समय-समय पर वेदों के भाष्य और टीकादि का प्रणयन किया, वे भी स्वामी दयानन्द की दृष्टि में असन्तोषजनक तथा अपर्याप्त थे, क्योंकि उनके द्वारा वेदों के वास्तविक अभिप्राय का उद्घाटन होना तो दूर, उलटे वेदों के विषय में भ्रमपूर्ण धारणायें ही अधिक फैलती थीं। अतः स्वामीजी ने यह आवश्यक समझा कि वेदों के यथार्थ अर्थ का प्रकाशन भाष्य-रचना द्वारा किया जाय। उनका यह वेदभाष्य संस्कृत में तैयार हुआ तथा उनके सहयोगी पण्डितों ने उसका हिन्दी भाषान्तर किया।

ऋग्वेदभाष्य—वेदभाष्य की रचना का उपक्रम स्वामी दयानन्द ने १९३३ वि० के आसपास किया। सर्वप्रथम उन्होंने ऋग्वेद के प्रथम सूक्त के भाष्य को संस्कृत और हिन्दी में तैयार कर प्रकाशित किया और उसे सम्मति जानने के लिए काशी, कलकत्ता तथा लाहौर की पण्डितमण्डली के पास भेजा। ऐसा करने में उनका लक्ष्य यह था कि यदि उनकी भाष्य रचना प्रणाली

---

१. कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले।
प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया॥ ग्रन्थारम्भ का मंगलश्लोक।

पर विद्वन्मण्डली कोई आक्षेप करती है तो पहले वे उसका ही समाधान करेंगे, पुनः विस्तृत भाष्य लेखन का कार्य प्रारम्भ होगा। वेदभाष्य के इस नमूने पर श्री आर० ग्रिफिथ, प्रिंसिपल गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस, श्री सी० एच० टानी, प्रिन्सिपल प्रेसीडेन्सी कालेज, कलकत्ता, पं० गुरुप्रसाद शास्त्री, हैड पण्डित ओरियंटल कालेज, लाहौर, पं० हृषीकेश भट्टाचार्य, द्वितीय पण्डित, ओरियंटल कालेज, लाहौर तथा पं० भगवानदास, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, लाहौर की प्रतिकूल सम्मतियां प्राप्त हुईं जिनका समाधान स्वामीजी ने पृथक् रूप से किया। गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, कलकत्ता के स्थानापन्न प्रिन्सिपल पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न द्वारा किये गये वेदभाष्य विषयक आक्षेपों का उत्तर तो उन्होंने **'भ्रान्तिनिवारण'** शीर्षक एक पृथक् पुस्तक लिखकर ही दिया।

तत्पश्चात् भाष्य लेखन आरम्भ हुआ। ऋग्वेद भाष्य का लेखन मार्गशीर्ष शुक्ला ६, सं० १९३४ वि० से आरम्भ होता है।[१] यह भाष्य मासिकपत्र के रूप में धारावाही छपता और ग्राहकों को भेजा जाता था। वेदभाष्य के नियमित ग्राहकों में प्रो० मैक्समूलर और प्रो० मोनियर विलियम्स जैसे प्रसिद्ध पाश्चात्य संस्कृतज्ञ तथा न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे, रायबहादुर गोपालराव हरिदेशमुख, सर टी० माधवराव, महाराजा होल्कर, केशवचन्द्र सेन, महेन्द्रलाल सरकार, राजा जयकृष्णदास आदि प्रसिद्ध भारतीय थे।[२] स्वामीजी अपने जीवनकाल में इसे पूरा नहीं कर पाये। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के ६२वें सूक्त के द्वितीय मन्त्र पर्यन्त ही यह भाष्य उपलब्ध होता है। इस प्रकार उन्होंने ऋग्वेद के ५९४९ मन्त्र का हीं भाष्यों किया।

भाष्य लिखने की स्वामीजी की अपनी शैली है। प्रथम वे मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द तथा स्वर का संकेत देकर मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख करते हैं। यहाँ यह लिख देना अप्रासंगिक न होगा कि वेद भाष्यकारों में स्वामी दयानन्द ने ही प्रथम बार वेदमन्त्रों के स्वरों का निर्देश किया है। पुनः मूलमन्त्र को लिखकर उसका पदपाठ लिखा गया है। तत्पश्चात् वे संस्कृत में पदार्थ, अन्वय और भावार्थ लिखते हैं। अपने अर्थ की पुष्टि में स्वामीजी शतपथ आदि ब्राह्मणग्रथों, निरुक्त, निघण्टु आदि का प्रमाण देते हैं। स्वामीजी

---

१. वेदव्यङ्काङ्के विधुयुतसरे मार्गशीर्षेऽङ्कभौमे।
ऋग्वेदस्याखिलगुणगुणिज्ञानदातुर्हि भाष्यम्॥

२. द्रष्टव्य, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा ऋग्भाष्य एवं यजुर्भाष्य के अंकों में छपी ग्राहकों की नामावली।

का वेदभाष्य मुख्यतया यास्कीय नैरुक्त प्रक्रिया का आधार लेकर चलता है जिसके अनुसार प्रत्येक वेदमन्त्र का आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन प्रकार का अर्थ किया जा सकता है। वे वैदिक शब्दों को यौगिक मानते हैं और निर्वचन तथा व्युत्पत्ति के अनुसार उनके एकाधिक अर्थ करते हैं। इस प्रकार ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में प्रयुक्त 'अग्नि' शब्द का अर्थ उन्होंने ईश्वर और भौतिक अग्नि दोनों ही किया है।

ऋग्वेदभाष्य में प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत खण्डन-मण्डन तथा शंका-समाधान की शैली का अनुकरण किया गया है, यथा—**"सायणाचार्यादिभि-र्निरुक्तादिप्रामाण्ययुक्तं भाष्यं विहितं कथं दोषवदिति ? अत्रोच्यते। निरुक्तादिवचनानि तु लिखितानि। परन्तु तानि तद्वचनाद्विरुध्यन्त एव। तद्यथा—अग्निः कस्मादग्रणीर्भवतीत्यादि। अग्रणीः सर्वोत्तमः। अग्रं सर्वोत्तमं नयतीत्यनेन परमेश्वरस्यैव ग्रहणं भवितुमर्हति नान्यस्य।"**[1]

यजुर्वेदभाष्य—यह भाष्य स्वामीजी ने पौष शुक्ला त्रयोदशी १९३४ वि० से प्रारम्भ किया। इसे पूरा करने में उन्हें लगभग पांच वर्ष लगे। इसका समाप्तिकाल मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा, १९३९ वि० है। भाष्यारम्भ में लेखक निम्न पद्य द्वारा मंगलाचरण करता है—

> **यो जीवेषु दधाति सर्वसुकृतज्ञानं गुणैरीश्वर—**
> **स्तं नत्वा क्रियते परोपकृतये सद्यः सुबोधाय च।**
> **ऋग्वेदस्य विधाय वै गुणगुणिज्ञानप्रदातुर्वरं**
> **भाष्यं काम्यमथो क्रियास्य यजुर्वेदस्य भाष्यं मया ॥**[2]

ऋग्भाष्य के समान यजुर्वेद भाष्य का मूल संस्कृत भाग ही स्वामीजी द्वारा रचित है। उसका हिन्दी भाषानुवाद पं० भीमसेन शर्मा तथा पं० ज्वालादत्त शर्मा ने किया था। यह भाषान्तर कहीं-कहीं भूल से सर्वथा प्रतिकूल और कहीं-कहीं अस्तव्यस्त-सा हो गया है। यजुर्वेद भाष्य के प्रथम दस अध्यायों पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने एक विवरण लिखा था, जो रामलाल कपूर ट्रस्ट से सं २००२ वि० में प्रकाशित हुआ। विवरणकार ने इसे भाष्य के हस्तलेखों से मिलानकर तथा यत्र-तत्र व्याकरण विषयक आवश्यक टिप्पणियां देकर अतीव उपयोगी बना दिया है। प्रारम्भ में एक विस्तृत किन्तु ज्ञानवर्धक भूमिका भी जोड़ दी गई है, जिसमें स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य का तुलनात्मक महत्त्व

---

१. ऋग्वेद-प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त के प्रथम मन्त्र का भाष्य।
२. भाष्यारम्भ का द्वितीय मंगलश्लोक।

निर्धारित किया गया है। यजुर्वेदभाष्य सरल, प्रसादगुणयुक्त संस्कृत भाषा में लिखा गया है जो निम्न उदाहरण से स्पष्ट है—**"ईश्वरेण सर्वमनुष्यैरनुष्ठेयोऽयं धर्म उपदिश्यते । यो न्यायपक्षपातरहितः सुपरीक्षितः सत्यलक्षणान्वितः सर्वहिताय वर्त्तमान ऐहिकपारमार्थिकसुखहेतुरस्ति स एव सर्वमनुष्यैः सदाचरणीयः ।**[1]

यजुर्वेदभाष्य के कतिपय अंश पंजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा के पाठ्यक्रम में निर्धारित हैं तथा इसका सम्पूर्ण अंग्रेजी अनुवाद लाला देवीचन्द एम० ए० द्वारा किया गया है।

चतुर्वेद-विषयसूची—

यद्यपि स्वामी दयानन्द अपने जीवनकाल में चारों वेदों का सम्पूर्ण भाष्य नहीं लिख पाये, तथापि उन्होंने चतुर्वेद-विषयसूची के नाम से सम्पूर्ण वेदमन्त्रों के प्रतिपाद्य विषयों की एक अनुक्रमणिका[2] बनाई थी। यह अद्यापि अप्रकाशित है तथा परोपकारिणी सभा, अजमेर के पुस्तकालय में विद्यमान है। स्वामी दयानन्द की वेदार्थपद्धति का अनुसरण करने वाले भविष्य के वेदभाष्यकारों को इस विषयसूची से पर्याप्त सहायता मिल सकती है, क्योंकि वे यह जान सकेंगे कि चारों वेदों के समस्त मन्त्रों में किन-किन विषयों का प्रतिपादन हुआ है।

पञ्चमहायज्ञविधि—

यह ग्रन्थ भी स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मूलरूप से संस्कृत भाषा में ही लिखा था। सं० १९३२ में बम्बई से इसका जो प्रथम संस्करण छपा था उसमें केवल संस्कृत पाठ ही है। इसका पुनः संशोधन करके सं० १९३४ में लाजरस प्रेस काशी से जो संस्करण प्रकाशित हुआ उसमें संस्कृत पाठ का हिन्दी अनुवाद भी साथ में छापा गया है।

खण्डनात्मक ग्रन्थ—

विभिन्न वेदबाह्य साम्प्रदायिक मतों के खण्डन का कार्य स्वामी दयानन्द

---

१. यजुर्वेद भाष्य १।५।

२. अधिक परिचय के लिए देखिये-पं० युधिष्ठिर मीमांसक का गुरुकुल पत्रिका (भाद्रपद-आश्विन २०२४ वि०) में प्रकाशित लेख—भगवत्पाददयानन्दसरस्वतीस्वामिनाम् अपूर्वा कृतिः—चतुर्वेदविषयानुक्रमणी।

की दृष्टि में अत्यावश्यक था। उनकी यह मान्यता थी कि साम्प्रदायिक विभ्रान्ति ने वैदिक धर्म के अमल, धवल, शुभ्र कलेवर को नितान्त दूषित और मलिन बना दिया है। शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि सम्प्रदायों से पारस्परिक विद्वेष में वृद्धि ही हुई है। साम्प्रदायिक आधार पर निर्मित तथा सम्प्रदाय भेद को प्रोत्साहित करने वाले प्रचलित अठारह पुराणों के सम्बन्ध में स्वामीजी की धारणा अनुकूल नहीं थी। स्वामी विरजानन्द से दीक्षा लेकर जब दयानन्द ने कर्मक्षेत्र में प्रवेश किया तो उन्हें सर्वत्र साम्प्रदायिक लोगों का अकाण्ड ताण्डव दृष्टिगोचर हुआ। उसे समाप्त करने के लिये वे बद्धपरिकर हुए। उनका प्रथम खण्डनात्मक ग्रन्थ था—**भागवतखण्डनम्**। इसकी रचना स्वामीजी ने अपने द्वितीय बार के आगरा प्रवासकाल में की थी। इस ग्रन्थ का उल्लेख यद्यपि स्वामीजी के सभी जीवनचरित्रों में हुआ है तथापि पर्याप्त समय तक यह अनुपलब्ध रहा। अन्त में पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के काशीस्थ पुस्तकालय की पुरानी पुस्तकों का अन्वेषण करते हुए इसे ढूंढ़ निकाला। इस पुस्तक संग्रह में उन्हें इन्द्रप्रस्थ निवासी श्री विश्वेश्वरनाथ गोस्वामी रचित 'पाषंडिमुखमर्दन' शीर्षक एक पुस्तक मिली जो सुदर्शन यन्त्रालय, मुरादाबाद से लीथो में छपी थी। इस पुस्तक के लेखक ने दयानन्द विरचित भागवतखण्डन को अक्षरशः उद्धृत कर उसका खण्डन किया है। इस प्रकार भागवतखण्डन के मूलपाठ का उद्धार हो गया। यह भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर से प्रकाशित हो गया है। इस ग्रन्थ का अपर नाम वैष्णवमतखण्डन तथा पाखण्डखण्डन भी है।[1]

वैष्णवों के सर्वस्व भूत श्रीमद्भागवत के खण्डन में लिखा गया यह लघु संस्कृत निबन्ध प्राचीन शैली की रचना है, जिसमें स्वामीजी के प्रारम्भिक विचारों की झलक मिलती है। सम्भवतः इस समय तक स्वामीजी केवल वैष्णव भागवत के ही विरुद्ध थे, अन्य पुराणों को परम्परानुसार प्रामाणिक मानते थे, क्योंकि इस निबन्ध में उन्होंने मार्कण्डेय तथा बृहन्नारदीय पुराणों के प्रमाण अपने पक्ष की पुष्टि में दिये हैं। ग्रन्थ की भाषा सरल तथा तर्कपूर्ण है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—"**श्रीमद्भागवतं पुराणं नाम किमस्ति? कुतः सन्देहः? द्वे भागवते श्रूयेते। एकं देवीभागवतं द्वितीयं कृष्णभागवतं चेति। अतो जायते संदेहः, अनयोः किमस्ति व्यासकृतमिति? देवीभागवतं श्रीमद्भागवतमस्ति व्यासकृतं च, नान्यत्। कुत एतत्?**

---

१. पं० लेखराम आर्यमुसाफिर संकलित स्वामी दयानन्द का उर्दू जीवनचरित (प्रथम संस्करण) के पृ० ७६० पर उल्लिखित।

शुद्धत्वाद् वेदादिभ्योऽविरुद्धत्वाच्च । अतएव देवीभागवतस्य श्रीमद्भागवतसंज्ञा, नान्यस्य च भागवतस्य । कुत एतत् ? अशुद्धत्वात् प्रमत्तगीतत्वाच्च ।"[1]

इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण आगरा के ज्वालाप्रकाश प्रेस में पं० ज्वालाप्रसाद भार्गव के प्रबन्ध से १९२३ वि० में छपा तथा इसकी कई सहस्र प्रतियाँ १९२४ वि० के कुम्भ के मेले के अवसर पर हरिद्वार में तथा आगरा के शाही दरबार के अवसर पर वितीर्ण की गई थीं। ग्रन्थान्त में लेखक के नाम का उल्लेख निम्न पुष्पिका युक्त मंगल वाक्य में मिलता है—"दयानन्दसरस्वत्याख्येन स्वामिना निर्मितमिदं पत्रं वेदितव्यं विद्वद्भिरिति । शुभं भवतु वक्तृभ्यश्श्रोतृभ्यश्च ।"[2]

वेदविरुद्धमतखण्डनम्—यह ग्रन्थ 'वल्लभाचार्यमतखण्डन' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसमें वल्लभाचार्य प्रवर्तित पुष्टि-सम्प्रदाय की आलोचना की गई है। पुस्तक प्रश्नोत्तर शैली में लिखी गई है। इसकी प्रथम आवृत्ति निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुई। मूल संस्कृत ग्रन्थ का गुजराती भाषान्तर स्वामीजी के सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी शिष्य पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा ने किया। वैदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित हिन्दी अनुवाद पं० भीमसेन शर्मा द्वारा किया हुआ है। कण्ठी, तिलकधारण, मूर्तिपूजा, अवतार, गोलोक आदि वैष्णव सम्प्रदाय की मान्यताओं की इसमें आलोचना की गई है। लेखक को पुष्टि सम्प्रदाय के सिद्धान्तरहस्य, शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, सत्सिद्धान्त-मार्तण्ड, विद्वन्मण्डन, अणुभाष्य आदि ग्रन्थों का तलस्पर्शी ज्ञान था, यह इस बात से सिद्ध होता है कि उपर्युक्त ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों को पूर्वपक्ष में रखकर उनका प्रमाण पुरस्सर खण्डन किया गया है। इस ग्रन्थ में लेखक ने पुजारी, आरती, गुसांई, वैरागी आदि शब्दों की मनोरंजक ढंग से व्युत्पत्तियां दिखाकर उनके जुगुप्साजनक अर्थ दर्शाये हैं। यथा, "पूजा नाम सत्कारस्सज्जनानां, तस्या अरिर्नाम शत्रुरयम्पूजारिशब्दार्थो वेद्यः । आर्तिर्नाम दुःखन्ताङ्करोतीत्यार्तिकारः । रागोऽस्यास्तीति रागी, वै इति निश्चयेन रागीति वैरागिशब्दार्थः ।"[3]

---

१. भागवतखण्डनम् पृ० १, भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर से २०१८ वि० में प्रकाशित।

२. भागवतखण्डनम् पृ० २१।

३. वेदविरुद्धमतखण्डन पृ० ४८, वैदिक यंत्रालय का नवां संस्करण २००४ वि०।

तर्कपूर्ण शैली में लिखी गई इस पुस्तक की भाषा तथा व्यंग्यपूर्ण शैली का यह उदाहरण द्रष्टव्य है—"**तर्हि भावना का नाम ? भावना तु पाषाणे पाषणभावना रोटिकायां रोटिकाभावनेति यथार्थज्ञानमिति ब्रूमस्तस्मिंस्तद्बुद्धिरिति। तथा रोटिकायां पाषाणभावना पाषाणे रोटिकाभावनाऽयथार्थज्ञानमतस्मिंस्तद्बुद्धिभ्रमो ह्यभावना चेति।**"[1]

इस ग्रन्थ का रचनाकाल कार्तिक अमावस्या, १९३१ वि० मंगलवार है।[2]

शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण—यह गुजरात में प्रचलित स्वामिनारायण मत के खण्डन में लिखा गया, अतः इसका नाम 'स्वामिनारायणमतखण्डन' भी है। इस मत के प्रवर्तक सहजानन्द कृत शिक्षापत्री नामक ग्रन्थ के श्लकों को उद्धृत कर उनका खण्डन किया गया है। पुस्तक की भाषा और शैली वेदविरुद्धमत खण्डन की भांति युक्ति एवं तर्कपूर्ण तथा व्यंग्य प्रधान है, यथा, "**यो दैव्या सम्पदा युक्तो जनस्स त्विमां शिक्षापत्रीं कदाचिन्नैव ग्रहीष्यति, तस्मिन्विद्याप्रकाशस्य विद्यमानत्वात्। यस्त्वविद्यासुरसम्पद्युक्तः स एतां स्वीकरोति। तस्मिन् सम्प्रदाहशब्दवाच्यस्य सम्प्रदायाग्रहान्धकारस्य विद्यमानत्वात्। सम्यक्प्रकृष्टतया दग्धज्ञाना भवन्ति यस्मिन् सोऽयं सम्प्रदाहः।**"[3] यहाँ भी 'सम्प्रदाय' का 'सम्प्रदाह' के रूप में उल्लेख व्यंग्यपूर्ण है। इसकी ग्रन्थ की समाप्ति पौष शुक्ला ११, सं० १९३१ वि० में हुई[4] तथा इसका गुजराती और हिन्दी में भाषान्तर हो चुका है। गुजराती अनुवाद के कर्त्ता पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा थे।

काशी-शास्त्रार्थ—

काशी का यह सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ स्वामी दयानन्द और वाराणसी के स्वामी विशुद्धानन्द तथा बाल शास्त्री आदि विद्वानों के बीच कार्तिक शुक्ला १२, सं० १९२६ को दुर्गाकुण्ड के निकट आनन्द बाग में हुआ था। स्वयं काशीनरेश इसमें उपस्थित थे। मूर्तिपूजा की वैदिकता को सिद्ध करना काशीस्थ पण्डितों का इष्ट था, जबकि स्वामी दयानन्द का प्रतिपाद्य मूर्तिपूजा की

---

१. वेदविरुद्धमतखण्डन पृ० १७, वैदिक यंत्रालय का नवां संस्करण २००४ वि०।

२. ग्रन्थान्त की पुष्पिका का श्लोक।

३. शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारणम् पृ० १६, वैदिक यंत्रालय का चतुर्थ संस्करण २००४ वि०।

४. ग्रन्थान्त की पुष्पिका का श्लोक।

अवैदिकता सिद्ध करना था। सम्पूर्ण शास्त्रार्थ संस्कृत में हुआ। सुप्रसिद्ध वैदिक-विद्वान् पं० सत्यव्रत सामश्रमी इसमें उभयपक्ष के लेखक के रूप में विद्यमान थे[1] और उन्होंने शास्त्रार्थ का इतिवृत्त लेखबद्ध किया था। सामश्रमी जी ने इस शास्त्रार्थ का विवरण अपनी प्रत्नकम्रनन्दिनी (The Hindu Commentator) नामक पत्रिका के २८ दिसम्बर १८६९ के अंक में प्रकाशित किया था।[2] इस शास्त्रार्थ का वृत्तान्त तत्त्ववोधिनी पत्रिका (जेष्ठ सं० १७९४ बंगाली संवत्)[3], रुहेलखण्ड समाचार (नवम्बर १८६९), ज्ञान प्रदायिनी पत्रिका, लाहौर, अप्रैल १८७० तथा हिन्दू पैट्रियट (१७ जनवरी १८७०) में भी प्रकाशित हुआ था।

काशीशास्त्रार्थ के नाम से जो ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध होता है, उसके मुख पृष्ठ पर या आद्यन्त में कहीं भी लेखक के रूप में स्वामीजी का नामोल्लेख नहीं है, परन्तु इसमें प्रयुक्त संस्कृत भाषा व शैली की तुलना जब हम उनके अन्य ग्रन्थों की भाषा से करते हैं तो दोनों में समानता दृष्टिगोचर होती है। निश्चय ही शास्त्रार्थ का यह विवरण स्वयं स्वामीजी ने ही उपस्थित किया था। शास्त्रार्थ में जिस प्रकार की वाग्विदग्धता और प्रत्युत्पन्नमतित्व की आवश्यकता होती है, वह शास्त्रार्थकर्त्ता स्वामीजी में थी, यह इस ग्रन्थ को पढ़कर जाना जा सकता है। प्रसन्न गम्भीर शैली में लिखी गई यह रचना काशीशास्त्रार्थ का आंखों देखा हाल उपस्थित कर देती है। ग्रन्थ की प्रारम्भिक पंक्तियां इसी विवरणात्मक शैली में लिखी गई हैं—"**धर्माधर्मयोर्मध्ये शास्त्रार्थविचारो विदितो भवतु। एको दिगम्बरस्सत्यशास्त्रार्थविद्दयानन्दसरस्वती-स्वामी गंगातटे विहरति। स ऋग्वेदादिसत्यशास्त्रेभ्यो निश्चयं कृत्वैवं वदति—वेदेषु पाषाणादिमूर्तिपूजनविधानं शैवशाक्तगाणपत्यवैष्णवादिसम्प्रदाया रुद्राक्षत्रिपुण्ड्रादिधारणं च नास्त्येव, तस्मादेतत् सर्वं मिथ्यैवास्ति नाचरणीयं कदाचित्।**"[4]

---

१. "परमहो काश्यामानन्दोद्यानविचारे यत्र वयमास्म मध्यस्थाः विशेषत वादिप्रतिवादिवचसामनुलेखनेऽहमेक एवोभयपक्षतो नियुक्तः" सामश्रमी रचित ऐतरेयालोचन पृ० १२७।

२. शास्त्रार्थ का यह वृत्तान्त पं० सत्यव्रत शर्मा रचित 'श्री १०८ महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी का जीवनचरित' (वेदप्रकाश यंत्रालय, इटावा) में पृ० १३७–१४० तक छप चुका है।

३. यह पत्र कलकत्ता से ब्रह्मसमाज के नेता श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर निकालते थे।

४. काशीशास्त्रार्थ पृ० ३, वैदिक यंत्रालय का १०वां संस्करण १९८५ वि०।

ग्रन्थ रूप में यह रचना दिसम्बर १८६९ में पं० गोपीनाथ मैनेजर, लाईट प्रेस के प्रबन्ध से बनारस में छपी। इसका उर्दू अनुवाद भी हुआ था। यह उर्दू अनुवाद मुन्शी बख्तावरसिंह प्रबन्धकर्त्ता, वैदिक यन्त्रालय ने किया था।

स्वामी दयानन्द रचित संस्कृत ग्रन्थों की भाषा और शैली के विषय में इतना ही लिखना पर्याप्त है कि उन्होंने सर्वत्र सरल, बोधगम्य और प्रसाद गुण युक्त भाषा का प्रयोग किया है। उनकी शैली व्यावहारिक है। दार्शनिक और गम्भीर विषयों का विवेचन करते समय उनकी भाषा और शैली में सहज गुरुता और प्रौढ़ता आ गई है। उनके खण्डन-मण्डन के ग्रन्थों की भाषा अपेक्षाकृत सरल और शैली व्यंग्य वा विनोदपूर्ण है। उनकी भाषा में प्रसादगुण सर्वत्र मिलता है।

वेदाङ्गप्रकाश आदि व्याकरण के ग्रन्थ—

स्वामी दयानन्द संस्कृत भाषा को प्रोत्साहित करने के पूर्ण पक्षपाती थे। वे यह चाहते थे कि जनसामान्य में संस्कृत का प्रचार हो। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं कि वह गुरुचरणों में बैठकर शास्त्रोक्त रीति से विद्याभ्यास करे। अतः सामान्य जनता में संस्कृत के प्रति रुचि जागृत करने तथा सामान्य पठित व्यक्तियों को संस्कृत के व्याकरण तथा भाषा का ज्ञान कराने के लिए स्वामीजी ने 'पठन-पाठन व्यवस्था' के नाम से एक पुस्तकमाला का प्रकाशन किया। इस ग्रन्थमाला में 'व्यवहारभानु' और 'संस्कृतवाक्यप्रबोध' के अतिरिक्त वेदांगप्रकाश के १४ भाग भी छपे, जो पाणिनीय व्याकरण का बोध कराने में सोपान के तुल्य हैं।

संस्कृतवाक्यप्रबोध—पठन-पाठनव्यवस्था के अन्तर्गत यह द्वितीय पुस्तक है। इसके लिखने में स्वामीजी का उद्देश्य यह था कि संस्कृत भाषण की क्षमता विद्यार्थियों में आए तथा उनका संस्कृत बोलने में उत्साह बढ़े। इस ग्रन्थ में संलाप शैली में लिखे गये ५२ प्रकरण हैं जिनमें गुरु शिष्य वार्तालाप, गृहस्थ-प्रकरण, राजव्यवहार, वर्णाश्रमधर्म, लोकव्यवहार, विभिन्न पशु-पक्षी विवरण, व्यवसाय विवरण आदि के विषय सम्मिलित हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ को पढ़कर लेखक के असाधारण लोकज्ञान पर आश्चर्य होता है। इस पुस्तक का प्रथम संस्करण फाल्गुन शुक्ला एकादशी, १९३६ में वैदिक यन्त्रालय, काशी से प्रकाशित हुआ। असावधानी तथा मुद्रण की त्रुटियों के कारण संस्कृतवाक्यप्रबोध के प्रथम संस्करण में व्याकरण विषयक कतिपय भयंकर अशुद्धियां रह गईं थीं, काशी की ब्रह्मामृतवर्षिणी सभा के पं० अम्बिकादत्त व्यास ने 'संस्कृतवाक्यप्रबोध' पर

'अबोधनिवारण' नाम से आक्षेप किये। आक्षेप्ता के कई आक्षेप तो व्यर्थ ही थे[1] और स्वामीजी की आर्ष रचना शैली से अनभिज्ञ होने के कारण किये गये थे, परन्तु जिन आक्षेपों में सत्यता थी उन्हें स्वीकार कर संशोधित द्वितीय संस्करण छापा गया। 'अबोधनिवारण' के रूप में किये गए निमूल आक्षेपों का उत्तर 'आर्य-दर्पण' के मई १८८० ई० के अंक में 'एक पण्डित' के नाम से प्रकाशित हुआ। पं० युधिष्ठिर मीमांसक की सम्मति में यह उत्तर स्वयं स्वामीजी द्वारा ही लिखवाया हुआ था।[2] संस्कृतवाक्यप्रबोध की भाषा बोल-चाल में प्रयोग आने वाले वाली व्यावहारिक कोटि की है। कतिपय उदाहरण इसे सिद्ध कर देंगे—

"भोः शिष्य ! उत्तिष्ठ प्रातःकालो जातः।
उत्तिष्ठामि।
अन्ये सर्वे विद्यार्थिन उत्थिता न वा ?
अधुना तु नोत्थिता खलु।
तानपि सर्वानुत्थापय।
सर्व उत्थापिताः।
सम्प्रत्यस्माभिः किं कर्त्तव्यम् ?
आवश्यकं शौचादिकं कृत्वा संध्यावन्दनम् ?"[3]

वेदाङ्गप्रकाश—संस्कृत व्याकरण का सरल और सुबोध ज्ञान कराने की दृष्टि से स्वामीजी ने चौदह भागों में वेदाङ्गप्रकाश की रचना की। पं० युधिष्ठिर मीमांसक की सम्मति में ये ग्रन्थ स्वयं स्वामीजी द्वारा रचित न होकर स्वामीजी के सहायक लिपिकर पण्डितों द्वारा रचित हैं।[4] इन लेखकों में पं० भीमसेन शर्मा, पं० ज्वालादत्त तथा पं० दिनेशराम आदि प्रमुख थे। चाहे इन ग्रन्थों का मुख्य भाग पण्डितों ने ही बनाया हो, परन्तु उनका संशोधन स्वयं स्वामीजी का किया हुआ है और कतिपय अंश तो उन्हीं के बनाये हैं। इन चौदह भागों में धातुपाठ, गणपाठ और निघण्टु ये तीन ग्रन्थ तो मूलमात्र हैं। वर्णोच्चारण-शिक्षा, आख्यातिक, उणादि-कोष और पारिभाषिक ये चार भाग

---

१. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास पृ० १२६।
२. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० २२२ (द्वि० सं०)।
३. संस्कृतवाक्यप्रबोध पृ० १।
४. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास—नवम अध्याय।

क्रमशः पाणिनीयशिक्षा, धातुपाठ, उणादिसूत्र और परिभाषापाठ नामक स्वतन्त्र ग्रन्थों की व्याख्यायें हैं। इनमें से प्रत्येक का विवरण इस प्रकार है—

(१) **वर्णोच्चारण-शिक्षा**—यह पठन-पाठन व्यवस्था की प्रथम पुस्तक है। इसमें पाणिनीयशिक्षा की हिन्दी में व्याख्या की गई है। यत्र-तत्र अष्टाध्यायी और महाभाष्य के उपयोगी सूत्र और वचन दे दिये हैं। पाणिनीय शिक्षा का मूल ग्रन्थ लुप्त हो चुका था और उसके स्थान पर एक श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा प्रचलित थी, जिसका प्रारम्भ **'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा'** से होता है। इस अन्तःसाक्ष्य से ही सिद्ध हो जाता है कि यह ग्रन्थ पाणिनिकृत नहीं है। स्वामीजी ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक पाणिनि-कृत सूत्रात्मक शिक्षा ग्रन्थ का उद्धार किया[1] और उसकी सुगम व्याख्या की। ग्रन्थान्त की पुष्पिका में जो श्लोक दिया हुआ है उससे इस ग्रन्थ का रचनाकाल माघ शुक्ला चतुर्थी १९३६ वि० ज्ञात होता है।

(२) **सन्धिविषय**—यह वेदांगप्रकाश का दूसरा भाग है। इसमें संज्ञा, परिभाषा और साधन ये तीन प्रकरण सन्निविष्ट हैं। मीमांसकजी के मतानुसार इसका मूल लेखक पं० भीमसेन है। इसका प्रथम संस्करण संवत् १९३७ में छाप।

(३) **नामिक**—यह वेदांगप्रकाश का तीसरा भाग है। इसमें सुबन्त का विषय लिखा गया है। ग्रन्थ का रचनाकाल पुष्पिका के श्लोक से चैत्र शुक्ला १४, सं० १९३८ ज्ञात होता है।

(४) **कारकीय**—यह वेदांगप्रकाश का चतुर्थ भाग है। इसमें कारक प्रकरण की व्याख्या है। ग्रन्थ का रचनाकाल भाद्रपद कृष्णा ८, सं० १९३८ है।

(५) **सामासिक**—यह वेदांगप्रकाश का पांचवां भाग है। इसमें समास का व्याख्यान है। लेखनकाल पुस्तक के अन्त में भाद्रपद कृष्णा १२, सं० १९३८ वि० दिया है।

(६) **स्त्रैणताद्धित**—यह वेदांगप्रकाश का छठा भाग है। इसमें अष्टा-

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती का पाणिनीयशिक्षा का जो एकमात्र हस्त-लेख प्राप्त हुआ था वह खण्डित था। इस शिक्षा का पूरा पाठ अन्य कोश की सहायता से पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने 'शिक्षासूत्राणि' के अन्तर्गत सन् १९६७ में प्रकाशित किया है।

ध्यायीस्थ स्त्री प्रत्यय तथा तद्धित प्रत्ययों का विवेचन है। रचनाकाल मार्गशीर्ष शुक्ला ५, वि० सं० १९३८ है।

(७) **अव्ययार्थ**—वेदांगप्रकाश का सप्तम भाग है। इसमें अव्ययों का विवेचन हुआ है। प्रथम संस्करण माघ कृष्णा १०, स० १९३९ को छपा।

(८) **आख्यातिक**—यह वेदांगप्रकाश का आठवां भाग है। आकार की दृष्टि से अन्य सब भागों से बड़ा है। इसके पूर्वार्द्ध में धातु-प्रक्रिया और उत्तरार्द्ध में कृदन्त-प्रक्रिया लिखी है। पं० मीमांसक के अनुसार इसके लेखन में भीमसेन, ज्वालादत्त और दिनेशराम इन तीनों पण्डितों का हाथ है। इसका प्रथम मुद्रण पौष कृष्णा ११, स० १९३८ में हुआ।

(९) **सौवर**—यह इस पुस्तकमाला का नवां भाग है। इसमें स्वर-प्रक्रिया का विवेचन हुआ है। लेखनकाल भाद्रपद शुक्ला १३, सं० १९३९ है।

(१०) **पारिभाषिक**—यह वेदांगप्रकाश का दसवां भाग है। इसमें परिभाषा वचनों की व्याख्या है। इसके लिखने में नागेशभट्ट कृत 'परिभाषेन्दु-शेखर' की सहायता ली गई है। इसका रचनाकाल आश्विन १९३९ है। विशिष्ट तिथि का निर्देश नहीं मिलता।

(११) **धातुपाठ**—यह वेदांगप्रकाश का ग्यारहवां भाग है। यह पाणिनि रचित मूल ग्रन्थ है। 'आख्यातिक' इसी की व्याख्या है। अन्त में अकारादि क्रम से धातुओं की सूची छापी गई है। ग्रन्थ के अन्त में इसका प्रकाशनकाल पौष कृष्णा १०, संवत् १९३९ दिया है।

(१२) **गणपाठ**—यह वेदांगप्रकाश का बारहवां भाग है। यह ग्रन्थ भी मूलरूप में पाणिनि रचित है। इसका प्रकाशनकाल भूमिका के अन्त में माघ शुक्ला १०, सं० १९३८ दिया है।

(१३) **उणादिकोष**—यह वेदांगप्रकाश का तेरहवां भाग है। इसमें उणादि सूत्रों की सरल एवं सुबोध व्याख्या है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि यह संस्कृत में ही रचा गया है, केवल भूमिका के कुछ पृष्ठ ही हिन्दी में हैं। मीमांसकजी की सम्मति में उणादि सूत्रों की यह व्याख्या स्वयं स्वामीजी ने ही लिखी है।

संस्कृत व्याकरण शास्त्र वा उसके इतिहास के विशेषज्ञ पं० युधिष्ठिर मीमांसक लिखते हैं कि समस्त उणादिवाङ्मय में स्वामी दयानन्द सरस्वती की

यह वृत्ति मूर्धाभिषिक्त है।[1] ग्रन्थ की भूमिका के अन्त में इसका रचनाकाल माघ कृष्णा १, संवत् १९३९ है।

(१४) निघण्टु—यह वेदांगप्रकाश का अन्तिम चौदहवाँ भाग है। यह भी यास्करचित मूल ग्रन्थ है। अनेक आधुनिक विद्वानों की सम्मति में निघण्टु यास्करचित नहीं है। सर्वसाधारण के लाभार्थ निघण्टु की अनेक हस्तलेखों से मिलान कर[2] स्वामीजी ने इस शुद्ध संस्करण को प्रकाशित कराया। पाठान्तरों को पादटिप्पणियों में दिखाया गया है। इस ग्रन्थ का संशोधनकाल ग्रन्थान्त में इस प्रकार निर्देशित किया गया है—

निधिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे मार्गशीर्षसिते दले।
चतुर्दश्यां गुरुवारेऽयं निघण्टुः शोधितो मया॥

अर्थात् इस ग्रन्थ का संशोधन मार्गशीर्ष शुक्ला १४, संवत् १९३९ को समाप्त हुआ। वेदांगप्रकाश के सभी भाग वैदिक यंत्रालय के अतिरिक्त आर्य-साहित्य मण्डल अजमेर (पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित संस्करण) द्वारा भी छपे हैं।

अष्टाध्यायी-भाष्य—

स्वामी दयानन्द पाणिनि कृत अष्टाध्यायी को व्याकरण का प्रमुख ग्रन्थ मानते थे। अतः उन्होंने इसका सुगम एवं सुबोध भाष्य हिन्दी जानने वालों के लिए किया। यह भाष्य अभी पूरा संशोधित होकर प्रकाशित नहीं हुआ है। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ पण्डित स्व० डा० रघुवीर द्वारा सम्पादित होकर इसका प्रथम भाग १९२७ ई० में छपा तथा तृतीय अध्याय तक का इसका द्वितीय भाग १९४९ ई० में छापा। शेष अभी तक अप्रकाशित ही है।

स्वामीजी के व्याकरण विषयक ग्रन्थों का महत्त्व इसी बात से जाना जा सकता है कि वेदांगप्रकाश के कुछ भाग काशीस्थ वाराणसेय संस्कृत विश्व-विद्यालय की प्राचीन व्याकरण और वेद-नैरुक्त-प्रक्रिया के पाठ्यक्रम में रखे गये हैं।

---

१. सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग २, पृ० २००।

२. बनेड़ा के राजकीय सरस्वती भंडार नामक पुस्तकालय के निघण्टु से स्वामीजी ने अपनी प्रति का मिलान किया था। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय संगृहीत महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित पृ० ६५१।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि स्वामी दयानन्द ने जिस ग्रन्थराशि का निर्माण किया, उससे संस्कृत के धार्मिक एवं शास्त्रीय साहित्य की अभिवृद्धि हुई। उनकी परिष्कृत, परिमार्जित तथा उदात्त संस्कृत गद्य लेखन-शैली उन्हें श्रेष्ठ कोटि का गद्यकार सिद्ध करती है।

संस्कृत भाषा के कवि के रूप में स्वामी दयानन्द—

अब तक के विवेचन से यह सिद्ध होता है कि स्वामी दयानन्द संस्कृत गद्य के व्युत्पन्न लेखक थे, परन्तु उनका एक अन्य रूप संस्कृत कवि का भी है। स्वामीजी ने अपने प्रत्येक ग्रन्थ के आद्यन्त में स्वरचित कुछ श्लोक लिखे हैं, जो यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि उनमें काव्य-सर्जन की प्रतिभा भी थी। ग्रन्थान्त में ग्रन्थ रचनाकाल की सूचना देने वाले जो श्लोक स्वामीजी ने लिखे हैं, उनमें वस्तुओं के नामों से वर्ष सूचक संख्याओं को संकेतित किया गया है। प्राचीन ग्रन्थकार इसी शैली में अपने ग्रन्थ रचनाकाल की सूचना दिया करते थे। इस पद्धति को काव्यरचना की कूटशैली या चित्र-काव्य कहा जाता है। स्वामीजी ने इस प्रकार के श्लोक अपने ग्रन्थों में सर्वत्र लिखे हैं। उदाहरणार्थ 'वेदविरुद्धमतखण्डन' के अन्त में निम्न श्लोक मिलता है—

शशिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्तिकस्यासिते दले।
अमायां भौमवारे च ग्रन्थोऽयम्पूर्तिमागतः॥

इस श्लोक में रचनाकाल सूचक शब्द शशि (१) राम (३) अंक (९) तथा चन्द्र (१) हैं। **'अंकानां वामतो गतिः'** के न्याय से यह संवत् १९३१ होता है। शेष मास, पक्ष, तिथि तथा दिन का नाम स्पष्ट ही है।

रचनाकाल सूचक यह कूटकाव्य पद्धति स्वामीजी ने शिक्षापत्रीध्वान्त-निवारण, आर्याभिविनय, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ऋग्वेद तथा यजुर्वेद भाष्य, आर्योद्देश्यरत्नमाला, भ्रमोच्छेदन, गोकरुणानिधि, पञ्चमहायज्ञ-विधि[1] तथा सत्यधर्मविचार में प्रयुक्त की है।

इसके अतिरिक्त स्वामीजी रचित कतिपय अन्य संस्कृत पद्य भी उपलब्ध होते हैं। उनके प्रमुख ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास के प्रारम्भ में ही एक पद्य मिलता है जो उच्चकोटि की नीति-शिक्षा हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। यह पद्य स्वामीजी द्वारा ही रचित है—

---

१. इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण, जो बम्बई में सं० १९३२ छपा, ऐसा ही श्लोक था।

विद्याविलासमनसो धृतिशीलशिक्षाः
सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः ।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये
धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः ॥

अर्थात् जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता, सुन्दर शीलस्वभावयुक्त, सत्यभाषणादि नियम पालनयुक्त और जो अभिमान, अपवित्रता से रहित, अन्य की मलीनता के नाशक, सत्योपदेश, विद्यादान से संसारी जनों के दुःखों के दूर करने से सुभूषित, वेदविहित कर्मों से पराये उपकार करने में रहते हैं, वे नर और नारी धन्य हैं। यह पद्य **वसन्ततिलका** छन्द में लिखा गया है। यदि काव्यांगों की दृष्टि से देखा जाये तो परोपकारी कर्मवीरों की प्रशंसा होने से 'उत्साह' स्थायी भावयुक्त वीर रस का वर्णन इस पद्य में मिलता है।

वेदमन्त्रों का प्रार्थना परक अर्थ प्रस्तुत करने वाले आर्याभिविनय ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक **शिखरिणी** छंद मिलता है—

दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यविमला ।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रलसित गुणा वेदशरणा-
ऽस्त्यनेनायं ग्रन्थो रचित इति बोधव्यमनघाः ॥

इसी प्रकार के दो अन्य छन्द संस्कार विधि[1] तथा ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका[2] में किञ्चित् पाठान्तर के साथ मिलते हैं। आर्याभिविनय की उपक्रमणिका में ५ श्लोक अनुष्टुप् छन्द के मिलते हैं जिनमें मंगलाचारण[3] के

---

१. दयाया आनन्दो विलसति परो ब्रह्मविदितः,
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यनिलया।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा हीशशरणा-
ऽस्त्यनेनायं ग्रन्थो रचित इति बोधव्यमनघाः ॥१॥

२. दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति सदा हीशशरणा।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा वेदमनना-
ऽस्त्यनेनेदं भाष्यं रचितमिति बोधव्यमनघाः ॥३॥

३. सर्वात्मा सच्चिदानन्दोऽनन्तो यो न्यायकृच्छुचिः।
भूयात्तमां सहायो नो दयालुः सर्वशक्तिमान् ॥ उपक्रमणिका ॥१॥

अतिरिक्त ग्रन्थ रचना का प्रयोजन बताया गया है।[1] शेष दो पद्य क्रमशः तोटक तथा वंशस्थ छन्द में हैं—

विमलं सुखदं सततं सुहितं जगति प्रततं तदु वेदगतम्।
मनसि प्रकटं यदि यस्य सुखी स नरोस्ति सदेश्वर भागधिकः ॥७॥

विशेष भागीह वृणोति यो हितं नरः परात्मानमतीव मानतः।
अशेषदुःखात् तु विमुच्य विद्यया, स मोक्षमाप्नोति न कामकामुकः[2] ॥८॥

स्वामी दयानन्द रचित संस्कारविधि जो कर्मकाण्ड का ग्रन्थ है, के प्रारम्भ में ग्यारह श्लोक लिखे गये हैं। इनमें नवें श्लोक शिखरिणी को छोड़कर शेष सभी अनुष्टुप् छन्द है। इन श्लोकों में लेखक ने ईश्वरस्तुति, ग्रन्थ-रचना प्रयोजन, ग्रन्थकार परिचय तथा ग्रन्थारम्भ की तिथि का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रारम्भ में आठ श्लोक उपलब्ध होते हैं। प्रथम श्लोक शार्दूलविक्रीडित छन्द में लिखा है जिसमें ईश्वर की वन्दना है—

ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतं,
विद्या यस्य सनातनी निगमभृद् वैधर्म्यविध्वंसिनी।
वेदाख्या विमला हिते हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा,
तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते॥

शेष श्लोकों में लेखक परिचय तथा ग्रन्थरचना का प्रयोजन बताया गया है। इस ग्रन्थ के अंत में भी दो पद्य मिलते है जिनमें प्रथम स्रग्धरा तथा द्वितीय अनुष्टुप् है। कवित्व की दृष्टि से प्रथम पद्य उल्लेखनीय है—

'वेदार्थाभिप्रकाशप्रणयसुगमिका कामदा मान्यहेतुः,
संक्षेपाद् भूमिकेयं विमलविधिनिधिः सत्यशास्त्रार्थयुक्ता।
सम्पूर्णाकार्य्यथेदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयातः
पश्चादीशानभक्त्या सुमतिसहितया तन्यते सुप्रमाणम्॥

---

१. वेदस्य मूलमन्त्राणां व्याख्यानं लोकभाषया।
क्रियते सुखबोधाय ब्रह्मज्ञानाय सम्प्रति॥ उपक्रमणिका ॥५॥
स्तुत्युपासनयोः सम्यक् प्रार्थनायाश्च वर्णितः।
विषयो वेदमन्त्रैश्च सर्वेषां सुखवर्धनः॥ उपक्रमणिका ॥६॥

२. श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय २ श्लोक ७० की अन्तिम पंक्ति 'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी' से तुलनीय।

उपसंहार का यह श्लोक लेखक के ग्रन्थलेखन के अभिप्राय को प्रकाशित करता है तथा भविष्य में किये जाने वाले वेदभाष्य का संकेत देता है।

ऋग्वेद भाष्य के प्रारम्भ में एक **मन्दाक्रान्ता** छन्द लिख कर स्वामीजी ने ग्रन्थ रचना की तिथि के उल्लेखपूर्वक[1] अपना भाष्य लेखन प्रारम्भ किया है। इसी प्रकार यजुर्वेद भाष्य के प्रारम्भ में स्वामीजी रचित दो श्लोक मिलते हैं। प्रथम में ईश्वरस्तुति तथा ऋग्वेद भाष्य के प्रारम्भ करने के अनन्तर क्रियामय यजुर्वेद के भाष्यप्रणयन की सूचना मिलती है—

> यो जीवेषु दधाति सर्वसुकृतज्ञानं गुणैरीश्वरस्
> तं नत्वा क्रियते परोपकृतये सद्यः सुबोधाय च।
> ऋग्वेदस्य विधाय वै गुणगुणिज्ञानप्रदातुर्वरं
> भाष्यं काम्यमथो क्रियामययजुर्वेदस्य भाष्यं मया॥

उपोद्घात का यह द्वितीय श्लोक भाष्यारम्भ की तिथि सूचित करता है।

स्वामीजी के एक अन्य लघु ग्रन्थ गोकरुणानिधि में विषय का उपक्रम प्रस्तुत करने वाले दो श्लोक आरम्भ में मिलते हैं। प्रथम वंशस्थ छन्द है—

> तनोतु सर्वेश्वर उत्तमं बलं गवादिरक्षं विविधं दयेरितः।
> अशेषविघ्नानि निहत्य नः प्रभुः सहायकारी विदधातु गोहितम्॥

द्वितीय श्लोक में गौओं के सुख की कामना करने वाले पुरुषों की प्रशंसा की गई है तथा पशुहिंसकों की निंदा का उल्लेख है—

> ये गोसुखं सम्यगुशन्ति धीरास्ते धर्म्मजं सौख्यमथाददन्ते।
> क्रूरा नराः पापरता नयन्ति प्रज्ञाविहीनाः पशुहिंसकास्तत्॥

ग्रन्थान्त का निम्न श्लोक श्लेषालंकार युक्त दृष्टिकूट के रूप में एक उत्तम चित्रकाव्य का नमूना प्रस्तुत करता है—

> धेनुः परा दया पूर्वा यस्यानन्दाद् विराजते।
> आख्यायां निर्मितस्तेन ग्रन्थो गोकरुणानिधिः॥

अर्थात् जिसके नाम में 'दया' पूर्व और 'धेनु'=गौ=वाणी='सरस्वती' पर विराजमान है, अर्थात् गौओं पर दया से पूर्ण होने में जिसे आनन्द आता है और

---

१. विद्यानन्दं समवति चतुर्वेदसंस्तावना या
सम्पूर्येशं निगमनिलयं सम्प्रणम्याथ कुर्वे।
वेदत्र्यङ्के विधुयुतसरे मार्गशुक्लेऽङ्कभौमे
ऋग्वेदस्याखिलगुणगुणिज्ञानदातुर्हि भाष्यम्॥

जिसका नाम 'दयानन्द सरस्वती' है उसने यह गोकरुणानिधि ग्रन्थ बनाया।

उपर्युक्त विवेचन[1] से स्वामी दयानन्द की संस्कृत काव्यरचना शक्ति का परिज्ञान होता है।

स्वामी दयानन्द द्वारा संस्कृत पठन-पाठन विधि का निर्माण—

संस्कृत के पठन-पाठन के लिए स्वामी दयानन्द ने एक विशिष्ट क्रम निर्धारित किया था। इसका उल्लेख उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पठन-पाठन विषय तथा संस्कार-विधि के वेदारम्भ संस्कार के अन्तर्गत किया है। सत्यार्थप्रकाश में संस्कृत भाषा तथा साहित्य के पठन-पाठन का निम्न क्रम निर्धारित किया गया है— सर्वप्रथम पाणिनि रचित शिक्षासूत्र से वर्णोच्चारण प्रक्रिया का बोध कराया जाय। अष्टाध्यायी की प्रथम आवृत्ति में धातुपाठ अर्थ सहित और दस लकारों के रूप तथा प्रक्रिया सहित सामान्य और अपवाद सूत्रों का ज्ञान कराया जाय। इसके अनन्तर उणादिगण, पुनः शंका समाधान, वार्तिक, कारिका और परिभाषा पूर्वक अष्टाध्यायी की द्वितीय आवृत्ति कराई जाय। तदुपरान्त महा-भाष्य का अध्ययन करना आवश्यक है। सम्पूर्ण आर्ष व्याकरण का बोध होने में स्वामीजी तीन वर्ष का समय (डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी और डेढ़ वर्ष में महाभाष्य) पर्याप्त मानते हैं।

व्याकरण के अनन्तर यास्ककृत निघण्टु और निरुक्त का अध्ययन छ या आठ महीने में समाप्त हो सकता है। अनन्तर पिंगलाचार्य कृत छन्दोग्रन्थ से वैदिक और लौकिक छन्दों का ज्ञान तथा नवीन श्लोकरचना करने का अभ्यास चार मास में करना चाहिये। पुनः मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण तथा महा-भारत के उद्योगपर्वान्तर्गत विदुरनीति के प्रकरण धर्म और नीतिशास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से पढ़ना चाहिये। इन ग्रन्थों के अध्ययन में एक वर्ष लगाना पर्याप्त होगा। इसके पश्चात् सांख्य, योग, न्याय वैशेषिक, पूर्वमीमांसा तथा वेदान्त इन षड्दर्शनों को आर्ष व्याख्याओं सहित पढ़े। वेदान्त सूत्रों को पढ़ने से पूर्व ईशादि दस उपनिषदों का पढ़ना आवश्यक है। पश्चात् छह वर्षों में ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ब्राह्मणों सहित चारों वेदों को स्वर, शब्द,

---

१. इस विवेचन के लिए शोधप्रबन्ध लेखक साहित्याचार्य पं० वीरेन्द्र शास्त्री एम० ए० के लेख 'महाकवि महर्षि दयानन्द सरस्वती' (टंकारा-पत्रिका फरवरी ६३ में प्रकाशित) का ऋणी है।

अर्थ, सम्बन्ध तथा क्रिया सहित पढ़ना चाहिये । वेदाध्ययन के उपरान्त आयुर्वेद (चरक, सुश्रुत), धनुर्वेद, गान्धर्ववेद (नारद संहिता) तथा अर्थवेद—इन चारों उपवेदों का अध्ययन किया जाना चाहिये । तत्पश्चात् ज्योतिष के सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थ भी पढ़ने चाहिये जिनमें बीजगणित, अङ्कगणित, भूगोल, खगोल तथा भूगर्भ आदि विद्यायें हैं । यही क्रम न्यूनाधिक रूप में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा संस्कारविधि में भी वर्णित हुआ है । पठनीय ग्रन्थों का नामोल्लेख करने के साथ-साथ स्वामीजी उन अनार्ष ग्रन्थों की सूची भी प्रस्तुत करते हैं जिनका अध्ययन वे अपेक्षित नहीं समझते । पठन-पाठन-प्रणाली का यह विस्तृत विवरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि स्वामी दयानन्द संस्कृत शिक्षा-प्रणाली के मर्मज्ञ थे तथा वे उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना चाहते थे ।

स्वामी दयानन्द द्वारा संस्कृत पाठशाला की स्थापना—

अपने जीवनकाल में स्वामी दयानन्द ने संस्कृत भाषा के प्रचार एवं प्रसार के लिए अथक प्रयत्न किये । उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि जब तक आबाल वृद्ध वनिता संस्कृतज्ञ बन कर अपनी सांस्कृतिक निधि की रक्षा नहीं करेंगे तब तक देश का लुप्त गौरव पुनः नहीं आ सकेगा । संस्कृत ग्रन्थ रचना द्वारा उन्होंने देववाणी के सारस्वत भण्डार की जो अपूर्व वृद्धि की, उसका विवरण ऊपर दिया जा चुका है । हम यह भी देख चुके हैं कि स्वामीजी संस्कृत शिक्षण-प्रणाली में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना चाहते थे । संस्कृत शास्त्रों के पठन-पाठन के लिए उन्होंने जिस पाठविधि का निर्माण किया, उसकी रूपरेखा भी उपस्थित की जा चुकी है ।

इसी पाठविधि के क्रियान्वयन के लिए उन्होंने संस्कृत पाठशालाओं की स्थापना का कार्यक्रम अपनाया । धनी वर्ग के लोगों को उन्होंने पाठशाला संस्थापन के पुनीत कार्य में आर्थिक सहायता देने के लिए प्रेरित किया । इन पाठशालाओं का आदर्श प्राचीन गुरुकुल-प्रणाली रखा गया, जिसके अनुसार छात्र और अध्यापक एक दूसरे के निकट सम्पर्क में रहकर चरित्र-निर्माण के साथ-साथ शास्त्राध्ययन में प्रवृत्त हो सकें । इन पाठशालाओं में छात्रों के भोजन, वस्त्र, निवास, पुस्तक आदि की पूर्ण व्यवस्था रहती थी तथा होनहार एवं प्रतिभाशाली छात्रों को छात्रवृत्ति देकर प्रोत्साहित भी किया जाता था ।

(१) इस प्रकार की सर्वप्रथम पाठशाला स्वामीजी के प्रस्ताव पर १९२५ वि० में कासगंज में स्थापित की गई । इसके लिए नगरवासी लोगों से चन्दा एकत्र किया गया था । अपनी द्वितीय बार की यात्रा में स्वामीजी ने

इस पाठशाला का निरीक्षण किया। पाठशाला के कुछ नियम इस प्रकार थे—

१. विद्यार्थियों को संध्योपासना सिखाकर प्रविष्ट किया जाता था।
२. वेद, अष्टाध्यायी, महाभाष्य और मनुस्मृति पाठ्य ग्रन्थ थे।
३. विद्यार्थियों को नगर में जाने की आज्ञा नहीं थी।
४. बाहर के छात्रों के भोजन की व्यवस्था पाठशाला में ही थी।
५. प्रातः सायं अग्निहोत्र करना अनिवार्य था।

पौष कृष्णा ६, संवत् १९३० को स्वामीजी तृतीय बार कासगंज पधारे, पाठशाला का निरीक्षण किया और उसकी व्यवस्था में सुधार किया।

(२) १९२५ वि० के पौष मास में स्वामीजी फर्रुखाबाद आये और लाला वंशीलालजी की आर्थिक सहायता से पाठशाला स्थापित की। इसमें लगभग ५० छात्र प्रविष्ट हुए। यहाँ अष्टाध्यायी पढ़ाई जाती थी। पं० व्रज-किशोर को ३० रु० मासिक पर अध्यापक नियत किया गया। द्वितीय बार १९२७ वि० में फर्रुखाबाद आने पर स्वामीजी ने पूर्व स्थापित पाठशाला का निरीक्षण किया तथा उसके प्रबन्ध में आवश्यक परिवर्तन किये। इस पाठशाला में उन्होंने महाध्यायी मथुरावासी पं० युगलकिशोर को मुख्याध्यापक नियुक्त किया। इसी वर्ष (फरवरी १८७१ ई० में) एक पाठशाला मिर्जापुर में भी स्थापित की गई।

(३) अलीगढ़ जिले के छलेसर ग्रामवासी ठाकुरों के आग्रह पर एक वैदिक पाठशाला इस ग्राम में भी नवम्बर १८७० में स्थापित की गई, जिसमें २० छात्र प्रविष्ट हुए थे।

(४) अपने तृतीय काशी प्रवास काल में जब स्वामीजी वहां पधारे तो उनके आगमन के ६ मास पूर्व ही पौष कृ० २, संवत् १९३० को उनके भक्त महात्मा जवाहरदास ने संस्कृत पाठशाला स्थापित कर दी थी। इसके लिए केदार मंदिर के निकट किराये का एक मकान भी ले लिया गया तथा पं० शिवकुमार शास्त्री को अध्यापक नियुक्त किया गया। ये वे ही शिव-कुमार शास्त्री थे जो आगे चल कर महामहोपाध्याय बने और काशी की पण्डितमण्डली के शिरोभूषण समझे गये।

योग्य अध्यापकों के अभाव तथा आर्ष ग्रन्थों के पठन-पाठन में छात्रों की अधिक रुचि न होने के कारण स्वामीजी को अपने जीवन काल में ही इन पाठ-शालाओं को बंद कर देना पड़ा था। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी अध्या-पकों में जिन गुणों की अपेक्षा रखते थे उस प्रकार के अध्यापकों का नितान्त अभाव था। अधिकांश पण्डित अध्यापक स्वामीजी की विचारधारा के प्रतिकूल

पौराणिक विचार धारा से प्रभावित तथा 'अष्टाध्यायी-पद्धति' से छात्रों को संस्कृत पढ़ाने में असमर्थ थे। स्वामीजी के साथ उनका वैचारिक तालमेल बैठना कठिन था। फलतः संस्कृत पठन-पाठन का यह क्रम सफल नहीं हो सका। फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि संस्कृत-शिक्षा के उद्धार-हेतु स्वामीजी का पाठशाला संस्थापन का यह कार्य वस्तुतः श्लाघनीय था। इन पाठशालाओं में ही आर्यसमाज द्वारा कालान्तर में स्थापित गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के बीज छिपे थे जिसने संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्तन उपस्थित किया।

पाठशाला-संस्थापन में स्वामी दयानन्द की दृष्टि—

स्वामीजी का जो पत्रव्यवहार प्रकाशित हुआ है उससे यह बात भली-भांति सिद्ध होती है कि वे इन पाठशालाओं में संस्कृत के अध्यापन को सर्वोपरि महत्त्व देने के पक्ष में थे। यदि इन पाठशालाओं में भी संस्कृत का स्थान गौण हो जाता है तो उन्हें चलाने में कोई सार्थकता नहीं है, यह उनका निश्चित मत था। दानापुर निवासी बाबू माधोलाल को पत्र लिखते हुए वे इस बात पर प्रसन्नता प्रकट करते हैं कि उन्होंने संस्कृत पाठशाला खोलने का निश्चय किया है।[1] फर्रुखाबाद निवासी लाला कालीचरण रामचरण को पत्र लिखते समय यह लिखना नहीं भूलते **"इस पाठशाला में अधिक करके संस्कृत की उन्नति पर ध्यान रहना चाहिये।"**[2] फर्रुखाबाद की पाठशाला के विषय में अनेक शिकायतें सुनने के अनन्तर स्वामीजी ने सेठ निर्भयराम को लिखा—

"विदित हुआ है कि आप लोगों की पाठशाला में आर्यभाषा संस्कृत का प्रचार बहुत कम और अन्य भाषा उर्दू, फारसी अधिक पढ़ाई जाती है। इससे वह अभीष्ट, जिसके लिये पाठशाला खोली गई है, सिद्ध नहीं होता दीखता। वरन आपका यह हजारहा मुद्रा का व्यय संस्कृत की ओर से निष्फल होता भासता है। आप लोग देखते हैं कि बहुत काल से आर्यावर्त में संस्कृत का अभाव हो रहा है। **वरन संस्कृतरूपी मातृभाषा की जगह अंग्रेजी लोगों की मातृभाषा हो चली है।**"

इसी पत्र में आगे पाठशाला संस्थापन का ध्येय ही संस्कृतप्रचार बताते हुए लिखते हैं—

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ० १४०तथा पृ० १३२।
२. ,, ,, पृ० २८१।

"अब इसके साधनार्थ यह होना चाहिये कि कुल पठन-पाठन समय के छ घण्टों में तीन घण्टे संस्कृत, दो घण्टे अंग्रेजी और एक घण्टा उर्दू फ़ारसी पढ़ाई जाया करे और प्रतिमास संस्कृत की परीक्षा अन्य पण्डितों द्वारा हुआ करे।"[1]

फर्रुखाबाद के ही राजा दुर्गाप्रसादजी को पत्र लिखते हुए स्वामीजी लिखते हैं—"जहां तक बने पाठशाला के उद्देश्य पर कि संस्कृत की उन्नति होनी सो इस पर अच्छी प्रकार ध्यान रहे।"[2] इन्हीं राजा दुर्गाप्रसादजी को एक अन्य पत्र में पाठशाला विषयक दायित्व निर्वाह करने के लिए कहते हैं—

"पाठशाला में संस्कृत का काम ठीक-ठीक होना चाहिये। जैसे मिशन स्कूलों में लड़के अपने अन्य स्वार्थसिद्धि के लिये बाइबल सुन लेते हैं, वैसे जो संस्कृत सुन लिया तो क्या लाभ होगा? इस पाठशाला में **मुख्य संस्कृत जो मातृभाषा है उसको ही वृद्धि देनी चाहिये।** वरन फारसी का होना कुछ अवश्य नहीं। केवल संस्कृत और राजभाषा अंग्रेजी दो ही का पठन-पाठन होना अवश्य है।"[3]

स्वामीजी अपने द्वारा स्थापित संस्कृत पाठशालाओं की प्रगति का लेखा-जोखा यदा-कदा व्यवस्थापकों से मांगते रहते थे। फर्रुखाबाद के लाला कालीचरण रामचरण को एक पत्र में उन्होंने लिखा—

"तुम्हारा प्रबन्ध भी पाठशाला विषयक अच्छा नहीं है। अब कई बार हमने लिखा कि पण्डित लक्ष्मीदत्तजी के आने के पश्चात् वा पहले संस्कृत में कौन-कौन ग्रन्थ को किस-किसने वा कितनों ने पढ़ा वा पढ़ते हैं, उसका समाचार कुछ भी नहीं लिखा। इससे विदित होता है कि **तुम्हारी पाठशाला में अलिफ-बे और कैट-बैट की भरमार है जो कि आर्यसमाजों को विशेष कर्त्तव्य नहीं है।**"[4]

स्पष्ट है कि स्वामीजी इन पाठशालाओं में संस्कृत पठन-पाठन को ही प्रधानता देने के इच्छुक थे। संस्कृत प्रचार में उन्हें असफल होते देखकर उन्हें बन्द कर देना ही श्रेयस्कर समझा गया।

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ० २९० ।
२. ,, ,, पृ० २९१ ।
३. ,, ,, पृ० २९२ ।
४. ,, ,, पृ० ४०५ ।

संस्कृत भाषा के प्रचारार्थ स्वामी दयानन्द का आन्दोलनात्मक कार्य—

दण्डी विरजानन्द की पाठशाला से अध्ययन समाप्त कर जब स्वामी दयानन्द कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण हुए तो उन्होंने सर्वप्रथम गंगा के तटवर्ती प्रदेश में भ्रमण का कार्यक्रम बनाया। इससे पूर्व वे हरिद्वार में कुम्भ के अवसर पर पाखण्ड-खण्डिनी पताका खड़ी कर देशवासियों में व्याप्त साम्प्रदायिक दुराग्रह और मिथ्या विश्वासों के मूलोच्छेद की प्रतिज्ञा कर चुके थे। इन दिनों उनका सम्पूर्ण सम्भाषण संस्कृत के माध्यम से ही होता था। गंगातीर पर भ्रमण करते समय संस्कृत में ही बोलने की वे प्रतिज्ञा कर चुके थे।[1] लोगों का यह कहना कि उनकी संस्कृत भाषा इतनी सरल होती है कि सामान्य पठित व्यक्ति को भी उसे समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती, यथार्थ ही था। पारस्परिक वार्तालाप के प्रसंग में स्वामीजी अपने भक्तों को संस्कृत पढ़ने की प्रेरणा करते थे। उनकी ऐसी ही प्रेरणा से अनुप्राणित होकर आगरा निवासी पं० सुन्दरलालजी तथा बालमुकुन्दजी ने अष्टाध्यायी पढ़ना आरम्भ कर दिया था।[2]

जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंहजी को स्वकर्त्तव्यों का बोध कराने के लिए जो पत्र स्वामीजी ने लिखा था उसमें निम्न परामर्श अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

"महाराजकुमार के सब संस्कार वेदोक्त कराइयेगा। २५ वर्ष तक ब्रह्मचारी रख के प्रथम देवनागरी भाषा और पुनः संस्कृत विद्या, जो कि सनातन आर्ष ग्रन्थ हैं जिनके पढ़ने में परिश्रम और समय कम होवे और महालाभ प्राप्त हो, इन दोनों को पढ़े। पश्चात् यदि समय हो तो अंग्रेजी भी, जो कि ग्रामर और फिलासफी के ग्रन्थ हैं, पढ़ने चाहियें।"[3]

यहाँ यह बात विशेष द्रष्टव्य है कि स्वामीजी नरेशों और राजपुरुषों के लिए भी संस्कृत का ज्ञान अनिवार्य समझते थे। इसी प्रकार अपने एक अन्य पत्र में वे थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापकों—कर्नल आल्काट तथा मैडम ब्लैवेट्स्की के विषय में जिज्ञासा करते हुये पूछते हैं—"उन्होंने संस्कृत पढ़ने का आरम्भ किया है या नहीं?"[4]

---

१. "देववाणी में वार्तालाप करता हुआ कुछ काल के लिए गंगा के किनारे-किनारे भ्रमण करूंगा।" श्रीमद्दयानन्दप्रकाश गंगाकाण्ड, छठा सर्ग, पृ० ११६।

२. श्रीमद्दयानन्दप्रकाश गंगाकाण्ड, प्रथम सर्ग पृ० ६०।

३. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० ४६४।

४. ,, ,, पृ० १३४।

स्वामीजी के वेदभाष्य के विषय में कई लोगों की यह धारणा थी कि यदि इसका अंग्रेजी और उर्दू में अनुवाद हो जाय तो अधिकाधिक लोग उसका लाभ उठा सकेंगे। स्वामीजी इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे। उनकी यह सम्मति थी कि यदि उनके वेदभाष्य का अंग्रेजी अनुवाद सुलभ हो जायगा तो लोग संस्कृत वा हिन्दी के माध्यम से इसे पढ़ने में निरुत्साहित हो जायेंगे और यह इन्हें कदापि इष्ट नहीं था कि लोग संस्कृत माध्यम से वेदाध्ययन करने की अपेक्षा अंग्रेजी वा उर्दू के माध्यम से पढ़ें। बम्बई निवासी श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को पत्र लिखते हुए उन्होंने इसी बात को स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं—

"I feel necessity to inform you that the Veda Bhashya must not be translated into English or Vernacular before reaching its completion because if translated into English or Urdu then it will weaken the hearts of the people to study Sanskrit, thinking that they would be able to gain their object either by English or Urdu without caring for Sanskrit and Bhasha. Let the Bhashya first be reached its completion in pure Sanskrit and Bhasha only."[1]

यही बात स्वामीजी ने मैडम ब्लैवेट्स्की को पत्र लिखते हुए लिखी—

"Supposing all these arrangements (of translating Veda Bhashya into English) can be successfully made the greatest drawback then is that the Aryan (English Student) community of India will, on the appearance of English translation of my Veda Bhashya, give up the Sanskrit and Hindi Studies which they are so vehemently pursuing now-a-days in order to enable themselves to read Veda Bhashya, which is the chief object of mine."[2]

स्वामीजी के पत्रों के इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि वेदभाष्य के संस्कृत में रचे जाने का यह भी उद्देश्य था कि उसे पढ़ने के लिए भारतवासी अधिकाधिक संस्कृत पढ़ें।

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ० ८१।

२. " " पृ० १५५।

संस्कृत के प्रचार को बढ़ाने के लिए स्वामी दयानन्द ने जो आन्दोलनात्मक प्रवृत्ति अपनाई उसका दिग्दर्शन आवश्यक है। उनके द्वारा प्रकाशित एक विज्ञापन, जो संवत् १९३५ वि० के कुम्भ के मेले पर सहस्रों की संख्या में हरिद्वार के समस्त मार्गों, घाटों, पुलों और मन्दिरों की दीवारों पर लगाया गया था, संस्कृत के प्रचार के विषय में निम्न प्रेरणा जनसाधारण को देता है—

"जैसा आर्यावर्तवासी आर्य लोग आर्यसमाजों के सभासद करते हैं और करना चाहते हैं कि संस्कृत विद्या के जानने वाले स्वदेशियों की बढ़ती के अभिलाषी, परोपकारक, निष्कपट होके सबको सत्य विद्या देने की इच्छायुक्त धार्मिक विद्वानों की उपदेशक मण्डली और वेदादि सत्यशास्त्रों के पढ़ने के लिए पाठशाला किया चाहते हैं।"[1]

इसी प्रकार का एक अन्य विज्ञापन सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के हस्तलेख के अन्त में है जिसे पं० भगवद्दत्त ने 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' शीर्षक ग्रन्थ में संगृहीत किया है। विज्ञापन की भाषा का रूप पर्याप्त पुराना होने के कारण आज के परिष्कृत हिन्दी गद्य से पर्याप्त प्रतिकूल-सा लगता है। विज्ञापन में अंग्रेज शासकों से संस्कृत विद्या के उद्धारार्थ प्रार्थना की गई है। विज्ञापन के कतिपय अंश इस प्रकार हैं—

"इससे मेरा विज्ञापन है आर्यावर्त देश का राजा इंगरेज बहादुर से कि संस्कृत विद्या की ऋषि-मुनियों की रीति से प्रवृत्ति करायै। इस्से राजा और प्रजा को अनन्त सुखलाभ होगा। और जितने आर्यावर्तवासी सज्जन लोग हैं उनसे भी मेरा यह कहना है कि इस सनातन संस्कृत विद्या का उद्धार अवश्य करें। और जो यह संस्कृत विद्या लोप हो जायगी तो सब मनुष्यों की बहुत हानि होगी।.........**आर्यावर्त देश की स्वाभाविक सनातन विद्या संस्कृत ही है, उसी से इस देश का कल्याण होगा, अन्य देशभाषा से नहीं। अन्य देशभाषा तो जितना प्रयोजन हो उतनी ही पढ़नी चाहिये और विद्यास्थान में संस्कृत ही रहनी चाहिये।**"[2]

स्वामी दयानन्द ने अष्टाध्यायी की जो संस्कृत और हिन्दी वृत्ति बनाई थी उसका विज्ञापन ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के अंक संख्या १५, १६ के अन्तिम पृष्ठों पर छपा है। इस विज्ञापन में सस्कृत भाषा के अध्ययन के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए अष्टाध्यायी व्याकरण की महत्ता बताई गई है। विज्ञापन की अगली पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ० १३०।
२. ,, ,, पृ० २२।

काशी में छपते रहे। ज्यों-ज्यों लेखन और प्रकाशन का कार्य बढ़ने लगा स्वामीजी एक स्वकीय प्रकाशन संस्थान खोलने की आवश्यकता अनुभव करने लगे। अन्त में वेदभाष्य के मुद्रण तथा अन्यान्य संस्कृत शास्त्रों के प्रकाशन के ध्येय से इन्होंने वैदिक यन्त्रालय की स्थापना की। सर्वप्रथम यह मुद्रणालय काशी में लक्ष्मीकुण्ड पर महाराज विजयनगराधिपति के स्थान पर माघ शु० २, सं० १९३६ वि० गुरुवार को खोला गया। प्रारम्भ में इसका नाम **आर्य-प्रकाश यन्त्रालय** रखने का विचार था।[१] बाद में इसका नाम **वैदिक यन्त्रालय** रखा गया।[२]

इस प्रेस में स्वामीजी का वेदभाष्य तथा अन्य ग्रन्थ तो छपते ही थे, यदा-कदा बाहर का काम भी होता था। देशहितैषी तथा भारत सुदशा प्रवर्त्तक पत्र भी इसी प्रेस में छपते थे। बाहर का काम अधिक होने से जब शास्त्रग्रन्थों के छपने में अधिक विलम्ब हो जाता तो यह स्वामी दयानन्द को असह्य प्रतीत होता। उन्होंने प्रेस के व्यवस्थापक मुन्शी समर्थदान को अनेक पत्रों में स्पष्ट लिख दिया था कि "यह यन्त्रालय रोजगार के वास्ते नहीं है। केवल सत्य-शास्त्रों को छापकर प्रसिद्ध करने के लिए है, न कि व्यापार के लिए।"[३] यही ध्वनि स्वामीजी के एक अन्य पत्र से भी निकलती है।[४] इससे विदित होता है कि वैदिक यन्त्रालय की स्थापना में स्वामीजी का मुख्य उद्देश्य पुरातन संस्कृत शास्त्रों के मुद्रण और प्रकाशन के कार्य को गति देना था।

स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित वैदिक यन्त्रालय से संस्कृत के शास्त्रीय साहित्य के प्रकाशन का महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है। स्वामीजी रचित वेदभाष्य, वेदांगप्रकाश, अष्टाध्यायीभाष्य के अतिरिक्त चारों वेद-संहिता, चतुर्वेद-मन्त्रा-नुक्रमणी, अष्टाध्यायी सूत्रपाठ, निरुक्त मूल तथा शतपथ ब्राह्मण[५] आदि ग्रन्थों का प्रकाशन भी इस यन्त्रालय द्वारा समय-समय पर होता रहा है। स्वामीजी की मृत्यु के पश्चात् यन्त्रालय अजमेर आ गया, इससे पूर्व वह प्रयाग में स्थानान्तरित कर दिया गया था।

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ० १८१।

२. " " पृ० १८३। लाला मूल-राज के नाम पत्र।

३. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ० ४१३।

४. " " पृ० ४१६। बाबू विश्वे-श्वरसिंह के नाम पत्र।

५. शतपथ ब्राह्मणम्—माध्यन्दिनीयम् १९५९ वि० में प्रकाशित।

इस विवेचन में स्वामी दयानन्द के व्यापक संस्कृत सेवा कार्य का सिंहावलोकन किया गया है। उन्होंने अपने स्वल्प कार्यकाल में संस्कृत भाषा में विशाल साहित्य रचना तो की ही संस्कृत भाषा के प्रचारार्थ पाठशालाओं की स्थापना, संस्कृत शास्त्रों के प्रचारार्थ प्रेस की स्थापना आदि उल्लेखनीय कार्य भी किये। अपने निजी पत्रव्यवहार और प्रकाश्यमान विज्ञापनों में संस्कृत का प्रयोगकर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि संस्कृत आज भी देश की जीवित और जाग्रत भाषा है जो भावाभिव्यक्ति का सशक्त साधन बन सकती है। उन्होंने अपने अनुयायियों को संस्कृत सेवा की जो अमर प्रेरणा दी उसका एक सुखद परिणाम यह निकला कि उनके दिवंगत होने के पश्चात् भी आर्यसमाज में संस्कृत भाषा और साहित्य की सेवा की परम्परा सुदृढ़रूपेण स्थापित हो गई। आगामी अध्यायों में स्वामी दयानन्द के परवर्तीकाल में हुए आर्यसमाज के संस्कृत विषयक कार्य की समीक्षा की जायगी।

"वेद और प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के ज्ञान के विना किसी को संस्कृत विद्या का यथार्थ फल नहीं हो सकता और इसके विना मनुष्य जन्म का साफल्य होना दुर्घट है।"[1]

संस्कृत भाषा के प्रचार और प्रसार में स्वामी दयानन्द की कितनी रुचि थी और वे इस कार्य को कितनी प्राथमिकता देते थे, यह उनके पत्रों और विज्ञापनों के उपर्युक्त अन्तःसाक्ष्य से भलीभांति व्यक्त होता है।

स्वामी दयानन्द के संस्कृत पत्र और विज्ञापन—

स्वामी दयानन्द ने संस्कृत भाषा का व्यावहारिक कार्यों में उपयोग कर यह सिद्ध कर दिया कि जो लोग संस्कृत का अध्ययन केवल भारत के पुराकालीन धर्म, दर्शन, संस्कृति और तत्त्वज्ञान की जानकारी प्राप्त करने की दृष्टि से ही करते हैं, उनकी दृष्टि एकांगी है। आज भी संस्कृत सहस्रों नहीं, अपितु लाखों भारतवासियों के व्यवहार और उपयोग में आने वाली भाषा है। स्वामीजी ने शतशः पत्र और विज्ञापन संस्कृत में लिखे। कानपुर के शोलेतूर नामक पत्र के २७ जुलाई १८६९ के अङ्क में स्वामीजी ने एक विज्ञापन प्रकाशित कराया। इसमें उन्होंने अपने द्वारा मान्य ग्रन्थों की सूची दी है तथा त्यागने योग्य आठ गप्पों को गिनाया है। यह विज्ञापन सरल संस्कृत भाषा में है। विज्ञापन की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

"मनुष्यकृताः सर्वे ब्रह्मवैवर्तपुराणादयो ग्रन्थाः प्रथमं गप्पम्। पाषाणादिपूजनं देवबुद्ध्या द्वितीयं गप्पम्। शैवशाक्तवैष्णवगाणपत्यादयः सम्प्रदायास्तृतीयं गप्पम्। तन्त्रग्रन्थोक्तो वाममार्गश्चतुर्थं गप्पम्। भङ्गादिनशाकरणं पञ्चमं गप्पम्। परस्त्रीगमनं षष्ठं गप्पम्। चौरीति सप्तमं गप्पम्। कपटच्छलाभिमानानृतभाषणमष्टमं गप्पम्। एतान्यष्टौ गप्पानि त्यक्तव्यानि।"[2]

इन निषेधात्मक आठ तत्त्वों के विपरीत ग्रहण करने योग्य आठ सत्यों का भी इस विज्ञापन में उल्लेख किया गया है।

एक अन्य विज्ञापन स्वामीजी ने वेदभाष्य के प्रचारार्थ प्रकाशित कराया था। विज्ञापन के आरम्भ में एक श्लोक भाष्यारम्भ की तिथि की सूचना देता है—

---

१. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० ८८।

२. ,, ,, पृ० २-३।

कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले।
प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया ।।

विज्ञापन की प्रारम्भिक पंक्तियां इस प्रकार हैं—

"तदिदमिदानीं पर्यन्तं दशसहस्रश्लोकप्रमितं तु सिद्धं जातम् । तच्चेदं प्रत्यहमग्रेऽग्रे न्यूनान्न्यूनं पञ्चाशच्छ्लोकप्रमितं नवीनं रच्यत एवमधिकादधिकं शतश्लोकप्रमाणं च । तच्च वाराणस्यां लाजरसकम्पन्याख्यस्य यन्त्रालये प्रतिमासं मासिकपुस्तकवद्यन्त्रितं कार्यते ।"[1]

अपने काशी प्रवासकाल में शास्त्रार्थ हेतु स्वामीजी ने एक विज्ञापन संस्कृत भाषा में लिखकर प्रकाशित कराया । इसमें उन्होंने काशी में विद्यमान रहने, स्वसिद्धान्तों की पुष्टि तथा साम्प्रदायिक विश्वासों के खण्डन करने का उल्लेख कर प्रतिपक्षी पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए आहूत किया है । विज्ञापन की शैली से ही प्रकट हो जाता है कि संस्कृत भाषा में शास्त्रार्थचर्चा तथा धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन तथा निरूपण की कितनी क्षमता है ? विज्ञापन की भाषा का नमूना द्रष्टव्य है—

"अतोऽत्र यस्य कस्यचिद्वेदादिसत्यशास्त्रार्थविज्ञापने प्रवीणस्य सभ्यस्य शिष्टस्याप्तस्य विदुषो विप्रतिपत्तिः स्वमतस्थापने परमतखण्डने च सामर्थ्यं वर्तते, स स्वामिभिः सह शास्त्रार्थं कृत्वैतेषां मण्डनाय प्रवर्तेत नेतरः खलु । इह शास्त्रार्थे वेदा मध्यस्था भविष्यन्ति । एतेषामर्थनिश्चयाय ब्रह्मादिजैमिनिपर्य्यन्तैर्मुनिभिर्निर्मिता ऐतरेयब्राह्मणादिपूर्वमीमांसापर्यन्ता आर्षा वेदानुकूला वादिप्रतिवाद्युभयसम्मता ग्रन्था मन्तव्याश्च ।"[2]

विज्ञापन प्रकाशित कराने के अतिरिक्त स्वामीजी ने अपने परिचित मित्रों तथा भक्तों को संस्कृत में पत्र भी लिखे । इस प्रकार के समस्त उपलब्ध पत्रों का संग्रह किया जा चुका है । भाषा के प्रयोग की दृष्टि से ये पत्र नितान्त महत्त्वपूर्ण हैं । निम्न व्यक्तियों को स्वामीजी यदा-कदा संस्कृत में पत्र लिखा करते थे—(१) थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापक कर्नल एच० एस० आल्काट तथा मैडम एच० पी० ब्लैवेट्स्की (२) स्वामीजी के प्रमुख शिष्य तथा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा । (३) संस्कृत की पण्डिता महाराष्ट्र निवासिनी श्रीमती रमाबाई ।

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ० ३३ ।
२. " " पृ० १७१ ।

एक संस्कृत पत्र स्वामीजी ने अपने सहाध्यायी पं० गंगादत्त चौबे मथुरा निवासी को भी लिखा था, जिसमें उनसे फर्रुखाबाद की पाठशाला में अध्यापन कार्य स्वीकार करने के लिए निवेदन किया था।[1] स्वामीजी के पत्रों की भाषा प्रासादगुणयुक्त समासबहुला तथा अलंकृता है। थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापकों के प्रति अपनी शुभ कामनायें प्रकट करते हुए वे इस बात पर हर्ष प्रकट करते हैं कि पर्याप्त समय पश्चात् पुनः आर्यावर्त और पाताल (अमेरिका) देशवासियों के बीच हार्दिक सम्बन्ध स्थापित हुए हैं और परस्पर पत्राचार का अवसर उपलब्ध हुआ है। इसे स्वामीजी ईश्वर कृपा का ही फल मानते हैं। मूल पत्र की प्रासंगिक पंक्तियां इस प्रकार हैं—

"अहो अनन्तवन्यवादार्हैकस्य सर्वशक्तिमतः सर्वत्रैकरसव्यापकस्य सच्चिदानन्दानन्ताखण्डाजनिर्विकाराविनाशिन्यायदयाविज्ञानादिगुणाकरस्य सृष्टिस्थितिप्रलयमुख्यनिमित्तस्य सत्यगुणकर्मस्वभावस्य निर्भ्रमाखिलविद्यस्य जगदीश्वरस्य कृपया पञ्चसहस्रावधिसंवत्सरप्रमितव्यतीतात् कालान्महाभाग्योदयेनासमक्षव्यवहाराणामस्मत्प्रियाणां पातालदेशे निवसतां युष्माकमार्य्यावर्त्तनिवासिनामस्माकं च पुनः परस्परं प्रीत्युद्भवोपकारपत्रव्यवहारप्रश्नोत्तरसमय आगतः।"[2]

इन पंक्तियों में भाषा की सामासिकता विशेषतया द्रष्टव्य है।

संस्कृत की विदुषी महाराष्ट्रदेशीया पण्डिता रमाबाई को स्वामीजी ने जो पत्र लिखे, उनमें उन्होंने रमाबाई के संस्कृत-ज्ञान की प्रशंसा की है तथा उनसे यह आग्रह किया है कि वे भारत के महिलासमाज को शिक्षित बनाने में अपना जीवन लगा दें। उन्होंने उपनिषद् कालीन ब्रह्मवादिनी गार्गी का उदाहरण देकर श्रीमती रमाबाई से जिज्ञासा की है कि क्या वे उक्त प्रकार की कन्याओं के शिक्षण में अपने जीवन को लगाना चाहती हैं या एक सामान्य व्यक्ति की भांति विवाह कर कालयापन करना चाहती हैं। पत्र की प्रासंगिक पंक्तियां इस प्रकार हैं—

"यथाऽऽर्य्यावर्त्तीयाः सत्यो विदुष्यो गार्ग्यादयः कुमार्य्यो ब्रह्मचर्ये स्थित्वा स्त्रीजनादिभ्यो यावान् सुखलाभः प्रापितवत्यस्तथा तावान् विवाहे कृतेऽनेकप्रतिबन्धकप्राप्त्या प्रापितुमशक्यः, एवं सत्यपि स्वसमानवरं पुरुषं प्राप्य विवाहं कृत्वा यथाऽनेकाः स्त्रियः सन्तानोत्पत्तिपालनस्वगृहकृत्यानुष्ठाने प्रवर्त्तन्ते तथैव भवत्या इच्छास्ति वा पुनरपि कन्यकाभ्योऽध्यापनस्य स्त्रीभ्यः सुशिक्षाकरणेच्छास्ति।"[3]

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ० ४।
२. ,, ,, पृ० ६१।
३. ,, ,, पृ० १६२।

अपने पट्ट शिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा को लिखे गए स्वामीजी के सभी पत्र भाषा, सौन्दर्य तथा शैली की मनोहरता की दृष्टि से अवलोकनीय हैं। एक पत्र तो श्लोकबद्ध है। पत्र के प्रारम्भिक पद्यों में से एक नमूने के रूप में द्रष्टव्य है—

स्वस्ति श्रीश्रौतमार्गप्रकृतपरिचयस्वान्तसिद्धान्तधर्मा
नानातर्कप्रयासैर्विविधगुणभरश्रान्तिविश्रान्तिशर्मा।
देशे-देशे प्रवादोत्पथजनमथितोत्कर्षसद्धर्षकर्म्मा
भूयोभूयस्समीयाद्बुधकृतिजनितं सत्फलं कृष्णवर्मा॥[1]

पत्रान्त के श्लोक में पत्र लिखने की तिथि का संकेत है—

नवगुणनवचन्द्रे विक्रमादित्यवर्षे
रसतिथिशनिवारे चाश्विने कृष्णपक्षे।
बुधजनसुखदात्रे कृष्णवर्माभिधाय
प्रथितविबुधवाण्या प्रेषितं पत्रमेतत्॥[2]

श्यामजी कृष्ण वर्मा को लिखे गए इन संस्कृत पत्रों का उद्धार हिन्दी के प्रख्यात विद्वान् डा० धीरेन्द्र वर्मा ने पेरिस से किया। मूल पत्र डा० वर्मा के पास सुरक्षित हैं।

पत्रों और विज्ञापनों में संस्कृत भाषा का यह प्रयोग स्वामी दयानन्द की इस मान्यता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि इस भाषा का प्रयोग सामान्य लोकव्यवहार के कार्यों में भी किया जा सकता है। विशेषतः भारत के उन प्रान्तों के निवासी पुरुषों के बीच वार्तालाप और पत्राचार का संस्कृत भाषा एक ऐसा माध्यम हो सकती है, जिनकी मातृभाषाएं भिन्न हैं। गुर्जर-देशीय श्यामजी कृष्ण वर्मा तथा महाराष्ट्र देश वास्तव्या श्रीमती रमाबाई से स्वामीजी का संस्कृत पत्रव्यवहार इसी तथ्य का द्योतक है। स्वामीजी के संस्कृत पत्र भाषानुवाद सहित दयानन्द लेखावली भाग—१ में प्रकाशित हो चुके हैं। इस ग्रन्थ का सम्पादन भक्त रैमल ने किया है।

वैदिक यन्त्रालय की स्थापना—

जिस समय स्वामी दयानन्द ने वेदभाष्य तथा अन्य ग्रन्थ रचना कार्य प्रारम्भ किया, उसी समय से उनके मुद्रण और प्रकाशन की समस्या सामने आई। प्रारम्भ में उनके ग्रन्थ निर्णयसागर यन्त्रालय, बम्बई तथा लाजरस प्रेस

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ० २३६।
२. ,, ,, पृ० २३१।

अध्याय ५

[आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा रचित शास्त्रीय साहित्य]

संस्कृत भाषा के सम्पूर्ण साहित्य को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) शास्त्रीय साहित्य और (२) रसपरक साहित्य। शास्त्रीय साहित्य से हमारा तात्पर्य वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग, दर्शन, स्मृति, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण आदि उस ग्रन्थ-राशि से है जिसमें भारतवासी आर्यजाति के धर्म, दर्शन, तत्त्वज्ञान, अध्यात्म, कर्मकाण्ड तथा सामाजिक विधि-विधान विषयक विचारों का विवेचन हुआ है। इस साहित्य के प्रणयन में कई सहस्राब्दियां लग गईं। सहस्रों ग्रन्थों के मुद्रित और प्रकाशित होने के पश्चात् भी अभी शतशः ऐसे ग्रन्थ शेष हैं जिनकी पाण्डुलिपियां पुस्तक भण्डारों तथा अद्भुतालयों की ही शोभा बढ़ा रही हैं। इसी प्रकार ऐसे अनेक ग्रन्थों के नाम मिलते हैं जो अब दुर्लभ हो गये हैं। इनका अन्य ग्रन्थों में उल्लेख वा उद्धरण मात्र ही जिनके अस्तित्व का साक्ष्य दे रहा है। संस्कृतशास्त्र रचना की परम्परा आरम्भ से लेकर विक्रम की अठारहवीं शताब्दी पर्यन्त अविच्छिन्न गति से प्रवाहित होती रही।

प्रस्तुत अध्याय में हम आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा किये गए शास्त्रीय-साहित्य सम्बन्धी कार्य का विवेचन करेंगे। शास्त्रीय ग्रन्थों के इतिहास में मौलिक ग्रन्थ रचना के साथ-साथ उन पर भाष्य, टीका, वार्तिक, विवरण, न्यास, चूर्णिका आदि व्याख्या ग्रन्थों के लिखने की परिपाटी भी अपना महत्त्व रखती है। यहां तक कि पतञ्जलि, शंकर और वाचस्पति मिश्र जैसे महान् आचार्यों ने व्याकरण, वेदान्त, न्याय, सांख्य आदि पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की अपेक्षा जिन विशद भाष्यों और टीकाओं की रचना की, वे ही उनकी मौलिक प्रतिभा, अनूठी ऊहा तथा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के दिग्दर्शक हैं। यही कारण है कि इन भाष्य और टीका लेखक आचार्यों को परवर्ती विद्वानों ने 'भगवान् भाष्यकार' जैसे आदरास्पद वचन से सम्बोधित किया है।

आर्यसमाज के विद्वानों ने भी वेद, वेदांग, दर्शन, उपनिषद्, स्मृति तथा रामायण महाभारतादि इतिहास ग्रन्थों पर भाष्य, टीका, विवरण आदि ग्रन्थ

लिखकर विपुल मात्रा में शास्त्रीय साहित्य का निर्माण किया। इन लेखकों ने वेद, वेदांग तथा दर्शन जैसे गूढ़ शास्त्रीय विषयों पर अपनी टीकायें और व्याख्यायें लिखकर इन क्लिष्ट विषयों को जो सुगम, सुबोध तथा जनसुलभ बनाने का प्रयास किया, वह सर्वथा श्लाघनीय है। आर्यसमाजी विद्वानों ने इन शास्त्रीय ग्रन्थों पर संस्कृत में तो भाष्यादि लिखे ही, लोकभाषा हिन्दी में भी उनकी विशद व्याख्यायें प्रस्तुत कीं। इस प्रकार गीर्वाणवाणी की शास्त्र-सम्पत्ति को अधिकाधिक लोकोपयोगी एवं जनसुलभ बनाने की चेष्टा की गई।

आर्यसमाजी लेखकों के शास्त्रीय लेखन कार्य का अध्ययन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

१. वेद तथा वेद विषयक साहित्य।
२. शाखा, ब्राह्मण, उपनिषद् तथा वेदांग विषयक कार्य
३. षड्दर्शनों पर भाष्य और टीका लेखन।
४. स्मृति, इतिहास एवं पुराण विषयक कार्य।
५. स्फुट शास्त्रीय साहित्य की रचना।

सर्वप्रथम हम वेदों के भाष्य, वैदिक सूक्तों की स्फुट व्याख्या तथा वेद विषयक विवेचनीय समस्याओं पर किये गए कार्य को लेते हैं।

वेद-विषयक साहित्यिक प्रयत्न—आर्यसमाज के प्रवर्तक ने वेद की चार संहिताओं के महत्त्व का विशिष्ट रीति से प्रतिपादन किया था। उन्होंने मध्यकालीन आचार्यों की इस धारणा का खण्डन किया कि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा है।[1] उनकी यह मान्यता थी कि केवल मन्त्र-संहितायें ही वेद कहलाने की अधिकारिणी हैं तथा ब्राह्मण ग्रन्थ इन मन्त्रों की ऋषिप्रणीत व्याख्यायें हैं। स्वामी दयानन्द की दृष्टि में वेद-संहितायें ईश्वरोक्त होने के कारण स्वतः प्रमाण हैं, जबकि ब्राह्मण ग्रन्थ ऋषिप्रणीत होने के कारण परतः प्रमाण हैं। स्वामी दयानन्द ने वेदार्थ-विवेचन तथा वेद की विश्वव्याप्ति के लिए जो कार्य किया, उसका विवरण पूर्व अध्याय में दिया जा चुका है। स्वामी-जी के परलोकगत होने पर आर्यसमाजी विद्वानों ने उनके द्वारा लिखित अपूर्ण वेदभाष्य को पूरा करने का प्रयत्न किया तथा स्वतन्त्र रूप से भी वेदव्याख्या और वेदविवेचनात्मक प्रभूत साहित्य का निर्माण किया।

स्वामीजी के वेदभाष्य को पूरा करने का प्रयत्न—स्वामी दयानन्द अपने जीवनकाल में यजुर्वेद का सम्पूर्ण तथा ऋग्वेद का आंशिक भाष्य ही

१. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—आपस्तम्ब यज्ञपरिभाषा सूत्र।

सम्पन्न कर सके थे। उनके देहावसान के पश्चात् निम्न आर्यसमाजी विद्वानों ने ऋग्वेद के शेष भाग पर भाष्य लिखने का प्रयास किया।

(१) पं० तुलसीराम स्वामी—मेरठ निवासी पं० तुलसीराम स्वामी ने अपने मासिक पत्र **'वेदप्रकाश'** में ऋग्वेद के सातवें मण्डल के ६१वें सूक्त के तृतीय मन्त्र से आगे भाष्य लिखना आरम्भ किया। यह भाष्य उक्त पत्र के जुलाई १९१६ के अङ्क से प्रारम्भ होकर कई अङ्कों में धारावाही रूप से प्रकाशित होता रहा। भाष्य संस्कृत तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में लिखा जाता था। पं० तुलसीराम स्वामी की मृत्यु हो जाने के उपरान्त उनके अनुज तथा वेदप्रकाश के सम्पादक पं० छुट्टनलाल स्वामी ने भी इस भाष्य का कुछ अंश लिखा।

(२) पं० शिवशङ्कर शर्मा—ऋग्वेद के स्वामी दयानन्द कृत अपूर्ण भाष्य को पूरा करने का द्वितीय प्रयत्न मिथिला देशवासी पं० शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ द्वारा भी हुआ। उन्होंने भी इसके कुछ अंश का ही भाष्य लिखा।

(३) महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनि—एतद् विषयक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न लाहौर स्थित डी० ए० वी० कालेज में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनि का था। आर्यमुनि ने स्वामीजी द्वारा किये गये अंश से प्रारम्भ कर ऋग्वेद के नवममण्डल पर्यन्त भाग का संस्कृत तथा हिन्दी भाष्य लिखा। यह भाष्य ६ खण्डों में समाप्त हुआ है। भाष्य के प्रारम्भ में लेखक ने अपने भाष्य विषयक प्रारम्भिक वक्तव्य को निम्न श्लोकों में उपस्थित किया है—

दयानन्दः समाख्यातो यस्यान्ते च सरस्वती।
एतन्नामान्वितः स्वामी दयानन्दः सरस्वती॥
सेतुर्लोकव्यवस्थाया नौरासीद्वेदवारिधेः।
वेदस्य स्थापना तेन ह्यकारि भूतले पुनः॥
एकषष्ठितमे सूक्ते सप्तमे मण्डले तथा।
द्वितीयमन्त्रं सम्प्राप्य तद्भाष्यमन्ततां गतम्॥
इत्यालोच्य प्रखिन्नेन मयाऽऽर्य्यमुनिनाऽधुना।
शेषं विधास्यते भाष्यं स्वाभिमार्गानुगामिना॥[1]

अर्थात् स्वामी दयानन्द सरस्वती नामक जो महात्मा हुये हैं, उन्होंने धराधाम पर वेद की व्यवस्था और मर्यादा स्थापित की। उन्होंने सप्तम मण्डल के ६१वें सूक्त के द्वितीय मन्त्र पर्यन्त ऋग्वेद का भाष्य किया, ततपश्चात् स्वर्ग

१. श्रीमदार्य्यमुनिनिर्मितम् ऋग्वेदभाष्यम् पृ० १ (१९७४ वि०)।

सिधार गए। इस स्थिति का दुःखपूर्वक अनुभव कर, मुझ आर्यमुनि द्वारा शेष ऋग्वेद का यह भाष्य स्वामी दयानन्द प्रदर्शित मार्गानुसार ही बनाया जा रहा है।

आर्यमुनि कृत ऋग्वेदभाष्य के प्रथमखण्ड में वेदविषयक विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करने के पश्चात् भाष्यकार ने निम्न श्लोक में भूमिका लेखन की समाप्ति की तिथि का निर्देश किया है—

कृष्णप्रियतमे मासे मार्गशीर्षे मनोरमे ।
त्रयोदश्यां तिथौ काश्यां मुनिनेयं प्रकाशिता ।।[1]

अर्थात् संवत् १९७४ मार्गशीर्ष कृष्णा त्रयोदशी को यह भाष्य लेखन प्रारम्भ हुआ। सप्तम मण्डल पर्यन्त भाष्य द्वितीय खण्ड में समाप्त हुआ है जो १९७५ वि० में काशी के जार्ज प्रेस तथा चन्द्रप्रभा प्रेस में छपा। अष्टम मण्डल का भाष्य तृतीय तथा चतुर्थ खण्ड में समाविष्ट हुआ है। ये दोनों खण्ड रामघाट काशी निवासी बी० एल० पावगी के हितचिंतक यन्त्रालय में छपे। इनका प्रकाशनकाल क्रमशः १९७९ तथा १९८० वि० है। नवम मण्डल का भाष्य पांचवें तथा छठे खण्ड में समाप्त हुआ। ये दोनों खण्ड क्रमशः काशी के चन्द्रप्रभा तथा हितचिंतक प्रेस में छपे। प्रकाशनकाल क्रमशः १९७८ तथा १९८० वि० हैं।

आर्यमुनि के ऋग्वेदभाष्य में प्रथम मन्त्र, पुनः पदपाठ, तत्पश्चात् संस्कृत पदार्थ तथा भावार्थ दिया गया है। अन्त में प्रत्येक मन्त्र का हिन्दी पदार्थ तथा भावार्थ भी दिया है। भाष्य सुगम तथा सरल संस्कृतभाषा में लिखा है जो निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा—

"परमात्मोपदिशति—भो जनाः, अस्मिन् जगति अध्यापकानामुपदेशकानाञ्च सर्वोपरि पदं वर्तते, अतो भवद्भिः तत्पदस्य सर्वथैव रक्षणं कार्यम्। अन्यच्च अयज्ञानामकर्मणां निष्फल एव सन्तानो याति, यतश्च ईश्वराज्ञानुयायिनः ईश्वरनियमं पालयन्ति, अतएव ते सुखिनः, ये ईश्वरनियमान् न पालयन्ति तेषां मासा दिनान्यपि दुखेन यान्ति, इत्यभिप्रायेणोक्तं तेषां मासा अवीरा एव अयन् अगच्छन्नित्यर्थः।[2]

उपर्युक्त ऋग्वेद के पूरक भाष्यों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से ऋग्वेद के हिन्दी में भाष्य लिखे गये। इनमें चतुर्वेदभाष्यकार **पं० जयदेव शर्मा**, विद्या-

१. ऋग्वेदभाष्यम् प्रथम खण्ड, प्रस्तावना पृ० ७५।
२. " " पृ० ४।

लंकार का भाष्य, **श्रीपाद दामोदर सातवलेकर** का ऋग्वेद सुबोध भाष्य तथा **विद्यानन्द विदेह** कृत ऋग्वेद के कतिपय प्रारम्भिक सूक्तों की व्याख्या महत्त्वपूर्ण है।

यजुर्वेद-भाष्य पर विवरण—स्वामी दयानन्द ने सम्पूर्ण यजुर्वेद पर संस्कृत तथा हिन्दी में जो महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखा, उस पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने एक विस्तृत विवरण लिखा था। दस अध्याय पर्यन्त यह 'भाष्य-विवरण' रामलाल कपूर ट्रस्ट से दो बार प्रकाशित हो चुका है।[1] विवरणकार ने दयानन्द भाष्य पर विस्तृत टिप्पणियां लिखी हैं तथा भाष्य में प्रयुक्त संस्कृत भाषा के व्याकरण विषयक तथाकथित अपप्रयोगों की साधुता सिद्ध की है। विवरण की विशद भूमिका में वेदज्ञान का स्वरूप, वेद और उसकी शाखायें, देवतावाद, छन्दोमीमांसा, धातुओं का अनेकार्थत्व तथा यौगिकवाद, वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

यजुर्वेद पर भाष्य रचना—दयानन्द-भाष्य के अतिरिक्त आर्यसमाज के विद्वानों ने यजुवद पर हिन्दी में भी कुछ भाष्य लिखे हैं। इनमें **जयदेव शर्मा** विद्यालंकार का भाषाभाष्य, **श्रीपाद दामोदर सातवलेकर** का सुबोध भाष्य तथा **विद्यानन्द विदेह** द्वारा लिखी गई कतिपय अध्यायों की व्याख्या महत्त्वपूर्ण है। गुरुकुल वृन्दावन के तत्त्वावधान में आर्यसमाजी विद्वानों की एक समिति द्वारा भी यजुर्वेद का भाष्य तैयार कराया गया था, जो आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तरप्रदेश द्वारा दो भागों में प्रकाशित हुआ।

सामवेद पर भाष्य रचना—सामवेद पर सर्वप्रथम भाष्य रचना **पं० तुलसीराम स्वामी** ने की। यह भाष्य संस्कृत तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में लिखा गया। दो भागों में समाप्त यह ग्रन्थ स्वामी प्रेस मेरठ से प्रकाशित हुआ। भाष्य की संस्कृत भाषा सरल तथा प्रसाद गुण युक्त है जो निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

"अत्राग्नेर्दूतत्वमभिधीयते। यथा दूतो यत्र-तत्र प्रेषितं द्रव्यादिकं प्रापयति तथैवाग्निरपि स्वस्मिन् हुतं द्रव्यं लघुकृत्वाऽऽकाशे वाय्वादिष्वर्पयति। काश्चिद्देवताश्चाऽऽह्रियतेऽग्निकुण्डे यदा होमो विधीयते तदा कुण्डस्योपरितो वायुस्तदन्तर्भूतोऽन्यो वा देवविशेषस्त्रयस्त्रिंशत्सु देवेषु कोपि भवेत्। स हि वायुरग्निसंयोगेन लघुत्वमापन्न उपरि गच्छति।"[2]

---

१. श्री पं० ब्रह्मदत्तजी ने विवरण १८ अध्याय तक लिखा है।

२. सामवेद पूर्वाचिक मन्त्र ३।३ का संस्कृत भाष्य।

सामवेद पर किये गए अन्य हिन्दी भाष्यों में **जयदेव शर्मा** विद्यालंकार, **श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, वीरेन्द्र शास्त्री, हरिश्चन्द्र विद्यालंकार** तथा **वैद्यनाथ शास्त्री** के भाष्य उल्लेखनीय हैं। **लाला देवीचन्द्र** तथा **पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड** ने सामवेद का अंग्रेजी में अनुवाद किया है।

अथर्ववेद पर भाष्य रचना—अथर्ववेद पर सर्वप्रथम प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने भाष्य रचना की। यह वस्तुतः आश्चर्य की वात है कि त्रिवेदीजी का प्रारम्भिक शिक्षण उर्दू और फारसी के माध्यम से हुआ था तथा वे आजीवन रेलवे कर्मचारी रहे। परन्तु स्वाध्याय के वल पर उन्होंने न केवल संस्कृत का अध्ययन ही किया, अपितु वड़ौदा में रहकर वेदों का गूढ़ अध्ययन कर **'त्रिवेदी'** की उपाधि भी प्राप्त की। त्रिवेदीजी के अथर्ववेद प्रथम काण्ड का भाष्य १९६९ वि० (१९१२) में प्रयाग से प्रकाशित हुआ। पुनः शेष काण्डों का भाष्य क्रमशः छपा। अथर्ववेद पर लिखे गये अन्य हिन्दी भाष्यों में लाहौर के **पं० राजाराम, जयदेव शर्मा** विद्यालंकार तथा **श्रीपाद दामोदर सातवलेकर** का सुवोध भाष्य उल्लेखनीय है।

वैदिक सूक्तों की व्याख्या—

सम्पूर्ण वेद संहिताओं के भाष्यलेखन के अतिरिक्त आर्यसमाजी विद्वानों ने वेदों के कतिपय महत्त्वपूर्ण सूक्तों की व्याख्यायें संस्कृत तथा हिन्दी में लिखी हैं। इस प्रकार की सामग्री यद्यपि प्रचुर मात्रा में उल्लिखित की जा सकती है, तथापि कतिपय महत्त्वपूर्ण व्याख्याओं का ही यहां विवरण दिया जाता है—

ऋग्वेद के सूक्तों की व्याख्या—

(१) ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ४० से ४३ पर्यन्त सूक्तों की 'ऋषि-तर्पणम्' शीर्षक व्याख्या प्रयाग हाई कोर्ट के एडवोकेट **श्री बालमुकुन्द** ने लिखी है।[1] इसमें प्रत्येक मन्त्र का अन्वय (अर्थपूर्वक) तथा हिन्दी भावार्थ और व्याख्या दी गई है। अन्त में व्याकरण प्रक्रिया विषयक टिप्पणियां भी दी गई हैं।

(२) ऋग्वेद के ६ वरुण सूक्तों की सुन्दर और भावपूर्ण व्याख्या 'वरुण की नौका' (२ भाग) के नाम से गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी के **आचार्य प्रियव्रत** वेदवाचस्पति ने लिखी है।

---

१. मुमुक्षु जनहितार्थाय प्रयागस्थ-हाईकोर्ट-एडवोकेट-श्रीमद्बालमुकुन्देनानुवादितम्, आर्यसमाज (चौक) प्रयागस्थ-ट्रैक्टविभागोपसभया प्रकाशितम्। प्रयागे माघपूर्णिमायाम् १९८७ वि०।

(३) वरुण देवता के दो (ऋग्वेद मण्डल ७।८६, ८९) सूक्तों की एक अन्य मनोरम व्याख्या **स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक** द्वारा लिखी जाकर 'वैदिक ईश वन्दना' के नाम से प्रकाशित हुई है।

(४) ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के १२वें इन्द्र सूक्त की एक व्याख्या **पं० जगत्कुमार शास्त्री** ने 'इन्द्रोपनिषद्' के नाम से लिखी।

(५) आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् और गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक **पं० बुद्धदेव** विद्यालंकार ने ऋग्वेद के मरुत् सूक्तों का विवेचन किया है।[1] ऋग्वेद के दशम मण्डल के अन्तर्गत आने वाले ७५वें सप्त सिन्धु-सूक्त की सेना-परक व्याख्या भी उन्होंने लिखी है।

(६) ऋग्वेद के दशम मण्डल में ही यम-यमी का संवादात्मक सूक्त (१०-१०) आता है। इसके अर्थ को लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। **पं० चमूपति**, चतुर्वेदभाष्यकार **पं० जयदेव शर्मा** विद्यालंकार तथा **पं० भूमित्र शर्मा**[2] ने इस सूक्त पर अपनी पृथक्-पृथक् व्याख्यायें लिखी हैं।

(७) इसी प्रसंग में स्वामी दयानन्द के शिष्य तथा आर्यसमाज के आद्य विद्वान् **पण्डित भीमसेन शर्मा** द्वारा किये गए वेदों के विभिन्न सूक्तों की व्याख्याओं का उल्लेख आवश्यक है। विलियम नामक एक ईसाई पादरी ने लुधियाना से प्रकाशित होने वाले नूर अफशां नामक एक उर्दू समाचारपत्र में स्वामी दयानन्द के नियोग विषयक मन्तव्य की आलोचना की थी तथा उसे अवैदिक घोषित किया था। इसी आपेक्ष का उत्तर देते हुये पं० भीमसेन शर्मा ने ऋग्वेद के यमयमी सूक्त का विस्तृत विचार करते हुये सूक्तान्तर्गत मन्त्रों की नियोगपरक व्याख्या की। आर्य प्रतिनिधि सभा पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान उत्तरप्रदेश) के तत्कालीन मन्त्री पं० भगवान्दीन के आग्रह से पं० भीमसेन ने ऋग्वेद के दशम मण्डल के १४वें सूक्त की भी व्याख्या लिखी जिसमें पौराणिकों के मन्तव्यानुसार यमलोक का वर्णन है। पं० भीमसेन ने वैवस्वत यम देवता के इस सूक्त पर विशद आलोचना करते हुए दयानन्द प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार 'यम' का अर्थ वायु और ईश्वर किया। यह व्याख्या आर्यसिद्धान्त के मार्गशीर्ष १९४७ वि० के अङ्क से प्रारम्भ होकर माघ १९४७ वि० के अङ्क में समाप्त हुई है।

---

१. अथ मरुत्सूक्तम्—बुद्धदेव विद्यालंकार, गुरुदत्त भवन, लाहौर चैत्र १९८८ वि०।

२. यमयमीसूक्तालोचनम्।

(८) चारों वेदों में आने वाले यम और पितर विषयक सम्पूर्ण मन्त्रों की संस्कृत और हिन्दी में विशद व्याख्या **पं० प्रियरत्न आर्ष** ने 'यमपितृ परिचय' के नाम से लिखी जो १०९ दयानन्दाब्द में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली से प्रकाशित हुई।

(९) ऋग्वेद के अक्षसूक्त (१०—३४) का हिन्दी व अंग्रेजी में अनुवाद **आचार्य विश्वश्रवाः** ने किया।

(१०) चैत्र संवत् १९४६ वि० के आर्यसिद्धान्त में **पं० भीमसेन** ने यजुर्वेद के ३०वें अध्याय की व्याख्या लिखी, जिसमें महीधर आदि मध्यकालीन भाष्यकारों के अनुसार नरमेध यज्ञ का उल्लेख है। पं० भीमसेन की इस व्याख्या में मन्त्रों का वास्तविक अर्थ प्रदर्शित किया है।

(११) यजुर्वेदान्तर्गत पुरुषसूक्त (३१वां अध्याय) पर **डा० सूर्यदेव शर्मा** ने हिन्दी का व्याख्यानुवाद रूपी टीका लिखी है। **डा० मुन्शीराम शर्मा** 'सोम' की भी पुरुषसूक्त पर एक टीका मिलती है।

(१२) यजुर्वेद के १६वें अध्याय (रुद्रदेवता परक) का गद्य काव्यानुवाद **श्री रणवीर** ने किया। इसी शैली में यजुर्वेद के १८वें अध्याय का भावानुवाद **वैद्य ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा किया गया है।

(१३) यजुर्वेद के शिव-संकल्पात्मक मन्त्रों (३४—१—६) की व्याख्या **स्वामी आत्मानन्द सरस्वती** द्वारा 'मनोविज्ञान और शिवसंकल्प' के नाम से लिखी गई है।

(१४) सामवेद के आग्नेयपर्व और पवमान पर्व की भावपूर्ण व्याख्यायें आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् **पं० चमूपति** द्वारा लिखी गईं जो क्रमशः जीवनज्योति और सोमसरोवर के नाम से प्रकाशित हुईं।

(१५) पौष १९४६ वि० के आर्यसिद्धान्त में **पं० भीमसेन शर्मा** ने अथर्ववेद के १८वें काण्ड के पितृसूक्त की व्याख्या लिखी है।

(१६) पांचवें काण्ड के अठारहवें सूक्त—ब्रह्मगवी सूक्त की हृदयग्राही व्याख्या **पं० देवशर्मा 'अभय'** विद्यालंकार ने लिखी जो 'ब्राह्मण की गौ' के नाम से प्रकाशित हुई। इसी सूक्त की एक अन्य व्याख्या **स्वामी वेदानन्द तीर्थ** ने भी लिखी जो वेदोपदेश भाग २ के अन्तर्गत छपी।

(१७) चतुर्थ काण्ड के चतुर्थ अनुवाकान्तर्गत १६वें वरुणसूक्त की एक सुगम और सुबोध व्याख्या **पूर्णचन्द्र एडवोकेट** द्वारा 'कहां छिपोगे? कहाँ बचोगे?' शीर्षक से लिखी।

(१८) १२वें काण्ड का प्रथम सूक्त भूमिसूक्त वा पृथ्वीसूक्त के नाम से विख्यातहै। इस सूक्त में अत्यन्त मार्मिक शब्दों में मातृभूमि की वन्दना की गई है। आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वानों से इस सूक्त की अनेक मार्मिक और हृदयग्राही व्याख्यायें लिखी हैं। जिनमें **पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति** लिखित वेद का राष्ट्रियगीत, **पं० शिवदयालु** रचित धरतीमाता की महिमा, **स्वामी वेदानन्द तीर्थ** रचित व्याख्या तथा **डा० सूर्यदेव शर्मा** कृत हिन्दी पद्यानुवाद प्रमुख हैं। **श्रीपाद दामोदर सातवलेकर** लिखित इस सूक्त की व्याख्या 'वैदिक राष्ट्रगीत' में अभिव्यक्त राष्ट्रभक्ति की तीव्र भावनाओं ने तत्कालीन अंग्रेजी शासकों को विचलित कर दिया। फलतः वैदिक सूक्त की यह व्याख्या वम्बई और युक्त प्रान्त की सरकारों द्वारा जब्त कर ली गई।

(१९) अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त (काण्ड ११ सूक्त ५) का एक अनुवाद **पं० देवशर्मा 'अभय'** विद्यालंकार ने वैदिक ब्रह्मचर्य गीत के नाम से किया था। इसी सूक्त का एक मौलिक संस्कृत भाष्य **स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक** द्वारा किया गया है। इस भाष्य में आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टि से 'ब्रह्मचारी' शब्द का आदित्य और ब्रह्मचर्यव्रती अर्थ करते हुये सम्पूर्ण सूक्त की सुसंगत व्याख्या की गई है।[1]

(२०) राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के रीडर तथा प्रसिद्ध आर्य विद्वान् **डा० सुधीरकुमार गुप्त** ने वेदलावण्यम् (दो भाग) के नाम से ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों की एक विस्तृत भूमिका, सायण भाष्य, हिन्दी अनुवाद तथा छात्रोपयोगी व्याकरण विषयक आवश्यक टिप्पणियों से युक्त पाठ्य ग्रन्थ तैयार किया है। इसमें ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का १५४वां विष्णु सूक्त, द्वितीय मण्डल का १२वां इन्द्र सूक्त, दशम मण्डल का ९०वां पुरुषसूक्त, दशम मण्डल का १२१वां हिरण्यगर्भ (प्रजापति) सूक्त तथा दशम मण्डल का १२५वां वाक् सूक्त व्याख्यात्मक हुए हैं।

(२१) पाठ्योपयोगी वेद सूक्तों का एक व्याख्यात्मक ग्रन्थ **स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक** ने भी तैयार किया है। 'वेदाध्ययन प्रवेशिका' शीर्षक

---

१. "सूक्तेऽस्मिन् ब्रह्मचारिणो वर्णनं ब्रह्मचर्यस्य च महत्त्वप्रदर्शनं विद्यते। आधिदैविकदृष्ट्या ब्रह्मचारी त्वादित्योऽधिभौतिकदृष्ट्या ब्रह्मचर्यव्रती मानवो लक्ष्यते। तत्र आकाशीयदेवमण्डलस्य मूर्धन्यः खल्वादित्यः, लौकिकजनगणस्य मूर्धन्यस्तु ब्रह्मचर्यव्रती मनुष्यः। अनयोर्यथायोग्यं वर्णनमागच्छति। विद्यार्थिनां ज्ञानवृद्ध्यर्थं सदाचारप्रवृत्यर्थं च सूक्तमिदं व्याख्यायतेऽस्माभिः।" वैदिकब्रह्मचर्यविज्ञानम् (अथर्ववेदस्य ब्रह्मचर्यसूक्तम्) पृ० ३।

इस ग्रन्थ में गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर तथा मेरठ, आगरा, लखनऊ और दिल्ली विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जाने वाले समस्त वैदिक सूक्तों की सुगम व्याख्या की है।

(२२) पंजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा में स्वामी दयानन्द कृत यजुर्वेद भाष्य का जो अंश नियत है उसका सम्पादन **पं० युधिष्ठिर मीमांसक** ने किया। इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में विद्वान् सम्पादक ने दयानन्द के यजुर्वेदभाष्य में प्रयुक्त ऐसे पदों पर विचार किया है जिन्हें साम्प्रतिक वैयाकरणों ने असाधु अथवा अपशब्द माना है, क्योंकि उनकी दृष्टि में ये पद अपाणिनीय हैं। इन पदों का साधुत्व सिद्ध करने का श्लाघनीय प्रयास इस परिशिष्ट में किया गया है।

(२३) एक दक्षिणी आर्यसमाजी विद्वान् **पं० धारेश्वर** ने 'वेद-मन्त्रार्थ-प्रकाश' नाम से दो भागों में एक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें कतिपय वेद-मन्त्रों की संस्कृत में व्याख्या की गई थी। वैदिक सूक्तों का यह व्याख्या कार्य नितान्त महत्त्वपूर्ण है।

वेद-संहिताओं का प्रकाशन—भारतवर्ष में चारों वेदों का ऋषिदेवता छन्द आदि के निर्देश सहित सर्व-प्रथम प्रकाशन **श्री पं० गुरुदत्त** एम० ए० ने किया था। ये संहिताएं दो रंग में अत्यन्त सुन्दर विरजानन्द प्रेस लाहौर में छपी थीं। सामवेद पर मुद्रण सं० १७४६ छपा है।

वैदिक शाखाओं पर कार्य—

वेदों की विभिन्न शाखाओं को स्वामी दयानन्द ने ऋषि प्रोक्त होने के कारण प्रामाणिक माना है। एक विशिष्ट अर्थ में वे उन्हें वेदों का व्याख्यान भी कहते हैं।[1] इन शाखा ग्रन्थों पर अभी बहुत कम शोध कार्य हुआ है। चारों वेदों की ११२७ शाखाओं में से सम्प्रति बहुत कम उपलब्ध होती हैं। **श्रीपाद दामोदर सातवलेकर** ने यजुर्वेद की कतिपय शाखाओं के सम्पादन और शुद्ध मुद्रण का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उनके द्वारा सम्पादित शाखाओं में कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी तथा काठक शाखायें तथा शुक्ल यजुर्वेद की

१. "जितनी शाखाएं हैं वे आश्वलायन आदि ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं और मन्त्रसंहिता परमेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है। जैसा चारों वेदों को परमेश्वर कृत मानते हैं वैसे आश्वलायनी आदि शाखाओं को उस-उस ऋषि कृत मानते हैं और सब शाखाओं में मन्त्रों की प्रतीक धर के व्याख्यान किया है।" सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास।

वाजसनेयी, काण्व शाखाओं का प्रकाशन उल्लेखनीय है। **रामदत्त शुक्ल** तथा **वासुदेवशरण अग्रवाल** ने आथर्वण पैप्पलाद संहिता के कतिपय मन्त्रों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया। गुरुकुल भैंसवाल के प्राध्यापक **विद्यानिधि शास्त्री** ने मैत्रायणी संहिता की सूक्तियों का संग्रह किया जो गुरुकुल-पत्रिका में माघ २०२० वि० तथा इससे आगे के अङ्कों में धारावाही रूप से प्रकाशित हुआ।

शाखाओं पर शोध, अन्वेषण और विवेचन की दृष्टि से **पं० भगवद्दत्त** रचित **वैदिक वाङ्मय का इतिहास** (प्रथम भाग) महत्त्वपूर्ण है। इसमें शाखाओं तथा उनके प्रवचनकर्त्ता ऋषियों के सम्बन्ध में दुर्लभ अनुसधानात्मक सामग्री संगृहीत की गई है। **डा० सुधीरकुमार गुप्त** का अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् में पठित Nature of Vedic Shakhas (वैदिक शाखाओं का स्वरूप) निबन्ध[1] भी उल्लेखनीय है।

वैदिक-कोश—आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध संन्यासी युगल **स्वामी नित्यानन्द** तथा **स्वामी विश्वेश्वरानन्द** ने यजुर्वेद के पदों का अकारादिक्रम से संकलन कर एक कोश तैयार किया था। इसे बड़ौदा नरेश स्वर्गीय महाराजा सर सयाजीराव गायकवाड़ की आर्थिक सहायता से निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित किया गया।[2] इसी शैली के अनुसार स्वामी नित्यानन्द विश्वेश्वरानन्द ने 'ऋग्वेदपदानां वर्णानुक्रमणिका' भी तैयार की। वेदार्थ कोश का सम्पादन **स्वामी वेदानन्द तीर्थ** तथा **पं० चमूपति** ने किया जो १९४० ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के तत्त्वावधान में तीन भागों में प्रकाशित हुआ। डी० ए० वी० कालेज, लाहौर के अनुसंधान विभाग के विद्वान् **पं० हंसराज** ने ब्राह्मण वाक्यों का एक कोश बनाया जो **पं० भगवद्दत्त** द्वारा सम्पादित होकर १९८२ वि० में वैदिक कोश के नाम से प्रकाशित हुआ।

उपर्युक्त कार्य के अतिरिक्त आर्यसमाजी विद्वानों ने स्फुट वेदमन्त्रों की व्याख्या के इतने अधिक ग्रन्थों का निर्माण किया है कि उनका सम्पूर्ण विवरण

---

१. अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् (वैदिक शाखा) के १९४९ के १५वें बम्बई अधिवेशन में पठित।

२. यजुर्वेद पदानां अकारादिवर्णक्रमानुक्रमणिका—

A complete alphabetical Index of all the words in the Yajur Veda prepared and published by Swami Nityanand and Swami Vishveshwaranand under the kind patronage of H. H. the Maharaja Sahib Sir Sayaji Rao Sevakhas Khel Shamsher Bahadur G. C. S. I. Gaikwad of Baroda :— प्रथम संस्कृत १९०८ (१९६५ वि०)।

देना भी अशक्य-सा है। ऐसे ग्रन्थों में **पं० देवशर्मा 'अभय'** विद्यालंकार लिखित वैदिक विनय (तीन भाग), **स्वामी वेदानन्द तीर्थ** रचित स्वाध्याय-सुमन, स्वाध्याय-संग्रह, स्वाध्याय-संदोह, वेदामृत तथा वेदोपदेश तथा **पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति** रचित वेदोद्यान के चुने हुये फूल आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

वैदिक विवेचन—वैदिक वाङ्मय का अध्ययन करते समय अध्येताओं के समक्ष अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। वेदाध्ययन की पाश्चात्य और पौरस्त्य पद्धति में आकाश-पाताल का अन्तर है। पाश्चात्य वेदज्ञ तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, विकासवाद तथा देव-गाथावाद (Mythology) के सिद्धान्तों को अपने अध्ययन का आधार बनाकर चलते हैं। पौरस्त्य वेदाध्ययन की भी प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक युग के भेद से तीन अवान्तर प्रणालियाँ मानी जा सकती हैं। निरुक्त, ब्राह्मण, प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में वेदार्थ की प्राचीनतम प्रणाली के दर्शन होते हैं। मध्यकालीन सायण, महीधर, उव्वट आदि भाष्यकारों ने वेदार्थ के लिए याज्ञिक प्रक्रिया को आधार बनाया। जिसके अनुसार प्रत्येक वेदमन्त्र किसी-न-किसी यज्ञयाग में विनियुक्त होता है। आधुनिककाल के वेद विवेचकों में से कइयों ने पाश्चात्य वेदज्ञों का अनुसरण किया। आर्यसमाज की भी वेद के प्रति एक निश्चित दृष्टि है। आर्यसमाज की दृष्टि में वेद अपौरुषेय हैं, वे ईश्वरीय ज्ञान के भण्डार हैं। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में वेदों का यह ज्ञान परमात्मा की ओर से अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा—इन चार ऋषियों को ऋक्, यजुः, साम और अथर्व इस नामानुक्रम से प्रदान किया जाता है। आर्यसमाज वेदों में एक ईश्वर की उपासना को ही उपदिष्ट मानता है। 'आर्यसमाजी धारणानुसार वेदमन्त्रों में अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, यम, सुपर्ण और मातरिश्वा आदि नामों से अभिहित होनेवाला एक ही सत्, पूजनीय और उपासनीय है।[1] आर्यसमाजी मान्यता के अनुसार वैदिकयज्ञ पशुहिंसा से रहित होते थे।[2] वेदों में किसी प्रकार का लौकिक इतिहास नहीं मिलता तथा वेदाध्ययन का अधिकार मनुष्यमात्र को है।

वेदविषयक इन्हीं मान्यताओं और सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए आर्यसमाजी विद्वानों ने वैदिकसाहित्य के अध्ययन और विवेचन सम्बन्धी समस्याओं के समाधान हेतु विशाल साहित्य का निर्माण किया। निश्चय ही

---

१. 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'—ऋग्वेद १।१६४।४६।

२. "अध्वर इति यज्ञनाम। ध्वरतिर्हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः" निरुक्त १।७।८॥

इस विवेचनात्मक साहित्य से वेदाध्ययन को प्रोत्साहन मिला है तथा वेद के विषय में आर्यसमाज की दृष्टि की दिशा भी स्पष्ट हुई है। आर्यसमाज का यह वैदिक विवेचन निम्न उपशीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है—

(१) वेदों का पृथक् रीत्या आलोचनात्मक अध्ययन—ऋग्वेद पर **नरदेव शास्त्री** वेदतीर्थ का ऋग्वेदालोचन, **अलगूराय शास्त्री** का ऋग्वेदरहस्य तथा **पं० भगवद्दत्त** का ऋग्वेद पर व्याख्यान महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। **शिवपूजनसिंह कुशवाहा** ने 'ऋग्वेद के दशम मण्डल पर पाश्चात्य विद्वानों का कुठाराघात' लिखकर पाश्चात्य विद्वानों की इस धारणा का खण्डन करने का प्रयास किया है कि ऋग्वेद का दशम मण्डल एक नवीन मन्त्रसंग्रह है, जिसकी रचना अन्य मण्डलों की अपेक्षा परवर्ती काल की है। सामवेद पर शिवपूजनसिंह कुशवाहा का सामवेद का स्वरूप एक लघु परिचयात्मक ग्रन्थ है। अथर्ववेद पर **प्रियरत्न आर्ष** का परिश्रम सराहनीय है। उन्होंने अथर्ववेदीय चिकित्सा-शास्त्र, अथर्ववेदीय मन्त्र-विद्या तथा ब्रह्मदेव का रहस्य (अथर्ववेद प्रथम काण्ड के प्रथम अनुवाक की व्याख्या) शीर्षक ग्रन्थ लिखे। **शिवपूजनसिंह कुशवाहा** लिखित अथर्ववेद की प्राचीनता तथा **जयदेव शर्मा** विद्यालंकार लिखित अथर्ववेद और जादू-टोना ग्रन्थों में क्रमशः अथर्ववेद की प्राचीनता की सिद्धि तथा अथर्व संहिता के मन्त्रों में कथित जादू-टोना, अभिचार आदि की सत्ता का खण्डन किया गया है।

(२) वेदार्थ की नैरुक्त प्रक्रिया—आर्यसमाज महर्षि यास्क प्रवर्तित वेदार्थ की नैरुक्त पद्धति का समर्थक है। आर्यसमाज की मान्यता है कि वैदिक पदों का यास्कीय निर्वचन ही वेदार्थ का मार्ग-निर्देशक बन सकता है। नैरुक्त अर्थ प्रक्रिया के समर्थन में **पं० चन्द्रमणि** विद्यालंकार का वेदार्थ करने की विधि, **पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु** लिखित 'वेदार्थ-प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्त', **युधिष्ठिर मीमांसक** लिखित 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' तथा **गोपाल शास्त्री** रचित 'वेद का अर्थ यज्ञपरक ही नहीं' आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। आर्यसमाजी मान्यता के अनुसार वेदार्थ की परिणति यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड की विधियों के विवेचन तथा क्रियाकाण्ड के निरूपण में ही नहीं होती, अपितु प्रत्येक वेदमन्त्र का आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधि-भौतिक अर्थ भी होता है। उपर्युक्त ग्रन्थों में वेदार्थ की इसी त्रिविध प्रक्रिया का विवेचन हुआ है।

(३) वेदाध्ययन का अधिकार-निरूपण—आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ने वेद के पठन, पाठन, श्रवण और मनन का अधिकार मनुष्यमात्र के लिए

घोषित किया था। उनके मतानुसार विना किसी वर्ण, लिंग या सम्प्रदाय का भेद किये मनुष्यमात्र वेद का अधिकारी है।[1] आर्यसमाज के परवर्ती विद्वानों ने अपने आचार्य की इस मान्यता की पुष्टि हेतु, अधिकार निरूपण हेतु कुछ ग्रन्थ लिखे जिनमें **धर्मदेव विद्यावाचस्पति** का 'स्त्रियों का वेदाध्ययन और वैदिक कर्मकाण्ड में अधिकार', **मुनीश्वरानन्द सरस्वती** लिखित यज्ञोपवीत तथा वेद में स्त्री शूद्रों का अधिकार तथा **दर्शनानन्द सरस्वती** लिखित 'क्या वेदों के पढ़ने का अधिकार सबको है?' मुख्य हैं।

(४) वेद में इतिहास की कल्पना—आर्यसमाज ने वेद में लौकिक इतिहास का प्रतिषेध किया। तदनुसार वेद में जिन ऋषियों, राजाओं, नदियों, नगरों तथा राज्यों के तथाकथित नाम आते हैं वे विशिष्ट व्यक्तियों की संज्ञायें न होकर सामान्य अर्थवाची हैं। इस सिद्धान्त की पुष्टि में पूर्व मीमांसा[2] तथा मनुस्मृति[3] के प्रमाण प्रायः उद्धृत किये जाते हैं। नैरुक्त प्रक्रिया के अनुसार वेद में लौकिक, अनित्य इतिहास की अपेक्षा नित्य इतिहास ही माना जाता है। इस सिद्धान्त को पुष्टकर वेद में लौकिक इतिहास का निषेध करने वाले ग्रन्थों में **शिवशंकर शर्मा** काव्यतीर्थ लिखित 'वैदिक इतिहासार्थ निर्णय' **प्रियरत्न आर्ष** लिखित 'वेद में इतिहास नहीं', **चमूपति** का 'यास्क युग की वेदार्थ शैलियां,' **जयदेव शर्मा** विद्यालंकार रचित 'क्या वेद में इतिहास है?' तथा **वैद्यनाथ शास्त्री** लिखित 'वैदिक इतिहास विमर्श' आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

(५) वेद और विज्ञान—वेदों में ज्ञान-विज्ञान और भौतिक विद्याओं का अस्तित्व वीजरूप में विद्यमान है, इस मान्यता का समर्थन करने हेतु अनेक ग्रन्थ आर्यसमाजी विद्वानों ने लिखे हैं जिनमें निम्न उल्लेख योग्य हैं—**शिवशंकर शर्मा**, काव्यतीर्थ रचित वैदिक-विज्ञान और वैदिक-सिद्धान्त, **प्रेमचन्द** काव्यतीर्थ लिखित वेद और विज्ञानवाद, कार्य-निवृत्त न्यायाधीश **पं० गंगाप्रसाद** रचित सूर्य सप्ताश्व वर्णन, **श्रीपाद दामोदर सातवलेकर** लिखित वैदिक चिकित्सा, वेद में कृषि विद्या, वेद में चर्खा, वैदिक सर्पविद्या आदि ग्रन्थ, **आत्माराम अमृतसरी** का वेदों में शरीर-विज्ञान, **ब्रह्मानन्द**

---

१. यजुर्वेद २६।२ में यही सिद्धान्त वर्णित हुआ है—"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।"

२. परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्। पूर्व मीमांसा १।१।३१॥

३. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ मनुस्मृति १।२१॥

आयुर्वेदशिरोमणि का वैदिक-साहित्य और भौतिक-विज्ञान, **ब्रह्ममुनि परिव्राजक** लिखित वेद में दो बड़ी वैज्ञानिक शक्तियां, **पं० भगवद्दत्त** का वेदविद्या-निदर्शन तथा **वैद्यनाथ शास्त्री** का वैदिक-विज्ञान विमर्श आदि।

वैदिक-साहित्य का क्रमवद्ध इतिहास उपस्थित करने का स्तुत्य प्रयास **पं० भगवद्दत्त** ने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' (३ भाग) में किया है। इसके प्रथम भाग में वेद की शाखाओं का विचार, द्वितीय में ब्राह्मण ग्रन्थों का विवेचन तथा तृतीय में वेद-भाष्यकारों के विषय में अधुनातन प्राप्त सूचनाओं के आधार पर खोजपूर्ण सामग्री एकत्रित की गई है। वेदविषयक विवेचन की दृष्टि से **रघुनन्दन शर्मा** की वैदिक सम्पत्ति तथा **धर्मदेव विद्यामार्तण्ड** का 'वेदों का यथार्थस्वरूप' विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। वैदिक सम्पत्ति में वेदोत्पत्ति, वेदकालीन सभ्यता, भाषा-विज्ञान के आधुनिक सिद्धान्तों की आलोचना, वेद-कालीन धर्म और सभ्यता, वैदिक साहित्य में प्रक्षेप—संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् गीता, वेदान्त सूत्र-प्रस्थानत्रयी की आलोचना आदि विषयों का मौलिक विवेचन हुआ है। आर्यसमाजी पाठकों में वैदिक सम्पत्ति एक अत्यधिक लोकप्रिय पुस्तक है। भारतीय विद्याभवन, वम्बई से प्रकाशित वैदिक एज (Vedic Age) नामक इतिहास ग्रन्थ में वेदविषयक जो विवादास्पद विचार व्यक्त किये गए, उनके समाधान में पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड ने वेदों का यथार्थ स्वरूप लिखा। इसमें वेदविषयक कतिपय भ्रान्त मतों की प्रामाणिक समीक्षा की गई है।

आर्यसमाजी विद्वानों ने ८० वर्ष की सुदीर्घ अवधि में वेदविषयक आलोचना-प्रत्यालोचना का जो वृहत् साहित्य लिखा है वह मात्रा और गुण दोनों दृष्टियों से अपूर्व है। निश्चय ही इसमें से अधिकांश हिन्दी में हैं अतः महत्त्वपूर्ण होने तथा वैदिक वाङ्मय के अध्ययन के क्षेत्र में आर्यसमाजी विचार-धारा को सुव्यवस्थित ढंग से उपस्थित कर सकने में समर्थ होने पर भी वह अधिकांश एतद्देशीय तथा विदेशी वैदिक मनीषियों का ध्यान आकृष्ट करने में असमर्थ रहा, परन्तु निश्चय ही इस विवेचनात्मक साहित्य से वैदिक चर्चा को वल मिला है। अतः इसे आर्यसमाज की संस्कृत सेवा के अन्तर्गत ही परि-गणित किया जाना चाहिये, इसलिये भी कि वेद तथा तत्सम्वन्धी वाङ्मय संस्कृतभाषा की अमूल्य निधि है तथा इस भाषा में उपलब्ध साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन भी है।

ब्राह्मण ग्रन्थ—

वैदिक साहित्य में मन्त्र संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों की गणना होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में वेदमन्त्रों के अर्थों का विवेचन, याज्ञिक रहस्य तथा अन्य अनेक दार्शनिक और रहस्यपूर्ण प्रश्नों का समाधान मिलता है। यद्यपि प्रचलित परम्परा के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की ही वेद संज्ञा है[1], तथापि स्वामी दयानन्द के अनुसार मन्त्र संहिता ही वेद है तथा ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के व्याख्यान है। स्वामीजी के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थ ऋषि प्रोक्त होने से परतः प्रमाण हैं। वेदानुकूल होने से ही उनका प्रमाण होता है।[2] वेद संज्ञा मन्त्र संहिता की ही है अथवा ब्राह्मण भी उसके अन्तर्गत आता है, यह विषय आर्यसमाज तथा सनातनी विचारधारा के अनुयायी विद्वानों के समक्ष विवादास्पद रहा है। **युधिष्ठिर मीमांसक** ने कात्यायन के इस परिभाषा सूत्र **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** की समीक्षा करते हुए **"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् इत्यत्र कश्चिदभिनवो विचारः"** शीर्षक एक निबन्ध[3] संस्कृत भाषा में लिखा, जो अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् के २००८ वि० के अधिवेशन में पढ़ा गया था। कानपुर में १९५७ ई० में स्वामी हरिहरानन्द करपात्री के तत्त्वावधान में आयोजित सर्ववेद शाखा सम्मेलन के पश्चात् वेद-संज्ञा विमर्श विषय के अन्तर्गत ब्राह्मण ग्रन्थों के वेदत्व पर आर्यसमाज और सनातनधर्म के विद्वानों के बीच एक लिखितवाद हुआ। इस विचार सामग्री को दोनों पक्षों ने वेदसंज्ञाविमर्श[4] तथा वेद का स्वरूप और प्रामाण्य[5] शीर्षक ग्रन्थों में उपनिबद्ध किया है।

आर्यसमाज के विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रन्थों पर व्याख्यात्मक कार्य भी किया है। ऐतरेय ब्राह्मण का हिन्दी अनुवाद **पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय** ने किया

---

१. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—आपस्तम्ब यज्ञपरिभाषा सूत्र।

२ स्वामी दयानन्द ने इस विषय का विस्तृत विवेचन सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वेदसंज्ञा-विचार' प्रकरण के अन्तर्गत किया है।

३. वेदसंज्ञा-विचार शीर्षक से प्रकाशित उपबृंहित संस्करण प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, अजमेर, २०२३ वि०।

४. वैदिक अनुसंधान ग्रन्थमाला, दयानन्द कालेज, कानपुर का प्रथम पुष्प, २०१६ वि०।

५. धर्म शिक्षा मण्डल, वाराणसी से २०१६ वि० में दो भागों में प्रकाशित।

जो हिन्दी साहित्य-सम्मेलन से प्रकाशित हुआ। सम्भवतः किसी भी भारतीय भाषा में ब्राह्मण ग्रन्थों में से किसी एक का यह प्रथम अविकल अनुवाद है। उपाध्यायजी ने शतपथ ब्राह्मण का भी हिन्दी अनुवाद किया है उसका प्रथम भाग देहली से प्रकाशित हो चुका है। शतपथ ब्राह्मण पर **पं० बुद्धदेव** विद्यालंकार ने अनुसंधानात्मक कार्य किया। उनका 'शतपथं में एक पथ' इस विषय का उल्लेखनीय ग्रन्थ है। **श्रीपाद दामोदर सातवलेकर** का शतपथ बोधामृत भी इस ब्राह्मण के रहस्य को खोलने में एक कड़ी का काम देता है। अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण का हिन्दी अनुवाद प्रयाग निवासी **पं० क्षेमकरण-दास त्रिवेदी** ने किया था। गोपथ ब्राह्मण पूर्व भाग के प्रथम प्रपाठक की ३१–३८ तक की आठ कण्डिकाओं को 'गायत्री उपनिषद्' के नाम से पं० रामदत्त शुक्ल तथा वासुदेवशरण अग्रवाल ने हिन्दी अनुवाद सहित सं० १७९४ में प्रकाशित किया। जैमिनि उपनिषद् ब्राह्मण का देवनागरी लिपि में मूलपाठ डी० ए० वी० कालेज, लाहौर ने छापा है।

उपनिषद् भाष्य तथा व्याख्या—

उपनिषद् भारतीय अध्यात्मविद्या के सर्वोच्च सोपान माने जाते हैं। उनमें भारतीय दर्शन की चरम परिणति हुई है। वेदान्त दर्शन के परवर्ती आचार्यों ने उपनिषदों को 'श्रुतिप्रस्थान' के गौरवास्पद नाम से अभिहित किया है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द की दृष्टि में ईशोपनिषद् से लेकर वृहदारण्यक पर्यन्त १० उपनिषद् ही प्रामाणिक हैं। यों उपनिषद् नामधारी ग्रन्थ तो ४०० से भी अधिक हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश अद्वैतवेदान्त प्रति-पादक नवीन रचनायें हैं। बहुत-सी उपनिषद् शैव, शाक्त, वैष्णव आदि स्मार्त सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखने वाली तथा हठयोगादि से सम्बद्ध हैं। आद्य शंकरा-चार्य ने भी प्रारम्भिक दस उपनिषदों पर ही भाष्य रचना की है।

आर्यसमाज के विद्वानों ने उपनिषदों की व्याख्या और टीका तथा उप-निषद् प्रतिपाद्य दार्शनिक तत्त्वों के विवेचन में शतशः ग्रन्थ लिखे हैं। अधिकांश भाष्य और टीकादि ग्रन्थ हिन्दी में ही लिखे गये, तथापि कई विद्वानों ने संस्कृत में भी उपनिषद् भाष्य लिखे हैं। यहां प्रमुख उपनिषद् व्याख्याकारों तथा उनकी रचनाओं का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त हैं।

स्वामी दयानन्द के पश्चात् उनके प्रमुख शिष्य **पं० भीमसेन शर्मा** ने विभिन्न शास्त्र ग्रन्थों पर भाष्य लिखे। शर्माजी ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय तथा श्वेताश्वतर इन ९ उपनिषदों पर

संस्कृत तथा हिन्दी में भाष्य रचना की। उनका यह उपनिषद् भाष्य मासिक पत्र के रूप में क्रमशः प्रकाशित होता था। पुनः पुस्तकरूप में 'उपनिषत्समुच्चय' के नाम से भी छपा। भीमसेन शर्मा के उपनिषद् भाष्य में प्रथम मूलपाठ, पुनः अन्वय और अन्वयार्थ, तत्पश्चात् संस्कृत भावार्थ और अन्त में हिन्दी भाषार्थ तथा भावार्थ दिया गया है। भाष्य की संस्कृत सरल तथा सुबोध तो है ही, मूल को स्पष्ट करने में उससे प्रशंसनीय सहायता भी मिलती है। यत्र-तत्र शंकासमाधान की शास्त्रीय शैली को भी प्रयुक्त किया गया है जो निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा—

"लौकिकलक्ष्यवद् ब्रह्मापि ताडितं खण्डितं वा भवेदिति मा भूत् कस्यचिद् व्यामोह इति मन्त्रान्तःस्थेनाक्षरशब्देन ध्वन्यते। तथा लौकिकोऽयं दृष्टान्तो जिज्ञासोः सुलभतया बोधार्थः। यथा व्याधा लक्ष्ये बुद्धिवृत्तिमेकीकृत्य तन्मनसो भूत्वा विध्यन्ति स्वल्पेऽपि प्रमादे वेधनमसम्भवम्। एवमत्रापि जिज्ञासुः सर्वतो बुद्धिवृत्तिमाकृष्य ध्येये ब्रह्मण्येवं मुहुर्मुहुर्निवेशयेत्। एवं कृते दुःखाद्विमुच्यते।"[१]

भाष्यारम्भ में संस्कृत प्रस्तावना के रूप में उपनिषद् ग्रन्थों का सामान्य परिचय भी दिया गया है।

अन्य उपनिषद् टीकाकारों में महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनि[२], **पं० राजाराम[३], पं० बद्रीदत्त शर्मा[४], स्वामी सत्यानन्द[५], स्वामी दर्शनानन्द[६], पं० देवेन्द्रनाथ शास्त्री[७], स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक[८], महात्मा नारायण स्वामी[९], पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर[१०], सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार[११]** आदि मुख्य हैं। पं० गंगाप्रसाद (कार्यनिवृत्त

---

१. मुण्डकोपनिषद्-भाष्य—पृ० ७८ देशोपकारक यन्त्रालय, इलाहाबाद १८९१ ई०।

२. उपनिषदार्य्य-भाष्य—गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली से पुनर्मुद्रित।

३. आर्ष ग्रन्थावली लाहौर।

४. अष्टोपनिषद्—वैदिक पुस्तकालय, मुरादाबाद।

५. एकादशोपनिषद्-संग्रह।

६. उपनिषद्-प्रकाश (उर्दू से अनूदित)।

७. नव उपनिषद्-संग्रह—आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर।

८. उपनिषद्-सुधासार—ब्रह्ममुनि ग्रन्थमाला ३५-३८।

९. उपनिषद्-रहस्य—सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधिसभा, दिल्ली।

१०. स्वाध्याय मण्डल (पारडी) द्वारा प्रकाशित।

११. एकादशोपनिषद्—धारावाही अनुवाद।

न्यायाधीश) ने केन तथा कठ एवं प्रिन्सिपल दीवानचन्द ने कठ, प्रश्न और मुण्डक उपनिषद् का अंग्रेजी अनुवाद किया। सर्वाधिक भाष्य और व्याख्यायें ईशोपनिषद् पर लिखी गईं। पं० तुलसीराम स्वामी ने श्वेताश्वतर उपनिषद् की संस्कृत टीका लिखी।[1] उपनिषदों पर विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखने वालों में मेहता जैमिनि, इन्द्र वेदालंकार, आनन्द स्वामी तथा प्रिन्सिपल दीवानचन्द आदि मुख्य हैं।

वृहदाकार छन्दोग्य और वृहदारण्यक उपनिषद् पर संस्कृत तथा हिन्दी में वृहत्काय भाष्यों का रचनाकार्य मिथिलादेशवासी पं० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ ने किया। इन भाष्यों का क्रम इस प्रकार है—प्रथम मूलपाठ, पुनः अन्वय, पश्चात् संस्कृतभाष्य, पुनः हिन्दी में अनुवाद, पदार्थ तथा संस्कृतभाष्य का आशय दिया गया है। इन भाष्यों की संस्कृत उत्कृष्ट समास शैली युक्त है। निम्न उदाहरण से यह कथन सिद्ध होता है—

"यद्यपि ब्रह्मणो नामधेयानि बहूनि सन्ति तथापि मुख्यतममिदमेवाभिधानम्। बह्वर्थत्वात् त्र्यात्मकत्वात् सर्वोपनिषद्भिर्गीयमानत्वात् योगादिशास्त्रैर्निरूप्यमाणत्वात् वेदध्ययनारम्भे प्रथमोच्चार्यमाणत्वात् अव्ययतया ब्रह्मवन्निर्विकाराच्च। एतैः कारणैर्ब्रह्मणः श्रेष्ठं नामधेयमोमित्येव विज्ञायते।"[2]

अथर्ववेदीय 'आत्मोपनिषद्' का हिन्दी अनुवाद युक्त संस्करण पं० रामदत्त शुक्ल ने सं० १९९४ में प्रकाशित किया।

वेदाङ्ग—

वेदांगों का अध्ययन वेद के रहस्य को उद्घाटित करने तथा उसके अध्ययन को सुगम एवं प्रशस्त बनाने के लिए अनिवार्य है। वेदांगों में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष तथा निरुक्त की गणना होती है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार ब्राह्मण के लिए षडंग युक्त वेद का अध्ययन आवश्यक माना गया है।[3] वेदों के अध्ययन और प्रचार को महत्त्व देने वाले आर्यसमाज के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह वेदांग साहित्य के अनुसंधान, अध्ययन और प्रकाशन में सन्नद्ध होता। अब क्रमशः वेदांग साहित्य विषयक आर्यसमाजी विद्वानों की देन का विचार करेंगे।

---

१. तुलसीरामस्वामिना विरचितया संस्कृतव्याख्यया देशभाषाव्याख्यया चोपबृंहिता—तृतीय संस्करण स्वामी प्रेस मेरठ सन् १९०६ ई०।

२. छान्दोग्योपनिषद्-भाष्य पृ० १ (वैदिक यन्त्रालय, अजमेर से प्रकाशित)।

३. ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।

(१) **शिक्षा**—वेदमन्त्रों के यथायोग्य उच्चारण की शिक्षा देने वाले शास्त्र को शिक्षा कहा जाता है। सायणाचार्य के अनुसार—**"स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते सा शिक्षा।"**[1] स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण की शिक्षा वा उपदेश जहाँ दिया जाता है उसे शिक्षा कहते हैं। पाणिनि, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, कात्यायन, पराशर आदि अनेक ऋषियों के नाम से शिक्षा ग्रन्थ मिलते हैं। इनमें सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रचलित श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा है। इसके आर्च और याजुष भेद से दो प्रकार के पाठ हैं आर्चपाठ में ६० श्लोक हैं और याजुषपाठ में २३-२४। स्वामी दयानन्द सरस्वती इस श्लोकवद्ध शिक्षा को पाणिनिरचित नहीं मानते, क्योंकि इस शिक्षा ग्रन्थ के प्रास्ताविक श्लोक—**'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा'** से ही ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का रचयिता कोई अन्य व्यक्ति है, पाणिनि नहीं। वास्तविक सूत्रवद्ध पाणिनीय शिक्षा जो शतशः वर्षों से लुप्त थी, उसका उद्धार स्वामी दयानन्द ने किया और उसे अपनी वेदांगप्रकाश ग्रन्थमाला के प्रथम भाग में वर्णोच्चारण-शिक्षा के नाम से प्रकाशित किया। श्री एम० घोष ने स्वामी दयानन्द द्वारा अनूदित और सम्पादित सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा की प्रामाणिकता के विषय में शंका उपस्थित करते हुए यह आशंका व्यक्त की थी कि सम्भवतः ये सूत्र महाभाष्य तथा चन्द्रगोमिन् के वर्णसूत्रों से संगृहीत किये गए है क्योंकि इन तथाकथित पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों का कोई प्राचीन या अर्वाचीन हस्तलेख उपलब्ध नहीं हुआ और न किसी अन्य ग्रन्थ में ही इनका संकेत मिलता है।[2] डा० सुधीरकुमार गुप्त ने अपने एक शोध निबन्ध Authorship of the phonetic Sutras edited by Dayanand[3] में श्री घोष के उपर्युक्त मन्तव्य का खण्डन करते हुए स्वामी दयानन्द द्वारा सम्पादित पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों को प्रामाणिक सिद्ध किया है।

पाणिनीय शिक्षा के अतिरिक्त पं० भगवद्दत्त ने **माण्डूकी शिक्षा** का सम्पादन और प्रकाशन किया है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने आचार्य **आपिशलि, पाणिनि और चन्द्रगोमी** के शिक्षासूत्रों को संकलित कर इनका एक शुद्ध, सुन्दर और सटिप्पण संस्करण प्रकाशित किया। उधर वे संस्कृत शिक्षा-शास्त्र का एक सर्वांगीण एवं शोधपूर्ण इतिहास लिख रहे हैं जो अपने आप में अपूर्व वस्तु होगी। स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने **याज्ञवल्क्य शिक्षा** का हिन्दी अनुवाद किया है।

---

१. सायणाचार्य, ऋग्वेदभाष्यभूमिका।

2. Paniniya Siksha, Introduction, Section 31.

३. अ० भा० प्राच्यविद्या परिषद् के १६वें अधिवेशन में प्रस्तुत १९५१ ई०।

वेद के अध्ययन में स्वरशास्त्र का महत्त्व सर्व विदित है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद से वेदों का स्वरविचार वेद के उच्चारण और अर्थ विवेचन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। तनिक स्वरभेद से अर्थ का अनर्थ हो जाता है, इसका उदाहरण महाभाष्यकार पतञ्जलि ने दिया है। युधिष्ठिर मीमांसक ने **'वैदिक स्वर मीमांसा'**[1] लिख कर इस विषय पर सम्भवतः सर्वप्रथम लेखनी उठाई। इसे उत्तरप्रदेश राज्य सरकार ने पुरस्कृत भी किया है। पुस्तक में स्वरों के भेदों के विवेचन के अतिरिक्त उदात्तादि स्वरों का पदार्थ और वाक्यार्थ से क्या सम्बन्ध है, इसकी सप्रमाण सोदाहरण गम्भीर मीमांसा की गई है। वेदार्थ में स्वरशास्त्र का ज्ञान कितना आवश्यक है और उसकी उपेक्षा के क्या परिमाण होते हैं, इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। स्वरज्ञान के विना वेद का यथार्थ बोध हो ही नहीं सकता, इस विषय में प्राचीनतम आचार्यों से लेकर स्वामी दयानन्द पर्यन्त अनेक आचार्यों के वचन उद्धृत किये गए हैं। ग्रन्थ के अन्त में वैदिक ग्रन्थों में उदात्त आदि स्वरों के जितने प्रकार के विविध चिह्न व्यवहृत होते हैं, उनकी व्याख्या और संहितापाठ से पदपाठ बनाने तथा उनमें होने वाले स्वर विपर्यय के नियम भी दिये गए हैं।[2] मीमांसक जी ने सामवेद की स्वरांकन प्रक्रिया पर भी एक पुस्तक लिखी है जिसमें सामवेद के पदपाठ के स्वरों का निर्देश प्रकार विस्तार से बताया गया है।[3] लेखनशैली सर्वथा शास्त्रीय है। प्रथम संस्कृत में सूत्र लिखे गये हैं, पुनः हिन्दी में उनकी व्याख्या और उदाहरण प्रत्युदाहरण दिखाये गये हैं।

(२) व्याकरण—व्याकरणशास्त्र को वेद का मुख कहा गया है। व्याकरणज्ञान के अभाव में वेद का अध्ययन सर्वथा असम्भव है। यद्यपि पाणिनि से पूर्व भी अनेक आचार्यों ने व्याकरण विषयक ग्रन्थों का प्रवचन किया था तथापि पाणिनि ने ही अष्टाध्यायी लिख कर संस्कृत भाषा को सर्वप्रथम सुसम्बद्ध और व्यवस्थित भाषा का रूप प्रदान किया ऐसा अनेक विद्वानों का कथन है। पाणिनि के सूत्र व्याकरण नियमों को संक्षिप्ततम रीति से निवद्ध करते हैं। कात्यायन ने अष्टाध्यायी पर वार्तिक लिखे तथा पतञ्जलि ने इस पर अपने विख्यात ग्रन्थ महाभाष्य की रचना की। आर्ष व्याकरण में सूत्र,

---

१. रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित।

२. 'वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन प्रकार' के नाम से पृथक् पुस्तकाकार भी यह अंश छपा है। प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान—अजमेर, संवत् २०२१ वि०।

३. सामवेद-स्वराङ्कनप्रकार—प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान अजमेर सं० २०२१ वि०।

वार्तिक और भाष्य की यह त्रयी सर्वथा प्रामाणिक और आदरणीय मानी गई है।

स्वामी विरजानन्द द्वारा आर्ष व्याकरण के पुनरुत्थान का इतिहास—स्वामी दयानन्द के शिक्षा-गुरु स्वामी विरजानन्द जब मथुरा में अपनी संस्कृत पाठशाला चलाते थे, उस समय कृष्ण शास्त्री नामक एक विद्वान् से उनका व्याकरण विषय पर शास्त्रार्थ हो गया। वस्तुतः शास्त्रार्थ हेतु दोनों प्रतिपक्षी विद्वानों का साम्मुख्य तो नहीं हुआ, परन्तु दोनों के शिष्यों ने ही **'अजाद्युक्तिः'** में कौन-सा समास है—षष्ठी तत्पुरुष वा सप्तमी तत्पुरुष, इस प्रश्न पर विभिन्न मत प्रस्तुत कर व्याकरणशास्त्र के समग्र आलोडन विलोडन तथा विवेचन का एक नवीन क्षेत्र खोल दिया। स्वामी विरजानन्द ने अपने शिष्य का समर्थन करते हुए उक्त पद में षष्ठीतत्पुरुष माना, जबकि कृष्ण शास्त्री और उसके शिष्य ने सप्तमी तत्पुरुष। इस विवाद ने स्वामी विरजानन्द के हृदय में व्याकरण विषयक एक अद्भुत विचार मन्थन को जन्म दिया। अष्टाध्यायी के **'कर्तृकर्मणोः कृतिः'**[1] सूत्र से उनके उक्त समास विषयक प्रश्न का समाधान होता था, अतः अब उन्हें विश्वास हो गया कि संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में केवल पाणिनि का शब्दानुशासन और उस पर पतञ्जलि का महाभाष्य ही प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, शेष कौमुदी, शेखर, सारस्वत, चन्द्रिका, मनोरमा आदि सभी प्रक्रिया ग्रन्थ भ्रान्त बुद्धि रचित होने के कारण व्याकरण का वैसा बोध नहीं करा सकते, जैसा अष्टाध्यायी और महाभाष्य से प्राप्त होता है। अब स्वामी विरजानन्द अष्टाध्यायी और महाभाष्य को ही व्याकरण के एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ मानने लगे। उनकी दृष्टि में शेष व्याकरण ग्रन्थ अनार्ष, धूर्त-चेष्टित फलतः मिथ्या थे। वे कहा करते थे—

अष्टाध्यायीमहाभाष्ये द्वे व्याकरणपुस्तके।
ततोऽन्यत् पुस्तकं यत् तु तत् सर्वं धूर्तचेष्टितम्॥[2]

उस दिन से विरजानन्द की पाठशाला से सिद्धान्तकौमुदी आदि अनार्ष व्याकरण ग्रन्थों का पठन-पाठन उठ गया और उनके स्थान पर अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य पढ़ाये जाने लगे।

संस्कृत व्याकरण के प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन, प्रकाशन तथा इन पर भाष्य टीकादि की रचना के अतिरिक्त आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा अनेक

---

१. अष्टाध्यायी २।३।६५॥

२. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय रचित विरजानन्दचरित पृ० ८२।

अनुपलब्ध, अलभ्य ग्रन्थों के उद्धार का भी कार्य किया गया है, जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

अष्टाध्यायी-सूत्रपाठ—पाणिनीय अष्टाध्यायी को आर्यसमाज संस्कृत व्याकरणशास्त्र का आधारभूत ग्रन्थ मानता है। इसका मुख्य नाम **'शब्दानुशासन'** है, यद्यपि आठ अध्यायों में विभक्त होने के कारण यह अष्टाध्यायी के नाम से ही प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ का मूल सूत्रपाठ आर्यसमाज के कई प्रकाशन संस्थानों द्वारा छप चुका है, जिनमें वैदिक यन्त्रालय, स्वामी प्रेस मेरठ, वेदप्रकाश प्रेस, इटावा तथा रामलाल कपूर ट्रस्ट आदि के संस्करण उल्लेखनीय हैं। मूलसूत्रों का एक पाठ गुरुकुल वृन्दावन से भी छपा है जो सम्पादन की विशिष्टता के कारण अपना विशेष महत्त्व रखता है।[1]

अष्टाध्यायी के व्याख्या ग्रन्थ—स्वामी दयानन्द कृत अष्टाध्यायी भाष्य का उल्लेख पूर्व अध्याय में आ चुका है। स्वामी दयानन्द के प्रमुख शिष्य **पं० भीमसेन शर्मा** ने अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति संस्कृत और हिन्दी में लिखी। इसका क्रम इस प्रकार था—मूलसूत्र, पदच्छेद, विभक्ति, पदार्थ, समास और अनुवृत्ति, पुनः सरल संस्कृत वृत्ति, सूत्र का अन्वितार्थ, उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वार्तिक, परिभाषा तथा शंकासमाधान। स्वामीजी के ही अन्य शिष्य **पं० ज्वालादत्त शर्मा** प्रयाग से विद्यामार्तण्ड नामक एक मासिकपत्र प्रकाशित करते थे। इसमें उन्होंने अष्टाध्यायी का संस्कृत और हिन्दीभाष्य धारावाही रूप से प्रकाशित किया। गुरुकुल कांगड़ी के प्रथम आचार्य **पं० गंगादत्त शास्त्री** ने अष्टाध्यायी पर संस्कृत में वृत्ति लिखी जो दो भागों में गुरुकुल से ही १९६२ वि० में प्रकाशित हुई।[2] **अखिलानन्द कविरत्न** ने पाणिनीय सूत्रार्थ-प्रकाश लिखा। **अमृतानन्द सरस्वती** का अष्टाध्यायीभाष्य, **बुद्धदेव** विद्यालंकार की पाणिनीय प्रवेशिका तथा **देवप्रकाश पातञ्जल** की अष्टाध्यायी प्रकाशिका इस विषय के अन्य ग्रन्थ हैं, जिनकी सहायता से व्याकरण में सहजतया प्रवेश पाया जा सकता है। दिसम्बर १९६४ ई० में **पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु** लिखित अष्टाध्यायी-भाष्य प्रथमावृत्ति का प्रथम भाग छपा। इसमें

---

२. अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः, वार्तिकगणपाठसहितः, अनुवृत्तिनिर्देशसमन्वितश्च वृन्दावनस्थगुरुकुलविश्वविद्यालयस्य मुख्याध्यापकपदमलंकुर्वता काव्यतीर्थ-उपाधिधारिणा श्रीशंकरदेवपाठकेन सम्पादितः। प्रकाशन काल पौष १९९६ वि०।

१. गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयस्याचार्यपादानामाज्ञया पण्डितप्रवरश्रीयुतगङ्गादत्तशास्त्रिभिः (तुरीयाश्रमे स्वामिशुद्धबोधतीर्थनाम्ना प्रसिद्धैः) निर्मितया तत्त्वप्रकाशिकया व्याख्यया सनाथीकृतम्।

प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्ति, समास, अनुवृत्ति, अर्थ, उदाहरण, उदाहरण का सरल संस्कृत में अर्थ लिखकर अन्त में हिन्दी में सूत्र की व्याख्या की गई है। इसका द्वितीय भाग (पांच अध्यायपर्यन्त) सन् १९६५ के अन्त में छपकर तैयार हुआ। पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु पांच अध्याय तक ही अष्टाध्यायीभाष्य की रचना कर पाये थे कि २१ दिसम्बर को स्वर्गत हो गए। उनके पीछे उनकी अन्तेवासिनी प्रज्ञाकुमारी व्याकरणाचार्या ने शेष ६-७-८ अध्यायों की उसी क्रम से व्याख्या लिखकर ग्रन्थ को पूर्ण किया। यह भाग भी सन् १९६८ के आदि में छप चुका है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी पाठविधि में अष्टाध्यायी के पठन-पाठन का जो क्रम लिखा है उसके अनुसार ४४ वर्ष पढ़ाने के पीछे पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने अपना यह अष्टाध्यायी भाष्य रचा।

महाभाष्य—अष्टाध्यायी पर पतञ्जलि रचित महाभाष्य नितान्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस वृहद् ग्रन्थ का प्रकाशन अपने आप में एक महत् प्रयत्न समझा जा सकता है। आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध सन्यासी **स्वामी दर्शनानन्द** ने, जबकि वे अपने पूर्व आश्रम में **कृपाराम शर्मा** के नाम से विख्यात थे, काशी में तिमिरनाशक प्रेस की स्थापना के साथ-साथ पुस्तक प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया। यह व्यवसाय न होकर संस्कृत के छात्रों को अल्पमूल्य में पुराने एवं दुर्लभ शास्त्रग्रन्थों को उपलब्ध कराने का एक विशिष्ट प्रयत्न ही था। उसी समय पं० कृपाराम शर्मा ने महाभाष्य तथा काशिका को छपाकर लागत मात्र मूल्य में तथा निर्धन छात्रों को प्रायः विना मूल्य सुलभ किया। अभी हाल ही में गुरुकुल झज्जर द्वारा संचालित हरयाणा साहित्य संस्थान के तत्त्वाधान में सम्पूर्ण महाभाष्य प्रदीप और उद्योत टीका तथा विमर्श टिप्पणी सहित छपा है।

महाभाष्य की भर्तृहरिकृत टीका—महाभाष्य की आचार्य भर्तृहरिविरचित टीका का एकमात्र हस्तलेख जर्मन में था। वहां से पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर द्वारा फोटो कापी मंगवाई गई। उस पर से प्रतिलिपि करके पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने उसका सम्पादन वा मुद्रण आरम्भ किया। इसके वे ४ फार्म ही काशी के **सुप्रभातम्** पत्रिका (सन् १९३५) में छपवा सके (सम्पादित ग्रन्थ अभी तक पड़ा है)।

व्याकरण के अन्य ग्रन्थ—अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य के अतिरिक्त अन्य व्याकरण के प्राचीन ग्रन्थों का प्रकाशन तथा पुनरुद्धार भी आर्यसमाज के विद्वानों द्वारा हुआ है, जिसका कुछ विवरण इस प्रकार है—

(१) **भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय**—पं० चारुदेव शास्त्री ने सर्वप्रथम

वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड को भर्तृहरिविरचित स्वोपज्ञ टीका एवं वृषभदेव-विरचित व्याख्या सहित प्रकाशित किया। तदनन्तर द्वितीय काण्ड के अर्ध भाग पर भी भर्तृहरिविरचित स्वोपज्ञ टीका एवं पुण्यराज की टीका का सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया। अवशिष्ट द्वितीय एवं तृतीय काण्ड की सम्पादित प्रेस कापी देशविभाजन काल में लाहौर में नष्ट हो गई।

(२) **क्षीरतरङ्गिणी**—यह पाणिनीय धातुपाठ के औदीच्य पाठ पर लिखी गई क्षीरस्वामी की व्याख्या है। धातुपाठ पर लिखा गया यह सबसे प्राचीन वृत्ति ग्रन्थ है। इसका सम्पादन पं० युधिष्ठिर मीमांसक एवं रामशंकर भट्टाचार्य ने किया। ग्रन्थारम्भ में पाणिनीय धातुपाठ पर संस्कृत भाषा में विस्तृत ऐतिहासिक विवरण दिया गया है।

(३) **दशपादी उणादि-वृत्ति**—व्याकरण साहित्य में उणादि सूत्रों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाणिनीय व्याकरण से सम्बद्ध दो प्रकार के उणादि सूत्र उपलब्ध होते हैं—एक **पञ्चपादी** और दूसरे **दशपादी**। पञ्च-पादी उणादि सूत्रों की अनेक वृत्तियां छप चुकी हैं। दशपादी उणादि और उसकी किसी भी वृत्ति का प्रकाशन नहीं हुआ। केवल ग्रन्थों में इनके उद्धरण ही मिलते थे। पं युधिष्ठिर मीमांसक ने इस ग्रन्थ के कई हस्तलेख संगृहीत कर इसका बहुत श्रेष्ठ सम्पादन किया। यह ग्रन्थ बनारस संस्कृत कालेज की सरस्वतीभवन पुस्तकमाला[1] के अन्तर्गत १९४३ में छपा।

(४) **वामनीय-लिङ्गानुशासन स्वोपज्ञवृत्तिसहित**—पाणिनीय व्याकरणानुसारी शब्दों का लिंगबोधक यह एक अपूर्व ग्रन्थ है। सम्पूर्ण लिंगानुशासन तीस कारिकाओं में भर दिया गया है। इस ग्रन्थ पर ग्रन्थकार ने अपनी विस्तृत व्याख्या लिखी है। वेदवती व्याकरणोपाध्याया ने इसका सम्पादन किया है। प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान से प्रकाशित इसके संस्करण में अनेक पाठ शुद्ध किये गए हैं, कई स्थानों पर उपयोगी टिप्पणियां दी गई है और साथ में ग्रन्थ में जिन शब्दों का लिंग दर्शाया है उनकी लिंगनिर्देशपूर्वक विस्तृत सूची दी है।

(५) **दैव पुरुषकार-वार्तिकोपेत**—पाणिनीय धातुपाठ में समानरूप वाली कई धातुएं कई विभिन्न गणों में पढ़ी गई हैं। इनको विभिन्न गणों में पढ़ने का क्या प्रयोजन है, इसका ज्ञान कराने के लिए देव नामक किसी प्राचीन वैयाकरण ने 'दैवम्' नामक पद्यबद्ध ग्रन्थ लिखा था। इस पर कृष्णलीलाशुक

1. The Princess of Wales Sarasvati Bhavana Texts Series No. 81. 1943.

मुनि नाम के एक महान् वैयाकरण ने पुरुषकार नाम का एक वार्तिक लिखा, जिसमें उसने 'दैवम्' की विस्तृत व्याख्या की। उसमें अनेक ऐसे प्राचीन वैयाकरणों और उन ग्रन्थों के प्रमाण दिये गये हैं जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। पाणिनीय धातुपाठ के परिज्ञान के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त ही उपयोगी है। यह ग्रन्थ लगभग ३५ वर्ष से अप्राप्य था। इसे पुनः छपवाने का श्रेय सम्पादक पं० युधिष्ठिर मीमांसक को है जिन्होंने विस्तृत भूमिका के साथ लगभग ६५० टिप्पणियाँ और अन्त में ६ परिशिष्ट दिए हैं।

(६) **भागवृत्ति-संकलन**—पाणिनीय अष्टाध्यायी की भागवृत्ति नाम की अतिप्राचीन बहुत प्रामाणिक वृत्ति थी। यह वृत्ति इस समय उपलब्ध नहीं है। इसके सैकड़ों उद्धरण व्याकरण, कोश, साहित्य आदि के ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। शतशः ग्रन्थों का पारायण करके बड़े प्रयत्न से इस प्राचीन प्रामाणिक अष्टाध्यायी की वृत्ति के उद्धरण संकलित किये गए हैं। इन उद्धरणों से पाणिनीय व्याकरण पर बहुत प्रकाश पड़ता है। सम्पादक पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने बहुविध विस्तृत टिप्पणियां देकर इसके महत्त्व में वृद्धि की है।

(७) **काशकृत्स्न धातु-व्याख्यान**—आचार्य काशकृत्स्न ने पाणिनि से बहुत पूर्व एक विस्तृत सांगोपांग व्याकरण रचा था। वह इस समय उपलब्ध नहीं है, परन्तु उस व्याकरण का धातुपाठ चन्नवीर कवि कृत कन्नड़-टीका सहित १२–१३ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। ग्रन्थ कन्नड़भाषा और कन्नड़-लिपि में मुद्रित होने से यह संस्कृतज्ञों के लिये दुर्लभ था। अतः कन्नड़भाषा-विज्ञों की सहायता से बड़े परिश्रमपूर्वक कन्नड़ टीका का संस्कृत रूपान्तर करके इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने प्रकाशित किया है।

(८) **काशकृत्स्न-व्याकरण**—यह व्याकरण समग्र रूप में उपलब्ध नहीं है, चन्नवीर कवि कृत काशकृत्स्न धातुपाठ की कन्नड़ टीका में काशकृत्स्न व्याकरण के लगभग १३५ सूत्र वा नियम संगृहीत हैं। भर्तृहरि और कैयट आदि ग्रन्थकारों ने भी काशकृत्स्न व्याकरण के कुछ सूत्र अपने ग्रन्थों में उद्धृत किए हैं। उन सबका संग्रह करके पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने उन पर विस्तृत विवरण लिखा। इसमें कातन्त्र और पाणिनीय तन्त्र से काशकृत्स्न तन्त्र की प्रतिपद तुलना की है। साथ में काशकृत्स्न आचार्य और उसके व्याकरण का विस्तृत इतिहास भी दिया गया है।

संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—विभिन्न व्याकरण ग्रन्थों के सम्पादित संस्करणों के अतिरिक्त युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा लिखित **संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास** (२ भाग) आर्यसमाज की संस्कृत व्याकरण-

शास्त्र की एक अद्भुत देन है। इस अनुसंधानपूर्ण ग्रन्थ से पता चलता है कि संस्कृत व्याकरण वाङ्मय अत्यन्त विशाल है। इस विषय का क्रमबद्ध इतिहास आज तक भी किसी भाषा में नहीं लिखा गया। यह अपने विषय का एकमात्र प्रथम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में आरम्भ से लेकर २०वीं शताब्दी पर्यन्त सब प्रमुख वैयाकरणों तथा उनकी रचनाओं का क्रमबद्ध इतिहास लिखा गया है। दोनों भाग लगभग १००० पृष्ठों में समाप्त हुए हैं। प्रथम भाग में आचार्य पाणिनि से पूर्ववर्ती २३ वैयाकरण आचार्यों, पाणिनि तथा पाणिनीय शास्त्र पर लिखने वाले लगभग १२५ व्याख्याकारों और पाणिनि से उत्तरवर्ती १५ वैयाकरणों तथा उन पर व्याख्या लिखने वाले लगभग ७५ वैयाकरणों का विशद वर्णन किया गया है। द्वितीय भाग में व्याकरणशास्त्र के धातुपाठ, गणपाठ, उणादि सूत्र, लिंगानुशासन, फिट्सूत्र, व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थ, व्याकरण प्रधान-काव्य ग्रन्थ तथा वैदिक व्याकरण (प्रातिशाख्य) आदि के प्रवक्ताओं तथा व्याख्याताओं का इतिहास भी लिखा गया है। वस्तुतः संस्कृत व्याकरणशास्त्र का प्रथम बार क्रमबद्ध ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत कर लेखक ने संस्कृतभाषा और साहित्य की महती सेवा की है। यह ग्रन्थ उत्तरप्रदेश राज्य सरकार द्वारा १९५२ ई० में पुरस्कृत हो चुका है तथा आगरा और पंजाब आदि विश्वविद्यालयों की एम० ए० संस्कृत परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में भी उसे स्वीकार किया गया है।

स्फुट व्याकरण ग्रन्थ—स्वामी दयानन्द के शिष्य पं० भीमसेन शर्मा ने **'गणरत्नमहोदधि'** (वर्धमान विरचित स्त्रीय वृत्ति सहित) का सम्पादन कर सरस्वती प्रेस, इटावा से प्रकाशित किया। पं० गंगादत्त शास्त्री ने **'आख्यातिक'** का सम्पादन किया जो १९६३ वि० में सद्धर्म प्रचारक प्रेस, जालन्धर से छपा। गोविन्दलाल वन्सीलाल तथा आचार्य रुद्रदत्त शास्त्री ने **वैदिक व्याकरण भास्कर** का निर्माण कर अष्टाध्यायी के वैदिक प्रक्रिया सम्बन्धी सूत्रों का विवेचन किया है। **'अव्ययार्थनिबन्धनम्'** शीर्षक व्याकरण का एक लघु ग्रन्थ स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने गवर्नमेंट संस्कृत पुस्तकालय बड़ौदा तथा डी० ए० वी० कालेज, लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय के कतिपय हस्तलेखों को देखकर तैयार किया जो फाल्गुन २०२३ वि० में प्रकाशित हुआ। गुरुकुल झज्जर के स्नातक पं० सुदर्शनदेव शर्मा ने **व्याकरण-कारिका प्रकाश** लिखकर महाभाष्य और काशिका में आई कारिकाओं की सारगर्भित सरल संस्कृतभाषा में विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की है।

आर्यसमाज ने जहाँ आर्ष व्याकरण ग्रन्थों को मान्यता प्रदानकर उनके

प्रकाशन में योग दिया वहाँ भट्टोजि दीक्षित रचित सिद्धान्तकौमुदी आदि प्रक्रिया ग्रन्थों का खण्डन भी किया। राजेन्द्रनाथ शास्त्री लिखित सिद्धान्त-कौमुदी की अन्त्येष्टि एक ऐसा ही ग्रन्थ है। जिसमें युक्तिपूर्ण ढंग से कौमुदी का खण्डन किया गया है। इसी प्रकार गुरुकुल ज्वालापुर के स्नातक स्व० विश्वनाथ शास्त्री ने महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त दाधिमथ द्वारा सम्पादित सिद्धान्तकौमुदी का खण्डन लिखा।

(३) **छन्द**—वैदिक छन्दों के विषय में वहुत कम साहित्य उपलब्ध होता है। पिंगल कृत छन्दःसूत्र इस विषय का प्रधान ग्रन्थ है जिसमें ऋक्=पद्यबद्ध और यजुः=गद्यबद्ध मन्त्रों के छन्दों का लक्षणपूर्वक विवेचन मिलता है। इस छन्दः सूत्र पर पं० अखिलानन्द शर्मा ने संस्कृतभाष्य लिखकर प्रकाशित किया। इसमें प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, मर्कटी, पताका आदि दुरूह प्रयोगों का विवेचन किया गया है। पिंगलाचार्य प्रणीत इसी छन्दः शास्त्र पर **ललितपिंगला** नामक एक संस्कृत टीका मेधाव्रताचार्य ने लिखी जो भारत के केन्द्रीय शिक्षामन्त्रालय द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहयोग से हरयाणा साहित्य संस्थान ने प्रकाशित की है। इस टीका में हलायुध कृत 'मृतसंजीवनी-वृत्ति' का परित्याग करके वृत्तिकार ने स्वरचित ग्रन्थों के ही उदाहरण दिए हैं जो अश्लीलता दोष वर्जित हैं। हरिदत्त शास्त्री ने **छन्दोमञ्जरी** की टीका लिखी।

पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने **वैदिक-छन्दोमीमांसा**[1] लिखकर वैदिक वाङ्मय में जहाँ कहीं भी वैदिक छन्द विषयक जो सामग्री विद्यमान थी, उसके आधार पर प्रथम वार वैदिक छन्दों के विषय में महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। वैदिक छन्द विषयक इतनी सामग्री एक स्थान पर किसी भी भाषा के किसी भी ग्रन्थ में संग्रहीत नहीं है। शास्त्रों में वैदिक छन्दों के जितने भेद-प्रभेद दर्शाए गए हैं उनकी विशद व्याख्या के साथ-साथ उनके वैदिक उदाहरण भी बड़े परिश्रमपूर्वक ढूंढ़-ढूंढ़ कर दिये गए हैं।

(४) **निरुक्त**—वेदार्थ ज्ञान में निरुक्त का सर्वोपरि महत्त्व है। निरुक्तशास्त्र में वेदमन्त्रों में प्रयुक्त शब्दों के निर्वचन दिखलाकर उनकी व्याख्या की जाती है। स्वामी दयानन्द ने वेदार्थ में निरुक्त के ज्ञान को अपरिहार्य स्वीकार किया है। वर्तमान में यास्क रचित जो निरुक्त उपलब्ध होता है उसमें उद्धृत औपमन्यव, शाकपूणि, औदुम्बरायण आदि प्राचीन आचार्यों के मतों से ज्ञात होता है कि यास्क से पूर्व भी अनेक आचार्यों ने निरुक्तशास्त्र का प्रवचन किया था। यास्क ने निघण्टु के रूप में वैदिक शब्दों के कोश का

१. रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित।

संग्रह किया। निरुक्त इस निघण्टु की ही व्याख्या है। स्वामी दयानन्द ने यास्कीय निघण्टु का प्रकाशन अपनी वेदांगप्रकाश ग्रन्थमाला के अन्तर्गत किया। निरुक्त (मूल) वैदिक यन्त्रालय में छपा तथा वैदिक निघण्टु का अग्निचित् श्रीभास्करराय दीक्षित कृत श्लोकवद्ध पाठ का एक संस्करण पं० तुलसीराम स्वामी ने मेरठ से सन् १८९८ ई० में प्रकाशित किया। इसी प्रकार भास्करराय दीक्षित कृत श्लोकयुक्त निघण्टु, उसका मूल गद्यपाठ तथा समस्त पदों की अकारादि क्रम से सूची सहित पं० रामदत्त शुक्ल ने सम्पादित कर १९९४ वि० में प्रकाशित किया।

निरुक्त पर भाष्य रचना—आर्यसमाजी विद्वानों ने निरुक्त पर अनेक भाष्यों की रचना की है जिनमें **अखिलानन्द कविरत्न** का निरुक्त वैदिकभाष्य, **पं० राजाराम** का निरुक्त भाष्य, **पं० चन्द्रमणि** विद्यालंकार का वेदार्थदीपक नामक निरुक्त भाष्य तथा **पं० भगवद्दत्त** का निरुक्त भाषा-भाष्य उल्लेखनीय हैं। चन्द्रमणि विद्यालंकार की निरुक्तव्याख्या जहां छात्रोपयोगी सुवोध टीका है, वहां पं० भगवद्दत्त ने प्रथम वार निरुक्त की आधिदैविक प्रक्रियापरक व्याख्या लिखी है। व्याख्या में स्थान-स्थान पर पाश्चात्य विद्वानों और उनके भारतीय अनुयायियों के निरुक्त विषयक भ्रान्त मतों की सप्रमाण आलोचना की गई है। काशीनाथ राजवाड़े[1] तथा डा० सिद्धेश्वर वर्मा[2] जैसे विद्वानों ने यास्क के निर्वचनों की आलोचना करते हुए उन्हें absurd तथा improbable आदि निन्दास्पद वचनों से अभिहित किया है। पं० भगवद्दत्त ने इस आलोचना की कड़ी टीका की है और यास्क के निर्वचनशास्त्र के महत्त्व और गौरव को स्थापित किया है। आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् **स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक** ने निरुक्त पर एक अत्यन्त विस्तृत संस्कृतभाष्य 'निरुक्त सम्मर्श' नाम से लिखा है। यह निरुक्त पर लिखी गई अद्यतन सभी टीकाओं से वृहत् तथा गवेषणापूर्ण है। सच तो यह है कि गत एक सहस्राब्दि में निरुक्त पर इससे अधिक विशद और गम्भीर विवेचनात्मक ग्रन्थ संस्कृत में और कोई प्रकाशित नहीं हुआ। गुरुकुल वृन्दावन के **आचार्य विश्वेश्वर** रचित निरुक्त के नैघण्टुक काण्ड तथा नैगम काण्ड की हिन्दी व्याख्या[3] ज्ञानमण्डल वाराणसी

---

१. काशीनाथ राजवाड़े द्वारा सम्पादित निरुक्त (भण्डारकर प्राच्यविद्या शोधसंस्थान, पूना से प्रकाशित) पृ० ४०-४३ भूमिका।

२. दी एटीमोलोजीज ऑफ यास्क—विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर से १९५३ में प्रकाशित पृ० ३ व ८।

३. साहित्यशास्त्रे विरचय्य टीकाः तर्केऽथ वृत्तिं कृतवान् सयुक्तिम्।
वेदप्रवेशाय निरुक्तमार्गं व्याख्यामुखेनाद्य समुद्धरामि॥
—ग्रन्थारम्भ का श्लोक।

से प्रकाशित हुई है। असमय में ही दिवंगत हो जाने के कारण निरुक्तदीपिका नामक यह हिन्दी व्याख्या अपूर्ण ही रह गई। आचार्य विश्वेश्वर का यह निरुक्त व्याख्यान विषय को सुगम और सुबोध रूप में प्रस्तुत करने की दृष्टि से अद्वितीय है।

अन्वेषण और अनुसंधान की दृष्टि से पं० राजाराम का **कौत्सव्य निघण्टु** तथा वररुचि लिखित **निरुक्तसमुच्चय** का युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित संस्करण विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। निरुक्तसमुच्चय का प्रथम संस्करण विरजानन्दाश्रम शाहदरा, लाहौर से छपा था। द्वितीय परिवर्धित संस्करण २०२२ वि० में प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर से छपा। आचार्य वररुचि प्रणीत यह ग्रन्थ चार कल्पों में समाप्त हुआ है तथा इसमें १०२ मन्त्र व्याख्यात हुए हैं। मूल ग्रन्थ के हस्तलेख को, जो अत्यन्त अशुद्ध तथा स्थान-स्थान पर त्रुटित था, यत्नपूर्वक शोधा गया है।

निरुक्तविषयक आलोचनात्मक निबन्ध—निरुक्त शास्त्र तथा उसमें प्रतिपादित निर्वचन प्रणाली के विषय में कतिपय आलोचनात्मक निबन्ध भी आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा लिखे गए हैं जिनसे निरुक्त के मूल प्रतिपाद्य तथा उससे सम्बद्ध अन्य समस्याओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ऐसे निबन्धों में **पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु** रचित वेद और निरुक्त, निरुक्तकार और वेद में इतिहास, **आचार्य विश्वश्रवाः** लिखित निरुक्त को समझने में प्राचीन आचार्यों की भूल तथा **स्वामी अनुभवानन्द** लिखित 'निरुक्त का मूल वेद में' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। बंगाल के सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं० सत्यव्रत सामश्रमी लिखित निरुक्तालोचन के प्रारम्भिक भाग का हिन्दी अनुवाद **पं० नरदेव शास्त्री** ने किया जो परोपकारी मासिक के वैशाख, ज्येष्ठ, श्रावण (१९९५ वि०) के अंकों में प्रकाशित हुआ।

(५) कल्प—कल्प ग्रन्थों के अन्तर्गत श्रौत, गृह्य और धर्म-सूत्र आते हैं। श्रौतसूत्रों में वाजपेय, अश्वमेध, राजसूय आदि श्रौत-यज्ञों की विधियां उल्लिखित हैं। गृह्यसूत्र, जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह आदि गृह्य कर्मों का विधान करते हैं तथा धर्मसूत्रों में वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा अन्यान्य सामाजिक संस्थाओं का विवेचन हुआ है। आर्यसमाज की यद्यपि याज्ञिक कर्मकाण्ड में महती आस्था है, तथापि आर्यसमाजी विद्वानों ने कल्प-साहित्य पर जो कुछ कार्य किया है उसे नगण्य ही समझा जायगा। इसका एक कारण तो यह है कि आज के भौतिकता प्रधान युग में पारलौकिक अदृष्ट फल प्रदान करने वाले श्रौत यज्ञों में लोगों की श्रद्धा बहुत न्यून रह गई है।

जहां तक गृह्य कर्मों का सम्बन्ध है आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ने अपना कर्मकाण्ड परक ग्रन्थ **'संस्कारविधि'** लिखकर अपने अनुयायियों के उपयोग के लिए एक सामान्य विधि निर्धारित कर दी। अतः आर्यसमाज के कर्मकाण्ड वेत्ताओं का इस विषयक ज्ञान संस्कारविधि से आगे उसके उपजीव्य गृह्यसूत्रों तक भी नहीं पहुँच पाता।

फिर भी कतिपय आर्यसमाजी विद्वानों ने कल्प साहित्य के अनुवाद, प्रकाशन आदि का प्रशंसनीय कार्य किया है। इस सम्बन्ध में आर्यसमाज के आद्य पण्डित भीमसेन शर्मा का कार्य चिरस्मरणीय रहेगा। पं० भीमसेन शर्मा ने **'मानव गृह्य-सूत्र'** तथा **'आपस्तम्ब गृह्य-सूत्र'** का भाषानुवाद प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने **आधान, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, पुत्रकाम** आदि कुछ इष्टियों की पद्धतियाँ भी प्रकाशित कीं। शर्माजी ने **'आपस्तम्बीय यज्ञपरिभाषा सूत्र'** का संस्कृत तथा हिन्दी अनुवाद भी किया। यह अनुवाद उनके 'आर्यसिद्धान्त' मासिक-पत्र के मई १८९८ ई० से लेकर सितम्बर के अंक तक धारावाही रूप में छपता रहा। बाद में पृथक् रूप में भी यह ग्रन्थ छपा। परिभाषा सूत्रों का यह संस्कृत भाष्य सरल और प्रसाद-गुण युक्त भाषा में लिखा गया है। बीच-बीच में अन्यान्य संस्कृत के कर्मकाण्ड ग्रन्थों को उद्धृत भी किया गया है। **'ऋग्वेदेन होता करोति'** आदि सूत्रों की व्याख्या इस प्रकार की गई है—**"ऋग्वेदस्य मन्त्रब्राह्मणसूत्रादिभिः प्रतिपाद्यं कर्म होता कुर्यात् सामवेदविहितं कार्यमुद्गाता यजुर्वेदविहितं च कर्माध्वर्युः," वेदत्रयविहितमथर्ववेदविहितं वा सर्वविधं कर्म ब्रह्मा कुर्यात्।"**[1] **पारस्कर गृह्य** सूत्र का एक अनुवाद पं० राजाराम ने आर्ष ग्रन्थावली के अन्तर्गत लाहौर से छपाया तथा एक अन्य अनुवाद स्वामी प्रेस, मेरठ से भी छपा। पारस्कार गृह्य-सूत्र के उपनयनसूत्रों (द्वितीय काण्ड-काण्डिका ३-७) की व्याख्या डा० सुधीरकुमार गुप्त ने लिखी जो उनके वेद-लावण्यम् (भाग १) के अन्तर्गत छपी।

(६) ज्योतिष—ज्योतिष को वेद का नेत्र स्थानीय माना गया है। विविध यज्ञानुष्ठानों का विविध ऋतुओं में सम्पन्न किया जाना वेदज्ञों के लिए ज्योतिषज्ञान की अपेक्षा रखता है। आर्यसमाज के विद्वानों ने ज्योतिष विषयक जो कुछ लिखा वह गणित ज्योतिष से ही सम्बन्ध रखता है, फलित ज्योतिष में आर्यसमाज का विश्वास नहीं है। ज्योतिष विषयक मूलग्रन्थों में **सूर्यसिद्धान्त** उल्लेखनीय है। इसका एक संस्करण स्वामी प्रेस, मेरठ से

---

१. यज्ञपरिभाषा सूत्र पृ० ७५।

छपा । अन्य ग्रन्थों में पं० भगवद्दत्त सम्पादित **आथर्वण ज्योतिष,** ब्रह्ममुनि-परिव्राजक का **वैदिक ज्योतिषशास्त्र** तथा पं० गंगाप्रसाद (कार्यनिवृत्त न्यायाधीश) की **'ज्योतिषचन्द्रिका'** उल्लेखनीय हैं । आचार्य विश्वेश्वर ने ज्योतिषविषयक एक ग्रन्थ **खगोलप्रकाश** संस्कृत में लिखा है ।

उपवेद—

आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद को चारों वेदों के उपवेदों की संज्ञा दी गई है । प्राचीनकाल में इन विषयों पर सहस्रों ग्रन्थ लिखे गये थे, परन्तु सम्प्रति उन में से बहुत कम उपलब्ध होते हैं ।

आयुर्वेद—आयुर्वेद के प्रचार और प्रसार में आर्यसमाज का सक्रिय योगदान रहा है । आयुर्वेद के ग्रन्थों का प्रकाशन और सम्पादन भी आर्यसमाजी क्षेत्र से हुआ । इटावा निवासी **भीमसेन शर्मा** ने 'आयुर्वेद-शब्दार्णव' छपाया । **जयदेव शर्मा** विद्यालंकार ने चरकसंहिता का हिन्दी अनुवाद किया । यह तीन भागों में समाप्त हुआ । **अत्रिदेव** विद्यालंकार ने चरक और सुश्रुत का अनुवाद किया । **सूरमचन्द वैद्य वाचस्पति** तथा **अत्रिदेव** विद्यालंकार ने पृथक्-पृथक् आयुर्वेद का इतिहास लिखा । गुरुकुल झज्जर के आयुर्वेद विभागाध्यक्ष **सत्यदेव वासिष्ठ** ने 'नाडीतत्त्वदर्शन' नामक संस्कृत में एक महानिबन्ध लिखा है ।

धनुर्वेद—धनुर्वेदविषयक **पं० राजाराम** का 'औशनस धनुर्वेद संकलन' तथा **महेन्द्रनाथ सिद्धान्तशिरोमणि** का 'पौरस्त्य धनुर्वेद' उल्लेखनीय है । **प्रियरत्न आर्ष** ने गवर्नमेंट संस्कृत लाइब्रेरी बड़ौदा में विद्यमान महर्षि भरद्वाज के 'यन्त्रसर्वस्व' नामक ग्रन्थ के बोधानन्द वृत्ति युक्त 'वैमानिक प्रकरण' का भाषानुवाद किया । मूलग्रन्थ पाण्डुलिपि के रूप में है । इन्हीं ब्रह्ममुनि (सन्यस्तनाम) ने 'बृहद् विमानशास्त्र' लिखकर लुप्त विमान विद्या पर प्रकाश डाला है । **पं० भगवद्दत्त** ने धनुर्वेद का इतिहास लिखा ।

अर्थवेद—पं० उदयवीर शास्त्री ने आचार्य कौटल्य के 'अर्थशास्त्र' का प्रामाणिक अनुवाद किया । श्री प्राणनाथ विद्यालंकार ने भी अर्थशास्त्र का अनुवाद किया ।[२] श्री पं० उदयवीर शास्त्री ने अर्थशास्त्र की माधवयज्वा की जयचन्द्रिका टीका का भी सम्पादन किया ।[३] गुरुकुल ज्वालापुर के स्नातक **रामावतार विद्याभास्कर** ने महामति चाणक्य के सूत्रों का अर्थ और विवरण लिखा है । आचार्य बृहस्पति रचित राजधर्म सूत्रों को १९२० में वैदिक मैग-

---

१. मेहरचन्द लछमणदास. लाहौर ने १९२५ ई० में प्रकाशित किया ।
२. मोतीलाल बनारसीदास द्वारा लाहौर से प्रकाशित ।
३. ,, ,,

ज़ीन में प्रकाशित किया गया था। १९१६ में ये सूत्र यूरोप की किसी पत्रिका में रोमन लिपि में सर्वप्रथम छपे थे। इन्हें नागरी लिपि में मुद्रित करने का कार्य स्व० पं० भगवद्दत्त ने किया। इन्होंने इन बार्हस्पत्य राजधर्म सूत्रों की विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी लिखी थी। बृहस्पति प्रोक्त यही राजधर्मसूत्र जो संख्या में ४३० हैं तथा ६ अध्यायों में विभक्त हैं, पं० शिवदयालु कृत हिन्दी अनुवाद सहित आर्यमित्र (२४ जनवरी १९६५) के विशेषांक के रूप प्रकाशित हुए।

दर्शनशास्त्र—

दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त और मीमांसा का समावेश होता है। ये वैदिक दर्शन की विभिन्न पद्धतियां हैं। अत्यन्त प्राचीनकाल में इन दर्शनों का प्रतिपादन करने वाले सूत्र ग्रन्थों का निर्माण हुआ और बाद में इन ग्रन्थों पर भाष्य, टीका, वार्तिक, विवरण आदि के नाम से व्याख्यात्मक ग्रन्थ विपुल मात्रा में लिखे गए। कालक्रम की दृष्टि से सांख्यदर्शन सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। सांख्याचार्य कपिल का उल्लेख महाभारत और भागवत में मिलता है। सांख्य और योग के सिद्धान्तों का वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् में उल्लिखित है। न्यायदर्शन १६ पदार्थों की उपस्थापना करता हुआ तर्कशास्त्र का प्रतिपादन करता है। न्याय के अनुसार वेद ईश्वर की कृति है अतः उसे पौरुषेय कहा जाता है। सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता न्याय को स्वीकार्य है। मध्यकाल में नवीन न्याय का एक पृथक् सम्प्रदाय स्थापित हुआ जिसके मुख्य केन्द्र मिथिला और नवद्वीप रहे। वैशेषिकदर्शन न्याय का ही सहधर्मी दर्शन है जो मुख्यतया विज्ञान के सिद्धान्तों पर आधारित है तथा जिसमें परमाणुवाद की प्रतिष्ठा हुई है। मीमांसादर्शन ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्डपरक वचनों की परस्पर संगति स्थापित करने वाला दर्शन है, जिसमें यज्ञविधियों के विस्तृत निर्देश हैं। मीमांसा के अनुसार वेद की आज्ञायें ही धर्म हैं तथा वेद अपौरुषेय, नित्य तथा स्वतः प्रमाण है। वेदान्त-दर्शन को विद्वानों ने समग्र भारतीय दर्शन की चरम परिणति कहा है जिसमें सच्चिदानन्द पद वाच्य निराकार अद्वय (अद्वैत) ब्रह्म[1] की विशिष्ट सत्ता की स्थापना की गई है।

मध्यकालीन दार्शनिक चिन्तनधारा ने इन दर्शनों को परस्पर विरोधी माना तथा दर्शनों के मूल सूत्र ग्रन्थों की ऐसी व्याख्यायें की गईं जो आपाततः

---

१. अद्वैत ब्रह्म शब्द से ब्रह्म के द्वैतपन का निषेध समझना चाहिये, जीव और प्रकृति का प्रतिषेध अभीष्ट नहीं है।

विरोधी प्रतीत होती थीं। स्वामी दयानन्द ने षड्दर्शनों के प्रति एक मौलिक दृष्टि प्रस्तुत की। उनके अनुसार इन दर्शनों में परस्पर मतभेद नहीं हैं, अपितु वे विभिन्न विषयों का पृथक्-पृथक् ढंग से प्रतिपादन करते हैं। अतः इनके पारस्परिक समन्वय के सूत्र ढूंढ़े जाने चाहिये। स्वामी दयानन्द के मतानुसार, "सृष्टि का जो कर्म कारण है उसकी व्याख्या मीमांसा में, समय की व्याख्या वैशेषिक में, उपादान कारण की व्याख्या न्याय में, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में, तत्त्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य में और निमित्त कारण जो परमेश्वर है उसकी व्याख्या वेदान्त शास्त्र में है। इससे कुछ भी विरोध नहीं।"[1] इसी प्रकार के विचार उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में भी व्यक्त किए हैं।

अपने अत्यधिक व्यस्त जीवन तथा असमय में ही दिवंगत हो जाने के कारण स्वामी दयानन्द षड्दर्शनों के विषय में कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं लिख सके, फिर भी उनकी कतिपय मौलिक मान्यतायें दर्शनों के अध्ययन के क्षेत्र में क्रान्तिकारी समझी जा सकती हैं। उदाहरणार्थ उन्होंने यह बलपूर्वक प्रतिपादन किया कि सांख्यदर्शन को निरीश्वरवादी नहीं माना जाना चाहिये। वेदान्त दर्शन के विषय में शङ्कर मत यह है कि इस दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म को संसार का अभिन्न निमित्तोपादान कारण माना गया है, ब्रह्म-सूत्र प्रकृति की स्वतन्त्र और निरपेक्ष सत्ता का निषेध तथा जीव-ब्रह्मैक्यवाद का प्रतिपादन करते हैं। इसके विपरीत स्वामीजी की यह मान्यता थी कि बादरायण रचित ब्रह्म-सूत्र ब्रह्म को सृष्टि का निमित्त कारण मानते हुए भी प्रकृति को उसका उपादान कारण मानने का विरोध नहीं करते। ब्रह्मसूत्रों की द्वैत (भेद) परक व्याख्या पर जोर देते हुए स्वामी दयानन्द अद्वैतवेदान्त को 'नवीनवेदान्त' की संज्ञा देते हैं तथा ब्रह्मसूत्रों पर शंकरपूर्व के बौधायन भाष्य को पढ़ने का अनुरोध करते हैं। इसी प्रकार वे मीमांसा को निरीश्वरवादी दर्शन मानने के भी विरुद्ध हैं तथा मीमांसा में पशुहिंसा के विधायक सूत्रों की सत्ता को अस्वीकार करते हैं अथवा उन्हें अप्रमाण मानते हैं।

सत्यार्थप्रकाश में उल्लिखित पठन-पाठन व्यवस्था के अन्तर्गत स्वामी दयानन्द जिन भाष्यों और टीकाओं को पढ़ने का सुझाव देते हैं उनमें से कई तो अनुपलब्ध हैं। यथा पूर्व मीमांसा पर व्यास मुनि की व्याख्या उपलब्ध नहीं होती। सर्वाधिक प्राचीन भाष्य शबर स्वामी का लिखा हुआ मिलता है।

---

१. सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास।

वैशेषिक दर्शन पर गोतम मुनि कृत कोई भाष्य नहीं मिलता[1] और न सांख्य-दर्शन पर भागुरि मुनि का ही कोई ग्रन्थ मिलता है। वैशेषिक पर प्रशस्तपाद-रचित 'पदार्थधर्मसंग्रह' नामक व्याख्या मिलती है। सांख्य पर विज्ञानभिक्षु का 'सांख्य प्रवचन भाष्य' एवं अनिरुद्ध तथा महादेव वेदान्ती की सूत्र वृत्तियां ही मिलती हैं। इसी प्रकार वेदान्त पर शंकर से पूर्व का कोई भाष्य नहीं मिलता, परन्तु आचार्य रामानुज ने अपने भाष्य में यह संकेत अवश्य दिया है कि आचार्य बौधायन ने ब्रह्मसूत्रों का विस्तृत भाष्य किया है मैं उन्हीं के मतानुसार अपनी व्याख्या प्रस्तुत करूंगा।[2] स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित न्याय दर्शन पर 'वात्स्यायन-भाष्य' और योग दर्शन पर 'व्यास-भाष्य' अवश्य मिलते हैं।

आर्यसमाज के परवर्ती विद्वानों ने षड्दर्शनों पर पर्याप्त श्रम किया। उनके अधिकांश प्रयत्न मूलसूत्र ग्रन्थों की व्याख्या, टीका और अनुवाद तक ही सीमित रहे हैं। परन्तु दर्शनशास्त्र के आकर ग्रन्थ केवल सूत्रों तक ही सीमित नहीं रहे। सूत्र रचना के पश्चात् उन पर विस्तृत भाष्य, टीका, वार्तिक, विवरण आदि लिखने की जो परिपाटी प्रचलित हुई वह सम्पूर्ण मध्यकाल तक जारी रही। इस काल में पारस्परिक खण्डन-मण्डन का अधिक जोर रहा। वेदान्तवादी आचार्यों ने सांख्य के द्वैतवाद, न्याय के असत्कार्यवाद तथा वेद के पौरुषेय होने तथा मीमांसा के कर्मवाद का खण्डन किया। इसी प्रकार सांख्याचार्यों ने वेदान्त के जीवब्रह्मैक्यवाद और मायावाद का प्रबल खण्डन किया। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ने यतः इन दर्शनों के प्रति सामञ्जस्य-मूलक दृष्टि उपस्थित की थी, अतः आर्यसमाज के उत्तरवर्ती विद्वानों ने भी षड्दर्शन वाङ्मय का समन्वयात्मक अध्ययन ही किया। अब पृथक्-पृथक् दर्शनों पर लिखे गए भाष्य टीकादि ग्रन्थों का उल्लेख किया जायगा।

(१) सांख्य-दर्शन—कालक्रम की दृष्टि से सर्वाधिक प्राचीन सांख्य-दर्शन पुरुष और प्रकृति के द्वैतभाव को लेकर चलता है। कालान्तर में इसके

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ३१४ पं० ४ (रा० ला० क० सं०) में जिसे संस्कृत पाठ में 'प्रशस्तपादकृतं' लिखा हैं उसे ही भाषा में पृष्ठ ३१५ पं० २० में गोतम मुनि कृत कहा है। इस पर रा० ला० कपूर ट्रस्ट सं० पृष्ठ ४२४ की टिप्पणी द्र० है।

२. भगवद्बौधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते ॥ प्रपन्चहृदय नामक (त्रिवेंद्रम से प्रकाशित) प्राचीन ग्रन्थ में पूर्वोत्तर दोनों मीमांसा पर बौधायन कृत भाष्य का उल्लेख मिलता है। इसमें शाङ्करभाष्य का निर्देश नहीं है (द्र० पृ० ३९)।

सेश्वर और निरीश्वर नाम से दो भेद हो गए। कपिल प्रोक्त सांख्यसूत्र इस दर्शन का प्राचीनतम ग्रन्थ है, यद्यपि आधुनिक विद्वानों की सम्मति में वह इतना प्राचीन नहीं है। आधुनिक विद्वानों के मतानुसार ईश्वर-कृष्ण रचित सांख्यकारिका सांख्यशास्त्र का उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ है। सांख्यदर्शन पर **आर्यमुनि**[1], **राजाराम**[2], **दर्शनानन्द सरस्वती**[3], **तुलसीराम स्वामी**[4], **गोकुलचन्द्र दीक्षित**[5], **गोपालजी बी० ए०, ब्रह्ममुनि परिव्राजक**[6] तथा **पं० उदयवीर शास्त्री** के भाष्य[7] उपलब्ध होते हैं। इनमें अन्तिम दो महत्त्वपूर्ण हैं। स्वामी ब्रह्ममुनि ने संस्कृत में भाष्य लिखा है जिसका पृथक् हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। स्वामी ब्रह्ममुनि ने सांख्यदर्शन के उन सूत्रों[8] की यथोचित संगति लगाई है जिनके आधार पर इस दर्शन को निरीश्वरवादी घोषित किया जाता है। सरल और प्रासादिक संस्कृत में लिखा गया यह भाष्य दर्शन-वाङ्मय में अपना विशिष्ट स्थान रखना है। भाष्य की संस्कृत प्राञ्जल तथा परिमार्जित है जैसा कि निम्न उदाहरण से ज्ञात होता है—

"अथ शब्दोऽधिकारार्थः, इदानीं त्रिविधस्य त्रिप्रकारस्य आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदान्वितस्य दुःखस्यात्यन्तनिवृत्तिरनपरान्तनिवृत्तिः परमः पुरुषार्थः परमं पौरुषं पुरुषत्वं मानवस्य-मानवजीवनस्य परमं साफल्यं यदस्ति तदत्राधिक्रियते।"[9]

सांख्यदर्शन का गुजराती अनुवाद पं० मायाशंकर शर्मा ने किया।

आर्यसमाज के क्षेत्र में पं० उदयवीर शास्त्री सांख्यदर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। उनका **सांख्यदर्शन का इतिहास** अपने आप में एक महाप्रबन्ध है जिसमें समग्र सांख्य-वाङ्मय तथा उसके रचयिता सांख्याचार्यों का इतिहास कालक्रमानुसर विवेचित हुआ है। सांख्यविषयक शताधिक ग्रन्थों का ऊहापोह कर लेखक ने यह निष्कर्ष उपस्थित किया है कि सांख्य का चिन्तन विश्व का प्राचीनतम दार्शनिक चिन्तन है, महर्षि कपिल संसार के सर्वाधिक प्राचीन

---

१. सांख्यार्य्य भाष्य।
२. आर्ष ग्रन्थावली लाहौर।
३. उर्दू अनुवाद।
४. स्वामी प्रेस, मेरठ।
५. आर्य पुस्तक भवन, आगरा।
६. ब्रह्ममुनि ग्रन्थमाला—१२ सं० २०१२ वि०।
७. विद्योदयभाष्य।
८. ईश्वरासिद्धेः। सांख्य दर्शन १।९२॥
९. सांख्यदर्शन १।१॥

दार्शनिक हैं और उनके द्वारा रचित षडध्यायी सांख्यसूत्र इस विचारधारा का प्राचीनतम ग्रन्थ है। सांख्यदर्शन का विद्योदय भाष्य सूत्रों पर सुबोध किन्तु सुसंगत टीका है। अब तक आर्यसमाजी विद्वानों ने इस दर्शन पर जितने भाष्य टीकादि लिखे हैं, उनमें यह भाष्य सर्वश्रेष्ठ है। सांख्यदर्शन के प्रथम अध्याय के ३५ सूत्रों को शास्त्रीजी ने प्रक्षिप्त सिद्ध किया है और परिशिष्ट में उनका पृथक् अर्थ भी दे दिया है। इस व्याख्या से सांख्यदर्शन की प्राचीनता भली-भांति सिद्ध होती है और अनेक सूत्रों के आधार पर जो यह कल्पना की गई थी कि ये सूत्र बौद्ध, जैन आदि मतों के परवर्ती काल में रचे गए हैं, क्योंकि इन सूत्रों में बौद्ध जैनादि के दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन मिलता है, इस धारणा का समाधान किया गया है।

पं० उदयवीर शास्त्री रचित **सांख्यसिद्धान्त** भी अपने विषय का अनुपम ग्रन्थ है। इसके प्रारम्भिक अध्यायों में सांख्यदर्शन में व्याख्यात २५ तत्त्वों की पुरुष, प्रकृति और विकार शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचना की गई है। तत्त्व-विवेचन के प्रसंग में रसायनशास्त्र में परिगणित शताधिक तत्त्वों (elements) तथा सांख्य-प्रतिपादित पञ्च भूतों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए सांख्य की दृष्टि की वास्तविकता सिद्ध की गई है। इसी प्रसंग में यूरोपीय वैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित विकासवाद की समीक्षा करते हुए सृष्टि उत्पत्ति की सांख्य-प्रतिपादित विचारधारा की सत्यता सिद्ध की गई है। प्राचीन भारतीय वाङ्-मय में सांख्यसिद्धान्त का जहाँ-जहाँ उल्लेख हुआ है, उन सभी संदर्भों की अवतारणा कर लेखक ने इस ग्रन्थ को सांख्यदर्शन का अद्वितीय विवेचनात्मक ग्रन्थ बना दिया है।

सांख्य विषयक अन्य ग्रन्थ—कपिल रचित सांख्यतत्त्वसमास नामक एक लघु ग्रन्थ की टीकायें पं० राजाराम तथा स्वामी ओमानन्द तीर्थ ने लिखीं। ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिका (सांख्यसप्तति) की व्याख्या पं० राजाराम तथा डा० हरिदत्त शास्त्री द्वारा लिखी गई। स्वामी दयानन्द की विचारधारा से प्रभावित काशी के उदासीन सम्प्रदाय के आचार्य पं० जवाहिरदास के शिष्य **स्वामी हरिप्रसाद वैदिकमुनि** ने सांख्यसूत्रों पर संस्कृत में वैदिकवृत्ति लिखी है।[1]

---

१. सांख्यसूत्रवैदिकवृत्तिः अर्थात् श्रीमन्महर्षिकपिलप्रणीतसूत्राणां वेदानुसारिणी वृत्तिः- श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्योदासीनवर्य्यात्मारामभगवत्पाद-शिष्येण-श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्योदासीनवर्य्यपण्डितस्वामिजवाहिरदासभगवत्पादाधिगतवेदाङ्गविद्येन श्रीमन्निखिलशास्त्रनिष्णातपण्डितस्वामिहरिप्रसादेन निर्मिता। १९९२ वि०

(२) **योगदर्शन**—सांख्यदर्शन का क्रिया प्रधान पूरक अंश योगदर्शन है। योगदर्शन के सूत्र महर्षि पतञ्जलि प्रणीत हैं तथा संख्या की दृष्टि से अन्य दर्शनों की अपेक्षा न्यूनतम हैं। योगदर्शन पर अनेक आर्यसमाजी विद्वानों की टीकायें उपलब्ध होती हैं, जिनमें महामहोपाध्याय **पं० आर्यमुनि** का योगार्य्यभाष्य, **पं० राजाराम** का योगदर्शन भाष्य, **तुलसीराम स्वामी** का भाषा भाष्य, **ब्रह्ममुनि परिव्राजक** की आर्ष योगप्रदीपिका टीका, **वेदानन्द तीर्थ** का योगोपनिषद्, **नारायण स्वामी** का योग रहस्य, **गोकुलचन्द्र दीक्षित** का योगदर्शन भाषा भाष्य, **पं० ईश्वरीप्रसाद प्रेम** सम्पादित व्यास-भाष्य तथा दयानन्द-भाष्य (कतिपय सूत्रों पर ही) युक्त योगदर्शन आदि मुख्य हैं। **स्वामी हरिप्रसाद वैदिकमुनि** ने योगदर्शन पर संस्कृत में वैदिक वृत्ति का प्रणयन एवं प्रकाशन किया। योगदर्शन पर व्यासभाष्य तथा महाराजा भोज रचित वृत्ति प्रसिद्ध हैं। इस भाष्य तथा वृत्ति का भी भाषानुवाद आर्यसमाजी विद्वानों ने किया है, जिनमें विरजानन्द प्रेस लाहौर से वि० सं० १९४९ में प्रकाशित व्यासभाष्य सहित योगदर्शन, **रुद्रदत्त शर्मा** (सम्पादकाचार्य) रचित व्यासभाष्य तथा भोजवृत्ति के अनुवाद सहित योगदर्शन, **स्वामी विज्ञानाश्रम** का पातञ्जल योगदर्शन और **ओमानन्द तीर्थ** का पातञ्जल योगप्रदीप मुख्य हैं। ओमानन्द तीर्थ योग के दार्शनिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों के आधिकारिक विद्वान् थे। अतः उनका उपर्युक्त ग्रन्थ भी अपने विषय का प्रामाणिक ग्रन्थ है। गुरुकुल कांगड़ी द्वारा भी योगदर्शन की भोजवृत्ति का अनुवाद आगरा निवासी **पं० भीमसेन शर्मा** द्वारा तैयार कराकर प्रकाशित किया गया।

(३) **न्यायदर्शन**—गोतम प्रणीत न्याय सूत्रों पर **म०म० आर्यमुनि** का न्यायार्य भाष्य, **तुलसीराम स्वामी** का न्याय भाषाभाष्य तथा **स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती** के उर्दू भाष्य का हिन्दी अनुवाद उपलब्ध होता है। **पं० राजाराम** ने आर्ष ग्रन्थावली लाहौर के अन्तर्गत न्यायदर्शन के वात्स्यायन भाष्य का हिन्दी अनुवाद छापा था। **श्री स्वामी ब्रह्ममुनि** जी ने भी न्याय वात्स्यायन भाष्य का हिन्दी अनुवाद किया है। उसका प्रथम भाग छप गया है। **स्वामी हरिप्रसाद वैदिकमुनि** ने न्याय पर संस्कृत भाषा में वैदिकवृत्ति प्रकाशित की। पं० राजाराम ने ही इस दर्शन पर न्याय-प्रवेशिका नामक एक सुन्दर परिचयात्मक ग्रन्थ लिखा। न्यायदर्शन का मूलसूत्र पाठ पं० भीमसेन शर्मा ने प्रयाग से प्रकाशित किया। उदयनाचार्य लिखित न्यायकुसुमाञ्जलि न्यायदर्शन के अन्तर्गत ईश्वरसिद्धि विषयक एक अपूर्व रचना है

जिसमें बौद्ध तार्किकों की जगद् रचियता ईश्वर की सत्ता के खण्डन में प्रस्तुत की गई युक्तियों का बलपूर्वक निरसन किया गया है। इस पर **आचार्य विश्वेश्वर** ने एक सुन्दर व्याख्या ग्रन्थ लिखा जिसमें मूल ग्रन्थ पर लिखी गई हरिदास रचित विवृत्ति भी सम्मिलित है। इस ग्रन्थ पर व्याख्याकार को हरजीमल डालमिया पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया। न्यायकुसुमाञ्जली की एक अन्य टीका **पं० जगदीशचन्द्र शास्त्री** ने भी लिखी। नव्य न्याय के केशवमिश्र प्रणीत तर्कभाषा ग्रन्थ की एक सुन्दर व्याख्या पं० विश्वेश्वर ने लिखी है। यह अनेक विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम के रूप में स्वीकार की गई है। रामगढ़ (शेखावाटी-राजस्थान) निवासी आर्यसमाज की पुरानी पीढ़ी के पण्डित **बालचन्द्र शास्त्री** ने अन्नंभट्टकृत तर्कसंग्रह के खण्डन में तार्किकोन्मूलिनी[1] नामक एक लघु ग्रन्थ लिखा जो स्वामी प्रेस मेरठ से आश्विन १९६४ वि० में प्रकाशित हुआ।

(४) वैशेषिकदर्शन—न्याय और वैशेषिक समान तन्त्र हैं जो कालान्तर में परस्पर मिल गये। वैशेषिकदर्शन पर **पं० आर्यमुनि, पं० तुलसीराम स्वामी,**[2] **दर्शनानन्द सरस्वती** तथा **पं० राजाराम** के हिन्दी भाष्यों के अतिरिक्त **स्वामी ब्रह्ममुनि** परिव्राजक का संस्कृत भाष्य भी मिलता है। यह एक महत्त्वपूर्ण भाष्य ग्रन्थ है। भाष्य के प्राक्कथन में भाष्य रचना का प्रयोजन बताते हुए लेखक लिखता है—"अस्मद्भाष्यस्य प्रयोजनं सरलया भाषया कठिनस्यापि सूत्रस्य पारस्परिकसूत्रसंगत्या सूत्रानुसारिविषयस्फुटीकरणम् अथान्यैः कृतानामन्यथार्थानां प्रतिपादनं च।"

इस भाष्य का प्रयोजन है सरल भाषा में कठिन सूत्रों की परस्पर संगति लगाते हुए सूत्रों के अनुसार विषय का निरूपण तथा अन्य भाष्यकारों के त्रुटिपूर्ण अर्थों का समाधान।

कहना न होगा कि भाष्यकार को अपने प्रयोजन की सिद्धि में पूर्ण सफलता मिली है। भाषा में सरलता तथा प्रासादिकता का गुण सर्वत्र विद्यमान है जो निम्न उदाहरण से जाना जाता है—

यस्मात् खलु यदनुष्ठानादिति यावत् अभ्युदयस्य—अभिमुखीभूतस्योदयस्य

---

१. तर्कसंग्रहखण्डनाक्षेपनिक्षेपणी पं० बालचन्द्रशास्त्रिणा निर्मिस्य प्रकाशिता च।

२. व्याख्याय न्यायशास्त्रं तदनु च सुधियो योगशास्त्रं क्रमेण
तत्पश्चात्सांख्यशास्त्रं कपिलमुनिकृतं व्याकृतं व्याख्यया तत्।
काणादे सूत्रजाते तदनु च वितनोम्यार्यभाषानुवादम्
यं दृष्ट्वा भद्रसामाजिकजनहृदये ज्ञानसूर्योदयः स्यात्॥
ग्रन्थारम्भ का प्रास्ताविक श्लोक।

भाविन उत्कर्षस्य—इह परत्र च जन्मनि सांसारिकसुखैश्वर्यस्य पुनश्च निःश्रेयसस्य नितान्तकल्याणस्य मोक्षस्य सिद्धिर्भवेत् स खलु धर्मो धर्मपदवाच्यः स चात्र व्याख्यातव्यः।"[1]

वेदान्तदर्शन—इस दर्शन के प्रति आर्यसमाज की अपनी विशिष्ट धारणा है। स्वामी दयानन्द ने शंकर-प्रतिपादिक अद्वैतवाद और मायावाद का प्रत्याख्यान करते हुए ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन की अनादि सत्ता को स्वीकार किया है। आर्यसमाज के विद्वानों ने इस दार्शनिक मन्तव्य को **त्रैतवाद** का नाम दिया है।[2] उनके अनुसार समग्र वेदान्त सूत्रों में कहीं भी जीव ब्रह्म की एकता तथा मायावाद का प्रतिपादन नहीं किया गया है। वस्तुतः वेदान्तदर्शन की भेदपरक व्याख्या कोई नई वस्तु नहीं है। रामानुज मध्व आदि वैष्णव आचार्यों ने ब्रह्मसूत्रों की जीवेश्वर भेदपरक व्याख्या ही की है। आर्यसमाजी विद्वानों का प्रयास भी ईश्वर तथा जीव के पार्थक्य को स्वीकार करते हुए वेदान्तदर्शन की व्याख्या करने का रहा है। उल्लेख योग्य आर्यसमाजी भाष्यों में **म० म० आर्यमुनि** का वेदान्तार्यभाष्य, **पं तुलसीराम स्वामी** का भाषा भाष्य, **पं० राजाराम** का हिन्दी भाष्य, तथा **स्वामी दर्शनानन्द** का अपूर्ण उर्दू भाष्य का हिन्दी का अनुवाद है जिसे पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित ने किया। वेदान्त पर **स्वामी ब्रह्ममुनि** का संस्कृत भाष्य भी उल्लेखनीय है। विद्वान् लेखक ने भाष्य की उत्थानिका में भाष्य रचना विषयक अपनी दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए शाङ्कर भाष्य से अपने सैद्धान्तिक मतभेद को स्पष्ट किया है। इस भाष्य की एक अन्य विशेषता भी है। वेदान्तदर्शन के अन्यान्य मध्यकालीन भाष्यकारों ने भाष्य रचना प्रसंग में उपनिषदों के उद्धरण ही प्रायः दिये हैं जब कि स्वामी ब्रह्ममुनि ने अपने भाष्य में संहिता के वचनों को उद्धृत कर उसे वास्तविक अर्थ में वैदिक भाष्य बना दिया है। यत्र तत्र प्रसंग वशात् शाङ्कर भाष्य की आलोचना भी की गई है। भाषा की सरलता और सुबोधता का विशेष रूप से ध्यान रक्खा गया है जैसा कि **जन्माद्यस्य यतः** १।१।२ इस सूत्र के संस्कृत व्याख्यान से विदित होता है—

"सपक्षस्येन्द्रियमनोगोचरस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणैरुपलभ्यमानस्य जगतः उत्पत्तिस्थितिनाशाः यस्माद् भवन्तीति तद् ब्रह्मजिज्ञासायामभिप्रेतं मन्तव्यम्। यो हि

---

१. वैशेषिकदर्शनम् ब्रह्ममुनिभाष्योपेतम्। अध्याय १।१।२॥

२. द्रष्टव्य शिवशंकर शर्मा कृत 'त्रैतवादनिर्णय' ग्रन्थ (अप्रकाशित) तथा स्नातक सत्यव्रत वेदविशारद रचित 'वैदिक त्रैतवाद' ग्रन्थ।

खलु जगज्जनयति धारयति संहरति च स ब्रह्मात्मा परमात्मा विज्ञेय इत्यर्थः।[1]"

इस भाष्य का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। **स्वामी हरिप्रसाद** वैदिकमुनि की वैदिक वृत्ति भी उपयोगी है। इस में भी संहिता के प्रमाण यत्र तत्र उद्धृत किए हैं। हां, मुक्ति से पुनरावृत्ति विषय में वैदिक मुनिजी का आर्यसमाज के सिद्धान्त से मतभेद है।

वेदान्तदर्शन पर **पं० उदयवीर शास्त्री** रचित विद्योदय भाष्य विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस विशद भाष्य में बादरायण के ब्रह्मसूत्रों की सुसंगत व्याख्या करने के साथ साथ शाङ्कर भाष्य की असंगति तथा स्वाभीष्ट मत के प्रतिपादन की दृष्टि से की गई खींचातानी को भी स्पष्ट किया गया है। आचार्य शंकर ने कतिपय सूत्रों[2] के द्वारा यह प्रतिपादन करने की चेष्टा की है कि भगवान् सूत्रकार का आशय सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक आदि अन्य वैदिक दर्शनों का खण्डन करना था, जब कि वस्तुस्थिति यह है कि आचार्य बादरायण का प्रयोजन केवल ब्रह्म की सत्ता का प्रतिपादन करते हुए जगद्-रचना में उसकी निमित्त कारणता की सिद्धि करना ही था। इस समस्या का भी शास्त्रीजी ने अपने भाष्य में सोपपत्तिक समाधान किया है तथा उन सभी सूत्रों की यथार्थ संगीत लगाई है जिन से शंकर को कापिल मत का खण्डन करने की प्रेरणा मिली थी। सम्प्रति उदयवीर शास्त्री वेदान्तदर्शन का इतिहास लिख रहे हैं।

गुरुकुल वृंदावन के स्वर्गीय आचार्य विश्वेश्वर ने ब्रह्मसूत्र की चतुःसूत्री पर विभिन्न सम्प्रदायाचार्यों द्वारा किये गये भाष्यों की मौलिक व्याख्या लिखी थी। उन्होंने रामानुज कृत वेदान्त के श्रीभाष्य का भी हिन्दी अनुवाद किया था। ये दोनों ग्रन्थ अद्यापि अप्रकाशित हैं। नेपाल के आर्यसमाजी विद्वान् **पं० शुकराज शास्त्री** ने ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य[3] का हिन्दी अनुवाद किया जो प्रकाशित हो चुका है।

गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के एक पुराने स्नातक **स्व० पं० रामावतार विद्याभास्कर** ने शाङ्कर वेदान्त के कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद किया था। इनमें ब्रह्मविद्या ग्रन्थमाला के अन्तर्गत विद्यारण्य

---

१. वेदान्तदर्शनम् ब्रह्ममुनिभाष्योपेतम्। १।१।२॥

२. 'स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात्' तथा 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' आदि द्वितीयाध्यन्तर्गत प्रथम पाद के सूत्र।

३. इसमें भामती टीका का अनुवाद भी सम्मिलित है।

स्वामी की पञ्चदशी तथा शंकराचार्य रचित शतश्लोकी, दशश्लोकी आदि का प्रकाशन हो चुका है। इनके अतिरिक्त उन्होंने शंकर-रचित उपदेशसाहस्री, विवेकचूड़ामणि तथा वेदान्तविषयक उनके समस्त प्रकीर्ण ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद सर्ववेदान्त सिद्धान्त संग्रह, अध्यात्मपटल, प्रबोधसुधाकर, पंचीकरण, सुरेश्वराचार्यकृत पंचीकरणवार्तिक, योगदर्शन—सदाशिवेन्द्र सरस्वती कृत संस्कृत टीका का हिन्दी रूपान्तर भी तैयार किए जो अप्रकाशित ही हैं।

आर्यसमाजी विद्वानों ने न केवल वेदान्तदर्शन के भाष्य, टीका आदि का ही प्रणयन किया, अपितु उन्होंने शाङ्कर वेदान्त का खण्डन कर दर्शन के क्षेत्र में अपनी मौलिक प्रतिभा का भी परिचय दिया। यद्यपि शांकर मत की आलोचना का यह कार्य अधिकांश में हिन्दी के माध्यम से ही हुआ, तथापि निश्चय ही इस प्रवृत्ति से लोगों की संस्कृत के दर्शनग्रन्थों के अध्ययन, मनन और चिन्तन की रुचि विकसित हुई। पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय ने शांकर वेदान्त के निराकरण का उल्लेखनीय कार्य किया है। उन्होंने 'अद्वैतवाद' ग्रन्थ लिखकर अद्वैतवादी विचारधारा के विकास का परिचय देते हुए उसकी निस्सारता प्रतिपादित की है। इसी प्रकार 'जीवात्मा' तथा 'मैं और मेरा भगवान्' ग्रन्थों में ईश्वर और जीव की पृथक् सत्ता का विवेचन किया गया है। 'शांकर-भाष्यालोचन' जैसा कि नाम से ही प्रकट है। शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र-भाष्य का युक्तियुक्त खण्डन है। लेखक ने शांकरभाष्य में पाई जाने वाली असंगतियों और हेत्वाभासों का विवेचन करते हुए सिद्ध किया है कि शाङ्कर भाष्य अद्वैत-वाद एवं मायावाद के पूर्वाग्रह को लेकर चलने वाला ग्रन्थ है जो बादरायण के मूलसूत्रार्थ के साथ न्याय नहीं करता। संस्कृत में तो दार्शनिक खण्डन-मण्डन की परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल से ही प्रचलित रही है, परन्तु इसे हिन्दी माध्यम से अभिव्यक्त करने का श्रेय, फलतः संस्कृत के दार्शनिक वाद-विवाद को लोकभाषा में लाने का श्रेय आर्यसमाजी विद्वानों को ही है।

(६) **मीमांसादर्शन**—सर्वाधिक विशाल और दुरूह होने के कारण जैमिनीय मीमांसादर्शन पर बहुत न्यून कार्य हुआ है। सम्पूर्ण दर्शन पर सर्वाङ्गीण टीका शायद ही किसी आर्यसमाजी विद्वान् ने लिखी हो। **म० म० पं० आर्यमुनि** का मीमांसार्य्य भाष्य समग्र सूत्रों के आधे भाग की व्याख्या ही उपस्थित करता है। **देवदत्त शर्मोपाध्याय** का मीमांसादर्शन भाष्य तथा **गोकुलचन्द्र दीक्षित** का हिन्दीभाष्य सूत्रों के अल्पांश की ही व्याख्या करते हैं। तुलसीराम स्वामी ने केवल प्रारम्भ के २५ सूत्रों की व्याख्या लिखी। **श्री पं० गङ्गाप्रसाद उपाध्याय** ने मीमांसा शाबरभाष्य का हिन्दी अनुवाद

किया गया है, परन्तु वह अभी तक छप नहीं सका। **डा० हरिदत्त शास्त्री** ने मीमांसा-परिभाषा की रचना की। मीमांसादर्शन पर स्वल्प कार्य होने पर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि पूर्व मीमांसा जैसे जटिल और क्लिष्ट दर्शन पर चर्चा और विवेचन का सूत्रपात करना और वह भी लोकभाषा में, वस्तुतः साहस का कार्य है। इस दर्शन पर पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय ने मीमांसा-प्रदीप नामक एक विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखा है। इसमें लेखक ने मूलदर्शन के प्रत्येक अध्याय का सारांश मात्र ही प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर मौलिक ढंग से विचार किया गया है। यथा—जगत् की सत्यता, जीवात्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व, मीमांसादर्शन में ईश्वर की सत्ता आदि। साथही मीमांसादर्शन में उल्लिखित देहली-दीपक न्याय, ब्राह्मण-वसिष्ठ न्याय, ब्राह्मण-परिव्राजक न्याय, नाष्टाश्वदग्धरथ न्याय, सुन्दोपसुन्द न्याय, काकतालीय न्याय, स्थालीपुलाक न्याय, मात्स्य न्याय आदि का भी विवेचन किया गया है। इसी प्रसंग में लेखक ने मीमांसादर्शन में प्रयुक्त होने वाले कतिपय विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या भी की है। प्रत्येक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि मीमांसा जैसे कठिन दर्शन के मूलभूत तत्त्वों को आत्मसात् करने की दृष्टि से यह ग्रन्थ उपादेय है।

षड्दर्शनों के पृथक्-पृथक् भाष्यादि का उल्लेख किया गया। आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा कुछ ऐसे ग्रन्थ भी लिखे गए हैं जिनमें समग्र भारतीय दर्शनों का संक्षिप्त परिचयात्मक विवेचन हुआ है। संस्कृत में माधवाचार्य रचित सर्वदर्शन संग्रह और हरिभद्रसूरि कृत षड्दर्शन समुच्चय ऐसे ही ग्रन्थ हैं। पं० राजाराम ने इसी पद्धति पर नव-दर्शनसंग्रह लिखा जिसमें षड्दर्शनों के अतिरिक्त चार्वाक, जैन और बौद्ध—इन तीन अवैदिक दर्शनों का भी परिचय दिया गया है। गोपालजी बी० ए० का सर्वदर्शन संग्रह भी इसी कोटि का है। पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय ने श्री शंकराचार्य[1] लिखित सर्वदर्शनसिद्धान्तसंग्रह का हिन्दी अनुवाद किया।

स्वामी दयानन्द नें षड्दर्शनों के समन्वयमूलक अध्ययन का जो सूत्र अपने ग्रन्थों में उपस्थापित किया था, उसी को आधार बनाकर परवर्ती आर्य-समाजी विद्वानों ने षड्दर्शनों के समन्वयात्मक अध्ययन प्रस्तुत किए। **आर्यमुनि** का षड्दर्शनादर्श, **बुद्धदेव मीरपुरी** का षड्दर्शनसमन्वय तथा **ओमानन्द तीर्थ** द्वारा पातञ्जलयोगप्रदीप की भूमिका के रूप में लिखा गया षड्दर्शन समन्वय—इन दर्शनों में आपाततः विरोध प्रतीत होने वाले सिद्धान्तों के विरोध का परिहार करने के श्लाघनीय प्रयास हैं।

---

१. ये शंकराचार्य आद्य शंकराचार्य से भिन्न प्रतीत होते हैं।

दर्शनविषयक मौलिक ग्रन्थ—आर्यसमाजी विद्वानों ने न केवल विभिन्न दर्शनों के मौलिक ग्रन्थों पर टीका, भाष्य, व्याख्या आदि का ही प्रणयन किया, अपितु दर्शनविषयक कतिपय मौलिक ग्रन्थ भी संस्कृत में लिखे। बम्बई गुरुकुल के प्रतिष्ठित स्नातक सत्यव्रत वेदविशारद ने अपनी स्नातक परीक्षा के लिए संस्कृत में **'वैदिक-त्रैतवाद'** शीर्षक विस्तृत दार्शनिक प्रबन्ध लिखा। कालान्तर में इसका गुर्जर-भाषानुवाद रतिलाल हरजीवनदास पटेल द्वारा १९८२ वि० में प्रकाशित हुआ। बम्बई के पं० मायाशंकर शर्मा ने 'आर्यस्मृति' शीर्षक संस्कृत श्लोकबद्ध दार्शनिक ग्रन्थ लिखा। यह अप्रकाशित ही रहा। लेखक ने सरल वा बोधगम्य पद्यों में दार्शनिक मन्तव्यों को स्पष्ट किया है जो निम्न उद्धरणों से ज्ञात होगा—

> ज्ञानशून्यं जडं ज्ञेयं सज्ञानं चेतनं स्मृतम्।
> नित्यधीः परमात्माऽन्यो जीवात्मा च विनाशिधीः॥
> सर्वमूर्तपदार्थानां संयोगी च विभुः परः।
> आणवं परिमाणं च दधज्जीवोऽस्त्यसर्वगः॥
> अप्रतियोगिता यत्र प्राग्ध्वंसाभावयोः स्थिता।
> भावरूपं च तत्तत्त्वमार्यपुङ्गवभाषितम्॥
> क्रियाशून्या गुणैर्युक्ता नित्याश्च परमाणवः।
> सृष्ट्युत्पादनयोग्याः प्रकृतेर्वाच्यतां गताः॥

इसी प्रसंग में आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि का अप्रकाशित ग्रन्थ **दर्शन-मीमांसा** भी उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ में लेखक ने भारतीय दर्शन-शास्त्र का कारिका बद्ध इतिहास लिखा है। उनका **बौद्धदर्शन-मीमांसा** भी अप्रकाशित ही है। दर्शनशास्त्र के अंगभूत मनोविज्ञान (Psyclology) तथा नीतिशास्त्र (Ethics) पर भी आचार्य विश्वेश्वर ने **मनोविज्ञान-मीमांसा** तथा **नीतिशास्त्रम्**—दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे, जिन्हें उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत किया गया।

इसी प्रकार आचार्य जयदत्त शास्त्री ने चार अध्यायों में **सिद्धान्तशतक** लिखकर दर्शनशास्त्र के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का स्वामी दयानन्द के मतानुसार[1] विवेचन किया है। प्रथमाध्याय में दार्शनिक समस्याओं का सामान्य परिचय

---

१. इमां सत्यासत्यव्यतिकरकरालेऽन्धतमसे।
समुद्दिष्टां पद्यामनुसर दयानन्दमुनिना॥
भयं त्यक्त्वा दृष्ट्वा विविधमतदोषाञ्छमयितान्।
प्रबोधस्रोतो वेदमखिलधी स्वेच्छुकशिवम्॥ ४।२५॥

देते हुए प्रमाणवाद (Epistemology) का विवेचन किया गया है। द्वितीयाध्याय में कापिल सांख्य, शाङ्कर वेदान्त, विवर्तवाद आदि विषयों का विवेचन करते हुए ब्रह्म की अद्वितीय सत्ता का प्रतिपादन किया है। तृतीय अध्याय में वैशेषिक प्रोक्त पदार्थ-विवेचन, निमित्त तथा उपादान आदि कारणों का विवेचन तथा सत्ख्याति और असत्ख्याति का निरूपण हुआ है। अन्तिम चतुर्थाध्याय में सांख्य-प्रोक्त २५ तत्त्वों का विवेचन करने के पश्चात् द्विविध पुरुष निरूपण, कर्ममीमांसा, प्रवृत्तिनिवृत्ति-मूलक वैदिक धर्म तथा ज्ञान एवं कर्म के आचरण-पूर्वक मोक्षप्राप्ति का विवेचन है। इसी अध्याय में आधुनिक विज्ञानमूलक विकासवाद की आलोचना भी की गई है। दर्शन जैसे शुष्क विषय का सरल और प्रमाण पुरस्सर श्लोकवद्ध विवेचन इस ग्रन्थ की विशेषता है। यह ग्रन्थ गुरुकुल पत्रिका के श्रावण २०२१ वि० तथा आश्विन २०२१ वि० के अंकों में धारावाही रूप से प्रकाशित हुआ।

मनुस्मृति—उपलब्ध स्मृतियों में स्वामी दयानन्द ने मनुस्मृति को ही मान्यता प्रदान की है। उनकी सम्मति में अन्य स्मृतियां प्रामाणिक नहीं हैं। वस्तुतः स्मृति ग्रन्थ समय-समय पर युग की आवश्यकताओं के अनुरूप लिखे जाते रहे हैं। आचार, व्यवहार, वर्णाश्रमधर्म, राजधर्म, आपद्धर्म, प्रायश्चित्त आदि विभिन्न धर्मशास्त्रगत प्रकरणों का इन ग्रन्थों में विवेचन हुआ है। मनु-स्मृति वास्तव में भृगुप्रोक्त संहिता है जिसमें स्वायंभुव मनु के प्राचीन धर्म-नियमों का श्लोकवद्ध प्रवचन है। स्वामी दयानन्द के अनुसार वर्तमान उपलब्ध मनुस्मृति भी सर्वांश में प्रामाणिक नहीं है। क्योंकि उसके वर्तमान कलेवर में समय-समय पर नवीन श्लोकों को प्रक्षिप्त किया जाता रहा है। मृतकश्राद्ध-विवरण तथा यज्ञ में पशुहिंसा आदि के प्रकरण निश्चय ही काला-न्तर में मिलाये गए हैं। इस प्रकार प्रक्षिप्त भाग को छोड़कर मनुस्मृति का शुद्ध अंश ही आर्यसमाज को मान्य रहा है। क्षेपक श्लोकों के विषय में निर्णय करना और यह निश्चय करना कि अमुक श्लोक वा प्रकरण ग्रन्थ का मौलिक अंश न होकर प्रक्षिप्त है, वड़ा कठिन कार्य है।

आर्यसमाजी विद्वानों ने मनुस्मृति के कई संस्करण प्रस्तुत किए हैं। इनमें से कतिपय संस्करण तो ऐसे हैं जिनमें से प्रक्षिप्त समझे जाने वाले श्लोकों को पृथक् कर दिया गया है, इस प्रकार सम्पादकों ने अपनी दृष्टि से मनुस्मृति के शुद्ध संस्करण तैयार किए हैं, परन्तु इनसे भिन्न कई संस्करण ऐसे भी हैं जिनमें वर्तमान उपलब्ध सभी श्लोकों को यथावत् रक्खा गया है, परन्तु उनमें भी प्रक्षिप्त समझे गए श्लोकों पर आवश्यक आलोचनात्मक टिप्पणी दे दी गई

है। आर्यसमाज के आद्य **पण्डित भीमसेन शर्मा** ने मानवधर्म-मीमांसा नाम से मनुस्मृति पर एक विशाल भाष्य संस्कृत और हिन्दी में लिखा।[1] इस ग्रन्थ की भूमिका 'मानवधर्म-शास्त्रस्य उपोद्घातः' के नाम से लिखी जाकर पृथक् रूप से प्रकाशित हुई है। इस विस्तृत भूमिका में मनुस्मृति विषयक ऐतिहासिक अनुशीलन के साथ-साथ सृष्टि-पर्यालोचन, ब्रह्मचर्याश्रम विचार, विवाह, नियोग, तर्पण, श्राद्ध, पञ्चमहायज्ञ, पठन-पाठन, दानधर्म-विवेचन, भक्ष्याभक्ष्य-विवेचन, वानप्रस्थ संन्यास विचार, राजधर्म विचार, दायभाग विचार, वर्ण-व्यवस्था विवेचन, आपद्धर्म, प्रायश्चित्त तथा कर्मफल विचार आदि मनूक्त विषयों का विवेचन किया गया है।

भाष्य में प्रथम अन्वयार्थ देकर पुनः भावार्थ दिया गया है। संस्कृत भाषार्थ के अनन्तर हिन्दी में भी भाषार्थ और भावार्थ दे दिया गया है। यह ग्रन्थ मासिकपत्र के रूप में धारावाही छपता रहा, पुनः ग्रन्थरूप में भी प्रकाशित हुआ। यत्र-तत्र लेखक ने अपने मत की पुष्टि में अन्य शास्त्रों के वचन भी उद्धृत किए हैं तथा मनुस्मृति के अन्य टीकाकारों के मतों का भी उल्लेख किया गया है। सरल एवं प्रसादगुण युक्त भाषा में लिखा गया यह मनुभाष्य आर्यसमाज के साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखता है। **'उदितेऽनुदिते'** इस द्वितीयाध्याय के १५वें श्लोक की व्याख्या में भाष्यकार लिखते हैं—

"उदिते स्वरूपमात्रे सूर्ये दृष्टे, अनुदिते सूर्योदयाद् घटिकात्रयं प्राग् ग्रह-नक्षत्रभूषिते काले, समयाध्युषिते अदृष्टनक्षत्रमण्डले सूर्यदर्शनात्पूर्वकाले सर्वथा वर्त्तते यज्ञ उक्तसर्वप्रकारको यज्ञोऽग्निहोत्रहोमः प्रवर्त्तनीयः। इतीयं वैदिकी श्रुतिर्वेदमूलकानि• वाक्यानि श्रूयन्ते।"[1]

भीमसेन शर्मा कृत भाष्य सप्तम अध्याय तक ही उपलब्ध होता है।

भीमसेन शर्मा रचित मनुस्मृति के इस महत्त्वपूर्ण संस्कृत भाष्य के अतिरिक्त **पं० तुलसीराम स्वामी, म० म० आर्यमुनि**—(मानवार्य्य-भाष्य), **दर्शनानन्द सरस्वती, पं० राजाराम, पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, पं० चन्द्रमणि** विद्यालंकार (आर्ष मनुस्मृति), **पं० हरिश्चन्द्र** विद्यालंकार, **पं० सत्यकाम** सिद्धान्तशास्त्री, (वैदिक मनुस्मृति) तथा **पं० ईश्वरीप्रसाद प्रेम** (शुद्ध मनुस्मृति) आदि विद्वानों ने भी मनुस्मृति पर विभिन्न टीका ग्रन्थ

---

१. मानवस्यास्य शास्त्रस्य वेदानामनुगामिनः।
भाष्यारम्भं करोम्यद्य लोकानां हितमाचरन्॥

१. सरस्वती यंत्रालय प्रयाग से प्रकाशित, भाद्रपद १९५२ वि० पृ० २०६।

लिखे हैं। **महात्मा मुन्शीराम** (स्वामी श्रद्धानन्द) ने वि० सं० १९६६ में मनुस्मृति का 'वेदानुकूल संक्षिप्त मनुस्मृति' नाम से एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया था। मनुस्मृति का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थों में मनूक्त विषयों की आलोचनात्मक मीमांसा की गई है। ऐसे ग्रन्थों में **चिन्तामणि 'मणि'** का मनु और स्त्रियां, **घनश्याम शर्मा** का मनुमांसाशन-निषेध, **श्यामसुन्दरलाल** का मनुश्राद्धमीमांसा, **मुन्शीराम जिज्ञासु** का मानवधर्मशास्त्र और शासन-पद्धति तथा **ईश्वरीप्रसाद प्रेम** का मनुस्मृति, एक सरल अध्ययन उल्लेखनीय है।

वाल्मीकीय रामायण—आदि कवि महर्षि वाल्मीकि के रामायण महाकाव्य को स्वामी दयानन्द ने पठनीय ग्रन्थों में आदरणीय स्थान दिया है। रामायण का काव्य और धर्मशास्त्र दोनों रूपों में सर्वविदित महत्त्व है।

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायणी कथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

यह उक्ति रामायण जैसे लोकोत्तर काव्य की विश्वव्यापिनी ख्याति का संकेत करती है। रामायण आर्षकाव्य है, जातीय आदर्शों को मूर्तिमान् करने वाला महाकाव्य है। इसी के आधार पर परवर्ती आचार्यों ने महाकाव्यों के लक्षण तथा स्वरूप का निर्धारण किया है। रामायण के विभिन्न संक्षिप्त और वृहत् संस्करण आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा सम्पादित और प्रकाशित किए गए हैं। इनमें **म० म० आर्यमुनि** का वाल्मीकि रामायणार्य्य-भाष्य, **पं० राजाराम** का संक्षिप्त संस्करण, **पं० प्रेमचन्द विद्याभास्कर** का संक्षिप्त धारा-वाही अनुवाद, **पं० चन्द्रमणि पालीरत्न** का रामायण का शुद्धांश का संकलन एवं हिन्दी व्याख्या (तीन भागों में) तथा **पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर** का विस्तृत भूमिका युक्त संकरण मुख्य हैं। **पं० भगवद्दत्त** ने वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड और अरण्यकाण्ड के पश्चिमोत्तर पाठ का सम्पादन किया था। **ब्रह्मचारी अखिलानन्द** द्वारा सम्पादित रामायण सुन्दरकाण्ड पर्यन्त चार खण्डों में रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित हो चुकी है। इन संस्करणों के सम्पादकों ने रामायण में प्राप्त प्रक्षिप्त अंशों का भी विचार किया है। रामायण विषयक कतिपय आलोचनात्मक ग्रन्थ भी लिखे गए। पं० सन्तराम बी० ए० एवं पं० ईश्वरीप्रसाद प्रेम प्रकाशित 'शुद्ध रामायण' भी उल्लेख योग्य है।

महाभारत—रामायण की भांति महाभारत को भी आर्यसमाज के प्रामाणिक ग्रन्थों में स्थान मिला है, यद्यपि उसके मौलिक और तथाकथित

प्रक्षिप्त अंशों के प्रति आर्यसमाजी विद्वानों की स्थिति संशयास्पद रही है। महाभारत जैसे विपुलकाय ग्रन्थ का सम्पादन और प्रकाशन व्यक्ति की अपेक्षा संस्था का ही कार्य समझा जाना चाहिए। फिर भी यह सत्य है कि आर्यसमाजी विद्वानों ने इस ग्रन्थ पर पर्याप्त श्रम किया है। **श्रीपाद दामोदर सातवलेकर** ने सर्वप्रथम सम्पूर्ण महाभारत का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया। **पं० राजाराम** ने महाभारत के संक्षिप्त संस्करण का सम्पादन एवं भाषानुवाद छपवाया। स्वामी श्रद्धानन्द ने भीष्मपर्व का सम्पादन किया तथा **आर्यमुनि** ने संक्षिप्त महाभारत का आर्य भाषाभाष्य लिखा। पं० ईश्वरीप्रसाद प्रेम का 'शुद्ध महाभारत' एक विवेचना प्रधान ग्रन्थ है। ब्रह्ममुनि परिव्राजक का 'महाभारत-शिक्षा-सुधा' एक उल्लेखनीय ग्रन्थ है जिसमें महाभारत की सूक्तियों का संग्रह किया है।

भगवद्गीता—समग्र महाभारत की अपेक्षा उसके कई अंश अधिक उपयोगी और लोकप्रिय सिद्ध हुए हैं। जगत्प्रसिद्ध ग्रन्थ भगवद्गीता भी महाभारत के भीष्म पर्व का एकअंश मात्र ही है, परन्तु धार्मिक और दार्शनिक जगत् में जितनी लोकप्रियता और ख्याति इस ग्रन्थ को मिली, उतनी शायद ही किसी अन्य को मिल पाई हो। वेदान्तचार्यों ने तो गीता की गणना 'स्मृति-प्रस्थान' के रूप में की है। यद्यपि आर्यसमाज में गीता की प्रामाणिकता और उसके महत्त्व को लेकर सदा ही एक विवादास्पद स्थिति रही है, तथापि गीता की लोकप्रियता ने सभी आर्य विद्वानों को समान रूप से आकृष्ट किया है। गीता पर भी आर्यसमाजी विद्वानों की वीसियों टीकायें, व्याख्यायें तथा आलोचनात्मक पुस्तकें उपलब्ध होती हैं। **पं० भीमसेन शर्मा** ने तो गीता पर एक वृहत् संस्कृतभाष्य लिखा था। इस भाष्य की भाषा सरल तथा प्रसाद गुण युक्त थी जो **'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं'** इस श्लोक के भाष्य की निम्न पंक्तियों से ज्ञात हो जायगी—

"हे अर्जुन अशोच्यान् मारणविषये प्रतिलब्धशास्त्रविधानान् दुर्योधनादीनन्वशोचोऽनुलक्ष्य शोकं कृतवान् तद्विपरीतं मूढानां शास्त्रविमुखानां कृत्यमेतत्।"[1]

इसके अतिरिक्त **पं० आर्यमुनि** (गीता-योगप्रदीपार्य्य-भाष्य), **पं० तुलसीराम स्वामी, पं० राजाराम, पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर** (पुरुषार्थबोधनी टीका), **स्वामी आत्मानन्द** (वैदिक गीता), **प्रो० भवानीलाल भारतीय** (शुद्ध गीता) तथा **रामावतार विद्याभास्कर** (गीता-परिशीलन) आदि की टीकायें भी उल्लेखनीय हैं। गीतातत्त्व का विवेचन करने

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता अ० २।१, पृ०५३।

वाले ग्रन्थों में **नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ** कृत गीताविमर्श, **कृष्णस्वरूप** विद्यालंकार का गीता-विज्ञान विवेचन तथा **प्रिन्सिपल दीवानचन्द** का गीता-दिग्दर्शन मुख्य हैं।

विदुरनीति—गीता के अतिरिक्त महाभारत के जिस अंश को आर्यसमाजी विद्वानों ने अपनी आलोचना वा विवेचना का विषय बनाया है वह है, विदुरनीति। स्वामी दयानन्द ने अपनी पठन-पाठन व्यवस्था में विदुरप्रजागर (विदुरनीति) को विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है तथा उसे नीति के प्रख्यात ग्रन्थों में गिना है, फलतः इस ग्रन्थ की ओर आर्यसमाजी विद्वानों का ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। **पं० तुलसीराम, स्वामी वेदानन्द तीर्थ** तथा **गोकुलचन्द्र दीक्षित** ने विदुरनीति के उत्तम भाष्य लिखे हैं। **पं० युधिष्ठिर मीमांसक** लिखित विदुरनीति की पदार्थ एवं व्याख्या वेदवाणी में धारावाही रूप में प्रकाशित हो रही है। विदुरनीति के ही अनुकरण पर वेदानन्द तीर्थ ने महाभारत के अन्य नीतिपरक अंशों को, **नारदनीति** तथा **कणिकनीति** का नाम देकर प्रकाशित किया। महाभारत के **विदुलोपाख्यान** तथा **द्रौपदी-सत्यभामा-संवाद** को भी पृथक् रूप में प्रकाशित किया गया।

प्रकीर्ण शास्त्र-ग्रन्थ=उपर्युक्त पंक्तियों में आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा रचित शास्त्रीय वाङ्मय का विवेचन हुआ है। संस्कृत साहित्य में नीतिविषयक ग्रन्थों का भी विवेचन हुआ है। संस्कृत साहित्य में नीतिविषयक ग्रन्थों का भी विपुल संग्रह है। इन नीति ग्रन्थों को विशुद्ध धार्मिक वा शास्त्रीय ग्रन्थों में नहीं रक्खा जा सकता, तथापि यह स्वीकार करना ही होगा कि मानव-जीवन की नैतिक उन्नति में एवंविध ग्रन्थों की बड़ी प्रेरणा रहती है। भर्तृ-हरि के शतकत्रय, कामन्दक, शुक्र और चाणक्य की नीतियां इसी कोटि के ग्रन्थों में परिगणित होती हैं। भर्तृहरि के शतकों में नीति और वैराग्य शतक ही आर्यसमाजी विद्वानों के आकर्षण के केन्द्र रहे हैं, अश्लीलता युक्त समझा जाने के कारण शृङ्गार शतक उपेक्षित ही रहा। **रामजी शर्मा** ने **शतकत्रय** का संक्षिप्त भावानुवाद किया। **नीतिशतक** पर छुट्टनलाल स्वामी, विष्णु-शरण दुबलिश, मेधारथी स्वामी तथा शिवकुमार शास्त्री ने टीकायें लिखीं, गुरुकुल कांगड़ी के पण्डितों ने नीतिशतक का एक संशोधित संस्करण तैयार किया। **वैराग्यशतक** का एक संस्करण दयानन्द वेद प्रचारक मिशन से छपा। चाणक्यनीति पर तुलसीराम स्वामी, बिहारीलाल शास्त्री तथा शेरसिंह शास्त्री ने सामान्य टीकायें लिखीं। आर्यसमाज के प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी दर्शनान्द ने शंकराचार्य के कतिपय नीति और वैराग्य प्रधान लघु ग्रन्थों को

हिन्दी टीका सहित प्रकाशित किया। इनमें **मोहमुद्गर, प्रश्नोत्तरी, कौपीन-पञ्चक, यतिपञ्चक, आत्मपूजा, निरञ्जनाष्टक** आदि उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्यसमाजी विद्वानों ने वेदों से लेकर गीता पर्यन्त विशाल शास्त्रीय वाङ्मय का अनुशीलन किया है। साथ ही इन ग्रन्थों पर भाष्य टीका व्याख्यादि लिख कर उन्हें सामान्य जनता के लिए अधिकाधिक उपयोगी बनाने का यत्न भी किया है। यह अवश्य है कि शास्त्रीय साहित्य विषयक उनका यह साहित्य संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी में ही अधिक लिखा गया परन्तु इस का भी स्पष्ट कारण है। आर्यसमाज उत्तर भारत की मध्यवर्गीय जनता का धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन रहा है। इस प्रदेश की जनभाषा हिन्दी ही है अतः हिन्दी के माध्यम से जो शास्त्रमीमांसा आर्यसमाजी विद्वानों ने की, वह जनता के लिए अधिक उपयोगी तथा स्फूर्तिदायनी सिद्ध हुई। यह बात नहीं कि इन भाष्यादि की रचना करते समय संस्कृत माध्यम का सर्वथा प्रयोग ही न हुआ हो। इसके विपरीत पं० भीमसेन शर्मा, महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनि, पं० तुलसीराम शर्मा, पं० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक आदि विद्वानों ने अपने टीका और भाष्य मूलतः संस्कृत में ही लिखे, यद्यपि सामान्य जनसमाज की उपयोगिता को लक्ष्य में रखकर उनके हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत भी किये गये। इस प्रकार शास्त्रालोचन और शास्त्रमीमांसा की परम्परागत परिपाटी को आर्यसमाजी विद्वानों नें पूर्णतया सुरक्षित रक्खा।

अध्याय ६

[आर्यसमाजी साहित्यकारों द्वारा रचित रसात्मक तथा आलोचनात्मक साहित्य]

शास्त्रीय साहित्य से भिन्न रसपरक साहित्य को आचार्यों ने 'काव्य' के नाम से अभिहित किया है। काव्य का मूल भी वेद ही है। अथर्ववेद के अनुसार वेद परमात्मा का दिव्य काव्य है जो न मरता है और न जीर्ण होता है।[1] यजुर्वेद में ईश्वर को 'कवि' नाम से सम्बोधित किया गया है।[2] रामायण और महाभारत जैसे ऐतिहासिक महाकाव्यों का धार्मिक दृष्टि से जितना महत्त्व है उतना ही काव्य और साहित्य की दृष्टि से भी महत्त्व है। रामायण को तो आदि-काव्य की संज्ञा प्रदान की गई है। क्रौञ्च-युगल में से एक को व्याध द्वारा शरबिद्ध देखकर महाकवि वाल्मीकि के संवेदनशील हृदय में करुण रस के जिस स्थायी भाव 'शोक' की उत्पत्ति हुई वही श्लोक बन कर संसार के प्रथम लौकिक काव्य के रूप में प्रादुर्भूत हुआ।[3]

आर्य समाज ने संस्कृत के रसात्मक साहित्य की विविध विधाओं को अपनी कतिपय अनुपम कृतियों द्वारा समृद्ध किया है। संस्कृत भाषा में काव्य और साहित्य यत्र-तत्र पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुये हैं। श्रव्य-काव्य और दृश्य-काव्य का द्विविध भेद प्रसिद्ध है। श्रव्य-काव्य को पुनः गद्य काव्य और पद्य काव्य के रूप में विभाजित किया गया। पद्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्ड-काव्य, मुक्तक आदि रचनायें परिगणित होती हैं जब कि कथा, आख्यायिका उपन्यास, निबन्ध आदि का विचार गद्य काव्य के अन्तर्गत किया जाता है। गद्य और पद्य का मिश्रित रूप भी संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता है जिसे 'चम्पू' कहते हैं।[4] दृश्य-काव्य के अन्तर्गत रूपक (नाटक) को सन्निविष्ट किया गया है।

---

१. देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥ अथर्ववेद १०।८।३२॥

२. कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः—यजुर्वेद ४०।८॥

३. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

४. गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।

आर्यसमाजी लेखकों ने संस्कृत के ललित साहित्य के अन्तर्गत जिस विशाल ग्रन्थराशि की रचना की है उसमें महाकाव्य, चरित-काव्य, ऐतिहासिक काव्य, नीति-काव्य, स्तोत्र-काव्य तथा स्फुट गीत और कविताओं के अतिरिक्त उपन्यास, निबन्ध आदि गद्य के विविध-रूप भी सम्मिलित हैं। प्रस्तुत अध्याय में हमें इसी विशाल ग्रन्थ सम्पत्ति का विवेचन करना है। यह विवेचन साहित्य चार्यों द्वारा स्वीकृत रस अलंकार, भाषा, शैली, छन्दोयोजना आदि के निर्धारित मापदण्डों के आधार पर होगा। कृति के भावपक्ष और कलापक्ष का उचित मूल्याङ्कन किये बिना साहित्य में उसका स्थान निर्धारण अशक्य है।

प्रस्तुत विवेचन में काव्य-रचनाओं का अध्ययन महाकाव्य, चरित-काव्य ऐतिहासिक-काव्य, नीति-काव्य, शतक-काव्य तथा स्तोत्र-काव्य इस छ उपशीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है। इसके अतिरिक्त फुटकर संस्कृत कविताओं और गीतों का भी पृथक् विचार किया गया है। गद्य रचनाओं को उपन्यास, निबन्ध, शास्त्रार्थ इन तीन शीर्षकों के अन्तर्गत रखा गया है। चम्पू, नाटक तथा सुभाषित ग्रन्थों का भी विचार किया गया है। इसी अध्याय में आर्यसमाज के विद्वानों ने साहित्यालोचन तथा भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी जो उल्लेखनीय कार्य किया है, उसका महत्त्व निर्धारित करने की चेष्टा की गई है। सर्व प्रथम हम आर्यसमाजी संस्कृत कवियों द्वारा लिखे गये महाकाव्यों को लेते हैं—

१—महाकाव्य

आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन और कृतित्व को लेकर आर्यसमाजस्थ संस्कृत विद्वानों ने कतिपय महाकाव्यों की रचना की है। इनमें पं० अखिलानन्द शर्मा कविरत्न रचित दयानन्द-दिग्विजय, दिलीपदत्त शर्मोपाध्याय लिखित मुनि-चरितामृत तथा पं० मेधाव्रताचार्य प्रणीत दयानन्द-दिग्विजय उल्लेखनीय हैं। 'दिग्विजय' शीर्षक महाकाव्य लिखने की परिपाटी संस्कृत साहित्य में प्राचीन काल से चली आ रही है। माधवाचार्य लिखित शंकर-दिग्विजय सम्भवतः इस श्रेणी का प्रथम ग्रन्थ है। कालान्तर में वल्लभ-दिग्विजय, श्रीमद्रामानन्द-दिग्विजय[1] जैसे ग्रन्थ भी इसी काव्य-शैली के अनुकरण पर लिखे गए। यहां स्वामी दयानन्द के जीवनपरक इन महाकाव्यों का कालक्रमानुसार विवेचन किया जाएगा। इन में सर्व प्रथम अखिलानन्द कृत दयानन्द-दिग्विजय विवेचनीय है।

---

१. त्रिवेदोपाह्व ब्रह्मचारी भगवद्दासरचित तथा आबू शिखर स्थित श्री रघुनाथ मन्दिर के महन्त श्री रामशोभादास द्वारा प्रकाशित।

पं० अखिलानन्द कविरत्न रचित—दयानन्द-दिग्विजय—

कवि-परिचय—इस महाकाव्य के रचयिता अखिलानन्द शर्मा का जन्म वि० सं० १९३७ माघ शुक्ला तृतीया को उत्तर प्रदेश के बदायूं जिलान्तर्गत चन्द्रनगर ग्राम में हुआ। कवि के पिता का नाम पं० टीकाराम शास्त्री था, जिनका यज्ञोपवीत संस्कार स्वयं स्वामी दयानन्द ने कर्णवास में किया था। पं० टीकाराम की शिक्षा-दीक्षा कुछ दिन स्वामी जी के निकट तथा बाद में दण्डी विरजानन्द की मथुरा स्थित पाठशाला में हुई। बाल्यकाल से ही पं० अखिलानन्द को घर में संस्कृत भाषा बोलने का वातावरण और संस्कार प्राप्त हुए, अतः वे संस्कृत भाषा को सम्भाषण में मातृभाषा के तुल्य प्रयुक्त करने तथा इस भाषा में आशु काव्य रचने की योग्यता प्राप्त कर सके। उपनयन के अनन्तर बालक अखिलानन्द ने अपने ज्येष्ठ पितृव्य पं० जीवाराम से वेदारम्भ संस्कार में दीक्षित हो विद्याध्ययन प्रारम्भ किया। इनके सान्निध्य में आपने अष्टाध्यायी के पश्चात् यजुर्वेद, वाल्मीकि रामायण, भगवद्गीता, मनुस्मृति आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। पुनः विशेष शास्त्राभ्यास-हेतु मथुरा में दण्डी विरजानन्द के शिष्य और स्वामी दयानन्द के सहाध्यायी पं० युगलकिशोर के पास गये। साहित्य-शास्त्र और काव्य-ग्रन्थों का अध्ययन अल्मोड़ा निवासी पं० विष्णुदत्त से किया। काव्य, नाटक, चम्पू, अलंकार छन्द आदि साहित्य विषयक लक्ष्य और लक्षण ग्रन्थों का यह अध्ययन निरन्तर छ वर्षों तक चलता रहा। कवि-प्रतिभा का उदय पं० अखिलानन्द में बाल्य-से ही हो गया था। बाईस वर्ष की अवस्था में काव्य-रचना का अभ्यास और भी पुष्ट हो गया। दयानन्द-दिग्विजय कवि की प्रतिनिधि और प्रौढ़ काव्य रचना है। दिग्विजय का प्रकाशन सन् १९१० ई० में हुआ।

पं० अखिलानन्द का काव्य-दर्शन—काव्य-विषयक कवि की अपनी विशेष दृष्टि है जिसे उसने दिग्विजय की भूमिका में उपस्थित किया है। कवि की धारणा है कि वर्तमान समय के काव्य, महाकाव्य, खण्ड-काव्य आदि वैदिक-धर्म के अनुगामी सर्वांश में नहीं हैं, क्योंकि उनमें धर्मविरुद्ध शृङ्गार वर्णन तथा रतिचेष्टाओं का ही अधिकांश में उल्लेख मिलता है।[1] महाकवि कालिदास, पण्डितराज जगन्नाथ आदि कवियों के काव्य पौराणिक मत के अनुसार

---

१. वर्तमानकालिककाव्यमहाकाव्यखण्डकाव्यानां वैदिकधर्मानुवर्तकत्वमस्ति न वेति साम्प्रतं विचारणीयम्। मन्मते तु शृङ्गारवैचक्षण्यप्रदेषु नैषु वैदिकधर्मानुवर्तकत्वम्, कुत इति चेद् ब्रह्मविरोधिकामोत्पादकत्वात्। संस्कृतभूमिका

लिखे गये हैं, जिनमें वैदिक विचारधारा का अभाव दृष्टिगोचर होता है।[1] कवि की सम्मति में केवल आदि कवि वाल्मीकि के रामायण काव्य को छोड़-कर कोई ऐसा काव्य संस्कृत में निर्मित नहीं हुआ जो मनुष्यों को धर्म-मार्ग में चलने के लिए प्रेरित करे।[2] पुनः उनका यह भी कहना है कि जब पिंगल-प्रणीत छन्दःशास्त्र की गणना वेदांगों में हुई है और उसी के आधार पर काव्य-रचना की जाती है फिर वेदांगमूलक होने से काव्य वेद का विरोधी कैसे हो सकता है, इस पर आज तक किसी ने विचार नहीं किया। उनके मत में आजतक जितने कवि हुए हैं वे लौकिक (पौराणिक) विचारों को ही काव्य के माध्यम से प्रस्तुत करने वाले हुए हैं न कि वैदिक विचारों को। अतः यज्ञ संध्यादिक वैदिक कर्मों का वर्णन करने के स्थान पर इन कवियों ने कामोत्पा-दक संध्यावर्णन और विषयखेद-सूचक प्रभात वर्णन ही किया है।[3] यहां तक कि इन ग्रन्थों के मंगलाचारण भी पौराणिक-भावापन्न तथा देवताओं के सुरत-वर्णन युक्त ही है।[4]

कवि की दृष्टि में वर्तमान युग में एक मात्र महर्षि दयानन्द ही ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने संसार के उपकारार्थ मोक्ष के आनन्द को छोड़ा। वेद-विरोधियों का मर्दन, वेदानुगामियों का रक्षण, गुरुकुल अनाथालयादि का संस्था-पन, बालविवाह-उन्मूलन, विधवोद्धार आदि शतशः ऐसे लोकोपकार के कार्य

---

१. कविशिरोमणिकालिदास-पण्डितराजजगन्नाथयोर्जीवनपर्यालोचनया स्फुटमुपलभ्यते यन्न तत्समये वैदिकधर्मानुवर्तकत्वमासीद् इति। संस्कृत-भूमिका।

२. मन्मते तु—विहायादिकाव्यं वाल्मीकीयरामायणं नाद्यावधि किमपि काव्यं केनापि कविप्रकाण्डेन केवलधर्मप्रवर्तनधिया सम्पादितम्। संस्कृतभूमिका।

३. छन्दःशास्त्रस्य वेदांगत्वाच्छन्दोमूलकत्वाच्च काव्यानां कथं वैदिकधर्म-विघातपरत्वमिति नाद्यावधि केनापि विचारितम्। मन्मते त्वार्षपदमनुपगताः कवयो न वैदिकाः, किन्तु लौकिका एव। यदीमे वैदकविषयाब्धौ कृतावगाहा भवेयुस्तर्हि कथं न जगदीश्वरगुणानुवादपूर्वकं तत्कृतिषु यज्ञसंध्यादिवैदिककर्मणां पूर्णतया वर्णनमुपलभ्यते। दृश्यते तद्विरुद्धं कामोत्पादकं संध्यावर्णनमेषु विषय-खेदसूचकं प्रभातवर्णनं च। संस्कृतभूमिका।

४. किमतः परमेतेषां पौराणिकत्वे प्रमाणान्तरगवेषणं यदेतत्कृतपुस्त-केषु मङ्गलाचरणमपि पौराणिककथोपयुक्तमेवोपलभ्यते। कुत्रचिद्वक्रतुण्डविष-यकं कुत्रचिल्लक्ष्मीविष्णुविषयकं क्वचिद्गौरीशंकरविषयकं क्वापि शक्तिविषय-कम्। संस्कृतभूमिका।

हैं जो स्वामी दयनान्द द्वारा हुए।[1] यह मान कर कि इस प्रकार का कोई अन्य महात्मा भूतल पर नहीं होगा, कवि की सरस्वती ने भी उनके जीवनपरक महा-काव्य को लिखने में ही अपने को सार्थक समझा है।[2]

दयानन्द-दिग्विजय का सामान्य परिचय—प्रथम सर्ग में स्वामी दयानन्द के आविर्भाव काल की परिस्थितियों का समीक्षण करते हुए चरितनायक के प्रभाव का वर्णन किया गया है। द्वितीय सर्ग में नायक के जन्म और उन के बाल्यकाल का वर्णन हुआ है। इसी सर्ग में कवि ने स्वामी दयानन्द की जन्म-तिथि का भी उल्लेख किया है।[3] जो ऐतिहासिक अन्वेषण की दृष्टि से विचारणीय है। तृतीय सर्ग में काव्य के नायक के विद्याध्ययन का वर्णन हुआ है। चतुर्थ सर्ग 'लोकदशासमीक्षण' के शीर्षक से लिखा गया है। इसमें द्रुतविलम्बित छन्द का प्रयोग हुआ है तथा नायक के उत्पन्न होने के समय भारत में विद्यमान शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य आदि सम्प्रदायों का वर्णन किया गया है। पञ्चम सर्ग में स्वामी दयानन्द के मुख्य उपदेशों को निबद्ध किया गया हैं। छठा सर्ग 'वाराणसी-विजय' शीर्षक है जिसमें स्वामी दयानन्द और काशीस्थ स्वामी विशुद्धानन्द तथा पं० बाल शास्त्री आदि के बीच हुए उस प्रसिद्ध शास्त्रार्थ का वर्णन है जो मूर्तिपूजा की वैदिकता को लेकर हुआ था। सप्तम सर्ग में स्वामीजी के बम्बई-प्रवास का उल्लेख है। अष्टम सर्ग में स्वामी दयानन्द द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का विवरण दिया गया हैं। नवम सर्ग का शीर्षक 'यशोविलसन' हैं जिसमें नाटक का रूपक बांध कर चरितनायक की प्रशंसा की गई है।

---

१. वेदविरोधिनां मर्दनं, वेदानुगामिनां रक्षणं, गुरुकुलमहाविद्यालय-कल्पनं, दीनानाथजनकृते निर्वहणोपयोगिकल्पनं, ब्रह्मचर्याश्रमपरिपालनकथनं, बालविवाहविनाशनं वैधव्यविध्वंसनं, सर्वमप्यस्यैव महर्षेः कृपया पुनरपि भारते नयनयोरगात् पदम्। संस्कृतभूमिका।

२. नैवंविधः कोऽप्यत्र भूवलये महात्मा भविष्यतीति मत्वा मद्गता सरस्वत्यप्यस्यैव जीवनवर्णनपरं महाकाव्यमरचयत्। संस्कृतभूमिका।

३. मासि भाद्रपदे पक्षे सिते वारे बृहस्पतौ।
नवम्यां मध्यमायाते भास्करेऽपि विहायसः॥
नक्षत्रेपि शुभे मूले योगेऽपिप्रीतिवर्धने।
चन्द्राष्टवसुराकेशयोजनाल्लब्धभावने॥
विक्रमादित्यनृपतेर्वत्सरे जगतां गुरुः।
निर्गत्य जननीकुक्षेरागतो जगतीतले॥ द. दि. सर्ग २।३७, ३८, ३९।

'अङ्कानां वामतो गतिः' इस नियम से स्वामी दयानन्द का जन्म विक्रम संवत् १८८१ भाद्रपद शुक्ला नवमी बृहस्पतिवार को मध्याह्न में मूल नक्षत्र और प्रीतियोग में हुआ।

दशम सर्ग में मृतक-श्राद्ध, तीर्थ, पुराण तथा मूर्तिपूजा आदि अवैदिक सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। यहां पर महाकाव्य का पूर्वार्द्ध समाप्त होता है।

उत्तरार्द्ध में ११ सर्ग हैं। ११ वें सर्ग में लाहौर गमन का इतिवृत्त तथा आर्यसमाज के दस नियमों का उल्लेख हुआ है। द्वादश सर्ग स्वामीजी की कलकत्ता यात्रा का वर्णन करता है। 'समाज-कल्पन' नामक त्रयोदश सर्ग में आर्यसमाज की संस्थापना का वर्णन है काव्य-चमत्कार की दृष्टि से 'कल्पित समाज-पर्यालोचन' शीर्षक चतुर्दश सर्ग महत्त्वपूर्ण है। इसके कतिपय श्लोकों में चित्र-काव्य का सहारा लेकर कवि ने तृतीय-कोटि के काव्य की रचना की है। इस चित्रकाव्य में सर्वतोगमनवन्ध[1] षोडशदलकमलबन्ध[2] गोमूत्रिका-वन्ध[3], छत्रवन्ध[4], हारबन्ध[5], आदि विविध प्रयोग किए हैं। अठारहवें और उन्नीसवें सर्ग में भी चक्रबन्ध[6], चतुर्दलकमलवन्ध[7] तथा व्योमबन्ध[8] जैसे चित्रकाव्यात्मक श्लोक रचे गए हैं। चतुर्दश सर्ग का निम्न श्लोक भारवि-रचित किरातार्जुनीय के उस प्रसिद्ध श्लोक[9] से तुलनीय है जिसमें 'न' वर्ण के प्रयोग द्वारा ही सम्पूर्ण श्लोक की रचना हुई है—

न ते न ते तेन तेन ते न ते न ते न ते।
न ते न ये येन तेन तेन येन नये नते ॥ १४।१९०॥

इसका अन्वय इस प्रकार किया गया है—

येन येन न तेन जनेन ते ते (अनिर्वचनीयविषयाः) येन येन (प्रकारेण) [तस्य महर्षेरग्रे प्रश्नरूपेण विन्यस्ताः] तेन तेन न तेन (जनेन) ते ते (प्रसिद्धविषयाः) तेन तेन (प्रकारेण) [तदुत्तरद्वारा] न (प्राप्ता इति) न किन्त्ववश्यं प्राप्ता इत्येकोऽर्थः।

अथवा—येन येन नयेन (नीतिमार्गेण) तेन (मुनिना) ते ते (प्रसिद्धाः पुरुषाः) न (नीता इति) न (किन्तु नीता इत्यर्थः) तेन

१. सर्ग १४ श्लोक १९० ॥
२. ,, ,, ,, १९४ ॥
३. ,, ,, ,, १९५ ॥
४. ,, ,, ,, १९६ ॥
५. ,, ,, ,, २०१ ॥
६. ,, १८ ,, ९४ ॥
७. ,, १९ ,, १६४ ॥
८. ,, ,, ,, २०८ ॥
९. न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥
किरातार्जुनीय १५।१४॥

तेन (प्रसिद्धेन) नयेन (नीतिमार्गेण) ये (अधमाः) ते न (अगुः)न ते नते (नम्रतामापन्ने) सरले इत्यर्थः, नये (नीतिमार्गे) ते (अधमाः) न यान्तीति शेषः ।

अर्थात् स्वामी जी की प्रशंसा कहाँ तक करें—जिस जिस नम्र पुरुष ने उन-उन विषयों को जिस-जिस प्रकार पूछा उस नम्र पुरुष ने उन-उन विषयों को उस-उस प्रकार अवश्य प्राप्त किया । अथवा—जिस-जिस नीति मार्ग के द्वारा उस मुनि ने वह-वह प्रसिद्ध जन अच्छे मार्ग में लगा दिए उस-उस प्रसिद्ध नीति मार्ग से जो अधम थे वह नहीं गए, क्योंकि सरल नीति मार्ग में वे अधम जन नहीं जाया करते ।

कवि के अनुसार इस श्लोक के अन्य आठ अर्थ भी निकाले जा सकते हैं ।

पन्द्रहवें सर्ग में परोपकारिणी सभा की स्थापना का वर्णन है तथा सोलहवें सर्ग में उसके सभासदों का परिचय दिया गया है । इसी सर्ग में स्वामी जी द्वारा स्वीकृत अपने वसीयतनामे (स्वीकार-पत्र) की विभिन्न धाराओं का भी मधुमाधवी वृत्त में उल्लेख किया गया है ।[1] 'कल्पितमत-समालोचन' नामक सत्रहवें सर्ग में कवि ने शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य, शाङ्कर (नवीन) वेदान्त, बौद्ध तथा जैनादि मतों की समीक्षा की है । अठाहरवें सर्ग में स्वामी दयानन्द के जोधपुर निवास का इतिवृत्त निबद्ध हुआ है । उन्नीसवां स र्ग महर्षि के स्वर्गारोहण का वर्णन प्रस्तुत करता है । करुणरस के परिपाक की दृष्टि से बीसवां सर्ग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जिसमें स्वामीजी के परलोक प्रस्थान के अनन्तर भारतवासी आर्यपुरुषों को जो शोक हुआ उसका कवि ने अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया है । करुणरस से परिपूर्ण इस सर्ग को कवि ने जो 'शोक-सम्मूर्छन' नाम दिया है वह सर्वथा उचित ही है । महाकाव्य का अन्तिम सर्ग 'हर्षोदय' नामक है । काव्य के अन्त में कवि ने आत्म-परिचय देते हुए अपने जन्मस्थान एवं परिजनों का भी उल्लेख किया है । सर्गान्त के अन्तिम दो श्लोक काव्य की फलस्तुति के रूप में लिखे गए हैं जिन में कहा गया है कि जो कोई उदारचित्त पुरुष, निराकार परमात्मा में विश्वास एवं भक्ति रख कर कवि द्वारा रचित इस दयानन्द-दिग्विजय महाकाव्य को देखेंगे वे अनेक मतमतान्तर रूप जालों में फंस कर कदापि कष्ट नहीं पायेंगे, ईश्वर उनके लिए सदा आनन्द करेगा—

---

१. इत्थं समस्तमपि यल्लिखितं मुनीशैरन्त्ये दले करुणया मयका तथैव ।
श्रीपिंगलोक्तमधुमाधववृत्तबन्धे निर्माय दर्शितमनेकजनोपकारि ॥ १६।८४ ॥

ये केऽपि मद्रचितकाव्यमुदारचित्ताः
सर्वेश्वरे निरुपमे विनिवेश्य भक्तिम् ।
द्रक्ष्यन्ति नैव मतजालसमाकुलास्ते
यास्यन्ति दुःखमनिशं सुखमेव तेषाम् ॥ २१।६५ ॥

'दयानन्द-दिग्विजय'—महाकाव्य के रूप में—इक्कीस सर्गों में निबद्ध 'दयानन्द-दिग्विजय' शास्त्र-निर्दिष्ट लक्षणों से युक्त महाकाव्य है। इस की समग्र श्लोकसंख्या २३४८ है। प्रथम सर्ग का प्रथम श्लोक निराकार परमात्मा की स्तुति में लिखा गया मङ्गलाचरण है जिस में कवि वस्तुसंकेत भी देता है—

प्रणम्य भक्त्या परमेश्वरं परं
दयालुमाकारविशेषनिर्गतम् ।
मया दयानन्दयशोविभूषितं
विरच्यते काव्यमिदं विलोक्यताम् ॥

अगले श्लोक में अशेष-प्रतिभा-सम्पन्न, सकल आध्यात्मिक गुणयुक्त, धीरोदात्त कोटि में रक्खे जाने योग्य काव्य के नायक स्वामी दयानन्द का परिचय देते हुए कवि लिखता है—

अभूदभूमिः कलिकालकर्मणाम्
अशेषसौन्दर्यनिवासवासवः ।
जगत्त्रये दर्शितवेदभास्करः
प्रभो दयानन्द इति प्रतापवान् ॥

जहाँ तक रस का सम्बन्ध है, महाकाव्य में शृङ्गार, वीर और शान्त इन तीन रसों में से कोई एक रस 'अङ्गी' (प्रधान) होना चाहिये। आलोच्य महाकाव्य में शान्त रस की प्रधानता है। परन्तु जहां जहां शास्त्रार्थ आदि का वर्णन हुआ है। वहां वीर रस भी अङ्ग बन कर आया है। रस-निष्पत्ति की दृष्टि से दयानन्द-दिग्विजय में शान्त रस की धारा अप्रतिहत गति से प्रवाहित हुई है। करुण रस के परिपाक की दृष्टि से २०वां सर्ग पठनीय है। स्वामी की मृत्यु के लिए भक्त जन काल को दोष देते हुए कहने लगे—

अयि दुष्ट करालकाल ते
क्व गता सा करुणा यतस्त्वया ।
सहसैव मुनीश्वरो महान्
यशसैवात्र कृतः प्रतिष्ठितः ॥ २०।८॥

अरे दुष्ट कराल-काल, तूने यह क्या अनर्थ कर डाला ? तेरी दया आज कहाँ चली गई ? तूने आज बिना ही किसी को सूचना दिये स्वामीजी को भारत में केवल नाममात्र ही रख दिया। काल के प्रति यह उपालम्भ की भावना कई श्लोकों में उपन्यस्त हुई है। स्वामीजी के वियोग में आज केवल मनुष्य ही नहीं किन्तु विरह वेदना से व्याकुल वनों में वृक्ष पर बैठे हुए पक्षी भी चोंचों के द्वारा चूं चूं करते हुए उनके गुणों को याद करते हैं। सच तो यह है कि स्वामी जी के गुण ही शोकाग्नि को बढ़ाने के लिए उद्यत हो रहे हैं—

न हि केवलमद्य मानवैर्
विभिरप्याशु वियोगचूंकृतैः
प्रतिकथ्यत एव ते गुणास्
तव शोकाग्निसमेधने रताः ॥ २०।२४ ॥

विधवाओं के लिए पुनर्विवाह और नियोग का विधान कर स्वामीजी ने उन्हें सधवा भले ही बनाया हो, परन्तु आज तो उनके वियोग में स्वयं सरस्वती ही विधवा बन गई है—

सकलोऽपि वधूजनस्त्वया—सधवः कल्पित एव हा मुने।
विधवा पुनरद्य भारती—कथमेषा न विलोक्यतेऽधुना ॥
२०।५३ ॥

उक्त श्लोक में कवि की ऊहा दर्शनीय है ।

चरित-काव्य होने के कारण दयानन्द-दिग्विजय की कथावस्तु भी पूर्णतया ऐतिहासिक है । इसके लिखने से पूर्व कवि ने हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में उपलब्ध चरितनायक के सभी जीवनचरितों का गम्भीरतया अनुशीलन कर लिया था । इस महकाव्य की कविनिर्मित हिन्दी टीका में मूल में अनिर्दिष्ट स्थान, काल, व्यक्ति, घटना आदि का विस्तृत उल्लेख हुआ है । जिससे कि पाठक को घटनाचक्र तथा परिस्थितियों का ज्ञान होता चले तथा कथा के स्वारस्य में बाधा न पड़े ।

महाकाव्यों में कहीं-कहीं सज्जनों की प्रशंसा और दुष्टों की निन्दा भी रहती है। प्रसंगवशात् दयानन्ददिग्विजय में इस लक्षण का भी पूर्णतया निर्वाह हुआ है। स्वामी दयानन्द के कार्य में सहायक भक्तों का गुणानुवाद एवं उनके लोकोपकारी कार्य में बाधक सिद्ध होने वाले खलवृन्द की निन्दा प्रसंगोपात्त हुई ही है। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों की दृष्टि से भी यह महाकाव्य दरिद्र

कहीं है। यत्र-तत्र इस प्रकार के वर्णन उपलब्ध होते हैं। अष्टादश सर्ग में सायंकाल का मनोरम चित्रण हुआ है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

क्षालनाय जलधिं गते रवौ
कल्मषस्य भुवनावलोकनात्।
संगतस्य हिमदीधितिर्जवात्
किं किमित्यनुवदन्समापतत्॥

पापी जगत् को देखने से उत्पन्न हुए पाप को धोने के लिए समुद्र के पास सूर्य को जाता देखकर 'क्या हुआ,' 'क्या हुआ' कहता हुआ चन्द्रमा शीघ्र ही निकलने को उद्यत हुआ।

गच्छतो दिनकरस्य वारुणीम्
आगतस्य च ततो निशाम्पतेः।
पीतिमा समवदन्न वारुणी-
पानजं किमु फलं भुवस्तले॥

वारुणी (पश्चिम) दिशा को जाते हुए और उसी के संग से लौट कर आते हुए सूर्य और चन्द्रमा की जो पीतिमा है वह क्या वारुणी (मदिरा) के पान का फल नहीं वतलाती ?

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि केशवदास ने भी वारुणी का इसी प्रकार श्लिष्टार्थ करते हुए अपने महाकाव्य रामचन्द्रिका में लिखा है—

जहां वारुणी की करी रंचक रुचि द्विजराज।
तहीं कियो भगवन्त बिन संपति सोभा साज॥

निम्न पद्य में काल रूपी भिक्षु का रूपकालंकार के सहारे सुन्दर वर्णन हुआ है—

संमदादुभयतः करे दधद्
भाजनं विधृतभिक्षुकव्रतः।
कालभिक्षुरभवत्समन्ततो
दत्तदृष्टिरुडुमोदकव्रजे॥ १८।७४॥

समय रूपी संन्यासी प्रसन्न हो दोनों हाथों में भिक्षा-कपाल लेकर जो इधर उधर देखने लगा तो तारागण रूपी मोदक एकत्र देखकर मन में फूला नहीं समाया।

'कवि' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग निम्न पद में द्रष्टव्य है—

योजनार्थमुभयोरुपस्थितो
यावदेव विधिरेकतो गतम् ।
बिम्बमेकमपरं च पूर्णताम्
आप विस्मयमतो ययौ कविः ॥१८।७५॥

दोनों सूर्य और चन्द्रमा के आधे-आधे टुकड़ों को जोड़ने के लिए जब तक विधाता आया तब तक एक सर्वथा छिप गया, दूसरा निकल आया। इसे देख कर कवि (शुक्र) हँस पड़े।

प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में मानवीय भावों को आरोपित करने की पद्धति का सहारा भी कवि ने लिया है। स्वामी दयानन्द के तिरोधान के अनन्तर वियोग-जन्य शोक से घबराये इस जगत् को देख कर कमलिनीनायक सूर्य अपने करों द्वारा सान्त्वना देता हुआ-सा प्रतीत होता था—

दिननायक एतदाकुलं
जगदालोक्य वियोगवह्निना ।
करुणारुणितेन सान्त्वना
मनसा तानिदमाह मञ्जुलम् ॥ २०।६७॥

कवि-परम्परा के अनुसार दयानन्द-दिग्विजय में नगरादि के वर्णन भी मिलते हैं। द्वितीय सर्ग में मौरवी राज्यान्तर्गत टंकारा नगरी का कवि ने अत्यन्त विशद वर्णन किया है। धनधान्यवैभव-सम्पन्न इस नगरी की समृद्धि कुबेर को भी लज्जित करती है—

नानावस्तुलसत्कोषपोषमात्रपरायणाः ।
कुबेरमपि मन्यन्ते न यत्र धनिनो विशः ॥२।१३॥

अलंकार योजना के सहारे कवि ने निम्न पद्यों में टंकारा नगरी का अत्यन्त चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है—

वारस्त्री बहुभोगापि रक्तवर्णापि या पुरी ।
अखण्डित चरित्राढ्या चन्द्रिकोज्ज्वलतामिता ॥

बहुप्रकृतियुक्तापि स्थिरा चित्रितभित्तिभिः ।
अव्यक्तविश्वरूपेव सशैलेवोच्चवेश्मभिः ॥ २।१४, १५॥

जो पुरी वारस्त्रियों से परिपूर्ण होने पर भी सच्चरित्र जनों से युक्त है लाल रंग की होने पर भी चन्द्रमा की चांदनी से सफेद है, अनेक प्राकृतिक पदार्थों से युक्त होने पर भी स्थिर है, चित्रांकित दीवारों से ऐसी मालूम होती

है मानो सारे संसार की वस्तुओं को धारण करती है, ऊंचे-ऊंचे मकानों से ऐसी मालूम होती है मानो पर्वतयुक्त है ।

परिसंख्या अलंकार का प्रयोग करता हुआ कवि टंकारा पुरी का वर्णन करता है—

अस्थिरत्वं पताकानां मित्रद्वेषो निशाब्जजाम् ।
कोषगुप्तिरसीनां तु लक्ष्यते यत्र नान्यथा ।।२।२१।।

जिस पुरी में चंचलता पताकाओं में, मित्र (सूर्य) से द्वेष उल्लुओं में, कोष में रहना तलवारों में ही पाया जाता है, अन्यत्र नहीं । समृद्ध–वर्णनों की दृष्टि से उपर्युक्त उदाहरण पर्याप्त हैं ।

शास्त्रनिर्दिष्ट अन्य लक्षणों में छन्द-विषयक यह नियम भी आता है जिसके अनुसार महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग होता है तथा सर्गान्त में छन्द का परिवर्तन हो जाता है । दयानन्द दिग्विजय में छन्द-सम्वन्धी इस विषय का भी दृढ़तापूर्वक निर्वाह हुआ है ।

आलोच्य महाकाव्य भाव, भाषा, छन्द, अलंकार, रस, गुण आदि काव्योपयुक्त सभी तत्त्वों की दृष्टि से सफल कहा जा सकता है । यत्र कवि ने सुन्दर अलंकार विन्यास द्वारा भाषागत और भावगत सौन्दर्य की वृद्धि की है । अनुप्रास का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

लसल्लावण्यललनालास्यलीलायिते गृहे ।
बाललीलालवोल्लासैर्लालयाभास तं जनः ।। २।४४ ।।

सुन्दर लावण्य वाली स्त्रियों के नृत्य से लीलायमान गृह में बाललीलाओं के उत्साह से स्त्रीजनों ने उस बालक मूलशंकर का लालन किया ।

इस काव्य के अनेक पद्यों में अन्यान्य ग्रन्थों के श्लोकों और पद्यों के भाव प्राप्त होते हैं । कवियों में इस प्रकार के भावापहरण को दोष नहीं माना जाता, अपितु संस्कृत के अनेक महाकवियों ने भी अन्य कवियों के द्वारा चित्रित कई भावों को अपनी रचनाओं में प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया है । आलोच्य महाकाव्य के निम्न पद्यों में विभिन्न कवियों और ग्रन्थकारों के भावों की छाया देखी जा सकती है । दशम सर्ग का ८१ वाँ श्लोक[1] मनु-स्मृति के—

---

१. अद्भिर्वपूंषि विमलानि भवन्ति सत्यैश्
चेतांसि भूतपदवाच्यमिदं शरीरम् ।
विद्यातपोबलवशाद्धिषणा विशिष्ट-
ज्ञानेन शुद्धिमुपयाति न तीर्थतोयैः ।।

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ ५।१०९ ॥

इस श्लोक पर आधृत है। इसी प्रकार मेघदूत के उस सुप्रसिद्ध श्लोक जिसमें सुख और दुःख के क्रमानुक्रम आगम की उपमा चक्रनेमि से दी है,[1] के भावों को कवि ने निम्न श्लोक में अनुबद्ध किया है—

सुखतः परमस्ति दुःखता
पुनरन्ते सुखमेव केवलम् ।
न सदा सुखमेव नोऽसुखं
रथचक्रभ्रमिवद्विलोक्यताम् ॥२०।८२ ॥

अखिलानन्द शर्मा ने 'दयानन्द-दिग्विजय' के अतिरिक्त वैदिकसिद्धान्त-वर्णन' शीर्षक एक अन्य महाकाव्य भी लिखा था। इसका उल्लेख 'दिग्विजय' के 'ग्रन्थकार-परिचय प्रकरण' में हुआ है। यह दिग्विजय-काव्य इण्डियन प्रेस प्रयाग से प्रकाशित हुआ था। मूल ग्रन्थ का भाषानुवाद कवि ने स्वयं ही किया था।

पं० दिलीपदत्त शर्मा रचित 'मुनिचरितामृत' महाकाव्य—

स्वामी दयानन्द के जीवन और कृतित्व का उल्लेख करने वाला द्वितीय महाकाव्य उपाध्याय दिलीपदत्त शर्मा रचित 'मुनिचरितामृत' है। इसका पूर्वार्द्ध १९७१ वि० में महाविद्यालय दर्शन प्रेस ज्वालापुर से प्रकाशित हुआ। उत्तरार्द्ध प्रकाशित नहीं हो सका, यद्यपि इसके प्रकाशन की आशा पूर्वार्द्ध की भूमिका में ज्वालापुरीय महाविद्यालय के मुख्याध्यापक पं० भीमसेन शर्मा ने व्यक्त की थी।[2]

कवि-परिचय—महाकाव्य के रचयिता पं० दलीपदत्त शर्मा का जन्म कृष्णपुर जिला बुलन्दशहर में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री मेदसिंह था। कवि की शिक्षा-दीक्षा गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में हुई। पं० भीमसेन शर्मा इनके शास्त्र-गुरु थे। अध्ययन समाप्त करने के अनन्तर आपने अपनी सेवायें अध्यापक के रूप में गुरुकुल ज्वालापुर को अर्पित कीं तथा कई वर्षों

---

१. कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ उत्तर मेघ ४८ ।

२. पक्षपातगन्धशून्यैर्वैदिकभक्त्यपक्षपातिभिरार्यैर्विद्वद्भिर्ग्रन्थोऽयं समाद्रियेत तदाऽस्य द्वितीयो भागः सद्य एव मुद्रणां लम्भयिष्यते तथैव भगवान् विदधातु ।

तक निर्वाह मात्र लेकर मुख्याध्यापक का कार्य करते रहे। काव्यरचना में आपकी स्वाभाविक रुचि थी। जीवन के अन्तिम भाग में महाविद्यालय की सेवा से मुक्त होकर कृषि कार्य करते रहे। इनका देहान्त २८ नवम्बर १९५२ को हुआ।

मुनिचरितामृत महाकाव्य—दिलीपदत्त शर्मा निसर्ग-सिद्ध कवि थे। आशुकवित्व उनका सहज गुण था। मुनिचारितामृत के अतिरिक्त भी आपने प्रतापचम्पू, संस्कृतालोक, ऋतुवर्णन तथा योगरत्न आदि ग्रन्थ लिखे। मुनिचरितामृत पूर्वार्द्ध ११ बिन्दुओं में समाप्त हुआ है। ग्रन्थ की भूमिका में पं० भीमसेन शर्मा लिखते हैं—

संस्कृतभाषैवैका चिरस्थायिनी, तद्भिन्नानां भाषाणामुपचयापचयाव्यवस्थादर्शनेनाचिरस्थायित्वात्। अस्मद्दौर्भाग्यपरिपाकादेव तादृशस्य महापुरुषस्य जीवनचरितमिदानीं यावत्तथाविधं न दृग्गोचरीभूतं यद्विद्वज्जनमनःप्रसादकारि सत् विविधशिक्षामोदकरैरन्तेवासिचेतांस्यपि प्रमोदयेत् इत्याकलय्यैकदा मया श्रीमानुपाध्यायो दिलीपदत्तशर्मा मदन्तेवासी तज्जीवनचरितं संस्कृतभाषोपनिबन्धुं समादिष्टः।"

अर्थात् संस्कृतभाषा ही चिरस्थायिनी भाषा है। अन्य भाषायें तो उपचय अपचय के कारण अस्थिर ही हैं। हमारे दुर्भाग्य के फल से स्वामी दयानन्द सदृश महापुरुष का जीवन-चरित अभी तक इस रूप में इस भाषा में नहीं लिखा गया जिससे विद्वज्जनों का मनोरञ्जन हो तथा जो छात्रों के लिए भी आमोदप्रद हो। ऐसा समझकर मैंने अपने अन्तेवासी श्रीमान् उपाध्याय दिलीपदत्त शर्मा को स्वामी दयानन्द का चरित संस्कृत भाषा में निबद्ध करने की आज्ञा दी।

पं० भीमसेन शर्मा की इस आज्ञा को ही काव्य रचना की प्रेरणा समझना चाहिए। भूमिका लेखक ने स्वमनोविनोद और स्वात्मा का पवित्रीकरण ही इस ग्रन्थ रचना का प्रयोजन बताया है।

महाकाव्य का सामान्य परिचय—प्रथम बिन्दु में मङ्गलाचरण के रूप में ईश्वर-वन्दना करने के पश्चात् कवि अपनी विनम्रता का परिचय देते हुए लिखता है—

क्वास्मादृशो नु पुरुषः कवितानभिज्ञः
साहित्यशास्त्रपरिबोधविकुण्ठितज्ञः।
कामं मृणालगुणतश्चपलस्वभावः
कर्त्तुं वशे करिवरं धृतिमातनोमि ॥१।११॥

कवितानभिज्ञ तथा साहित्यशास्त्र में कुण्ठितमति मुझ जैसे पुरुष के लिए स्वामी दयानन्द के पुनीत चरित को काव्य निवद्ध करना वैसा ही है जैसा मृणालतन्तु से हाथी को वांधना ।

पङ्गुर्यथा गिरिपतेः शिखरं रुरुक्षुः
पाथोनिधिप्रतरणेच्छुरपाणिरज्ञः ।
हास्यं प्रयाति समितौ प्रविवेकभाजां
तद्वन्ममापि भविताऽत्र दशेति मन्ये ।।१।१२।।

जिस प्रकार पंगु पुरुष गिरिशिखर का आरोहण का यत्न करते हुए तथा विना हाथ वाला पुरुष समुद्र को पार करने की चेष्टा करता हुआ हास्य का पात्र वनता है उसी प्रकार मैं भी इस महत् कार्य के अनुष्ठान करने की चेष्टा में उपहास का पात्र वन रहा हूँ ।

इसी विन्दु में महाकाव्योचित सज्जनप्रशंसा और दुर्जननिन्दा के कतिपय श्लोक लिखकर कवि ने शेष पद्यों में स्वामी दयानन्द के जन्मकाल तथा उनके वालचरित का वर्णन किया है । चरितनायक की वालछवि का हृदयग्राही चित्रण निम्न श्लोक में दर्शनीय है—

आजानुबाहुः स च शङ्खकन्धरः
कपाटवक्षा ह्यतिमात्रसुन्दरः ।
फुल्लारविन्दायतदेवदीपकः
करीन्द्रयानः स्वकवंशदीपकः ।।१।५३।।

द्वितीय विन्दु में शिवरात्रि-व्रतकथा का चित्रण हुआ है । सर्गारम्भ में वालक मूलशंकर की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा के वर्णन के प्रसंग में उसके द्वारा अधीत सारस्वत, चन्द्रिका, सस्वर वेद संहिता, त्रिकाण्डकोष आदि शास्त्रों का उल्लेख हुआ है । तृतीय विन्दु में मूलशंकर को वैराग्य उत्पन्न होने तथा उसके द्वारा गृहत्याग की घटनायें वर्णित हुई हैं । इसी विन्दु में मूलशंकर की भगिनी तथा चाचा की मृत्यु का वर्णन करते हुए कवि ने करुणरस का सुन्दर परिपाक किया है—

विदग्धवृन्दिष्ठसमाजभूषणः
सत्कर्मचर्य्याधृतचित्तदूषणः ।
अहो पितृव्यो निगमाध्वनिष्ठः ।
क्वेतो गतो मेऽद्य सतां वरिष्ठः ।।३।२९।।

चतुर्थ विन्दु में मूलशंकर के गृहत्याग के अनन्तर माता का विलाप तथा सखी द्वारा सान्त्वना प्रकाश का प्रकरण कवि ने स्वप्रतिभा से ऊहित किया है ।

माता का विलाप वर्णन करने में कवि को पुनः करुणरस की सृष्टि का अवसर मिल गया है—

> अयि सुत क्व गतोऽसि ममान्तिकाद्
> विनयविज्ञवरोऽपि विनाऽज्ञया।
> किमधुनाऽपि विमुच्य विनिष्ठुर
> क्वचिदुपैष्यसि हन्त यदृच्छया ॥४।१६॥

पञ्चम विन्दु में सिद्धपुर ग्राम में ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य की पिता से अन्तिम भेंट वर्णित हुई है। षष्ठ विन्दु में शुद्धचैतन्य का सिद्धपुर से पलायन तथा वेदान्त अध्ययन का वर्णन है। सप्तम विन्दु में शुद्धचैतन्य द्वारा संन्यास-ग्रहण का उल्लेख मिलता है। अष्टम विन्दु में स्वामी दयानन्द का हरिद्वार में कुम्भपर्व पर सर्वमेध तथा उत्तराखण्ड भ्रमण का वर्णन किया गया है। उत्तराखण्ड के प्राकृतिक सौन्दर्य वर्णन में कवि ने नवम विन्दु अर्पित किया है। इसी सर्ग में महाकाव्योचित ऋतु वर्णन का अवकाश भी कवि को मिल गया है। वसन्त ऋतु का एक सुन्दर चित्र दर्शनीय है—

> नानारसास्वादनायासशीला
> फुल्लप्रसूनव्रजासक्तिलीला।
> गुञ्जद्द्विरेफावली क्वापि धीरं
> कर्त्तुं वसन्तोद्भवं सज्जितेव ॥९।१७॥

दशम विन्दु में स्वामी दयानन्द द्वारा नर्मदा-स्रोत के अन्वेषण के प्रसंग का वर्णन है। अन्तिम एकादश विन्दु में दण्डी विरजानन्द की पाठशाला में रहकर स्वामी दयानन्द के अध्ययन का वर्णन किया गया है। यहां पर महाकाव्य का पूर्वार्द्ध समाप्त हो जाता है। यदि कवि को उत्तरार्द्ध के लेखन का अवसर मिलता तो महाकाव्य की सम्पूर्णता और सर्वांगीणता को लक्ष्य में रखकर उसका महाकाव्योचित मूल्यांकन किया जा सकता था। इस प्रकार उपलब्ध अंश में निबद्ध कथानक तथा उसके भावपक्ष का विवेचन करने के पश्चात् हम उसके कलापक्ष पर विचार करते हैं।

महाकाव्य में अलंकार-योजना—मुनिचरितामृत काव्य में अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों का चमत्कारोत्पादक आयोजन सर्वत्र उपलब्ध होता है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं। अनुप्रास का उदाहरण—

> कुटिलता कुलमाकुलतां नयन्
> शिशुरयं चिरजीविततामितात् ॥१।४८॥

यमक के उदाहरण—

स धूर्जटेश्छात्रवरो निकेतं
तातेन साकं परितः सुकेतुम् ।
विशालशालं च विशालशालं
गत्वा महेशं प्रणनाम देवम् ॥२।६॥

प्रतिपथं प्रभुकृत्य विचक्षणा
प्रतिवनञ्च विभज्य तदीक्षणम् ।
विदधिरे बहुशस्तरलेक्षणाः
परमते रमते ररमाग्रतः ॥४।७॥

विज्ञाय तत्रत्य निःशेषवृत्तं
विज्ञातिसन्दोहमान्यो यतीशः ।
रुद्रप्रयागं प्रयागं प्रयागं
यातो विशालं विशालं विशालम् ॥६।२५॥

काव्य की भाषा सर्वत्र प्रसादगुण युक्त है। इसका एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा—

गुरो कृपालो भवतः सकाशा-
ल्लब्धं मया लभ्यमये समस्तम् ।
यत्तद्द्रव्यजोहारविधौ समर्थः
कथं भवेयं कृपणो मनुष्यः ॥११।५२॥

लवङ्गजातं भगवन्ममेदं
तुच्छोपहारं कृपया गृहाण ।
नैवास्ति दातुं सविधे मदीये
वस्त्वन्तरञ्चेति महाविषादः ॥११।५३॥

आलोच्य महाकाव्य में मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी आदि छन्दों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। शिखरिणी छन्द का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

विवाहे सञ्जाते कथमपि नहीच्छा फलवती,
भविष्यत्यस्माकं विविधकुलचिन्ताऽऽकुलतया ।
व्रतध्वंसे पापं भवति नितरां दुःखजनकं,
विधातव्या व्रज्या बहिरित इतेन क्वचिदतः ॥३।६७॥

काव्य में यत्र-तत्र सुन्दर सूक्तियों का प्रयोग माला में ग्रथित मुक्ताओं की भांति शोभावर्धक है। यथा—

'बलवतीह यतो भवितव्यता' ४।४७।।

मुनिचरितामृतम् का एक संस्करण ही प्रकाशित हुआ और वह भी हिन्दी टीका रहित। अतः उसका इष्ट प्रचार सम्भव नहीं हो सका। वर्षों से यह काव्य अलभ्य है।

श्री मेधाव्रत आचार्य रचित दयानन्द-दिग्विजय—

कवि-परिचय—आर्यसमाज के जिन विद्वानों में काव्यप्रतिभा का स्फुरण हुआ और जिन्होंने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा तथा अनुभूति के बल पर काव्य क्षेत्र में अपना अद्वितीय योगदान किया, उनमें आचार्य मेधाव्रत का नाम अन्यतम है। आर्यसमाज के वे अकेले साहित्यकार हैं जिनकी ओजस्विनी वाणी ने महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीति-काव्य, स्तोत्र-काव्य, गद्यकाव्य (उपन्यास), रूपक (नाटक) आदि साहित्य की विविध विधाओं के रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त की है। इससे पूर्व कि हम मेधाव्रताचार्य रचित 'दयानन्द-दिग्विजय' महाकाव्य तथा अन्य काव्यों का विशद अनुशीलन करें, हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम कवि के जीवन और व्यक्तित्व का स्वल्प परिचय प्राप्त कर लें, जिससे उनके कृतित्व का अध्ययन करने में हमें कठिनाई न हो।

महाराष्ट्र प्रान्तान्तर्गत नासिक जिले के येवला ग्राम में एक मध्यवित्त गृहस्थ श्री जगजीवन के यहां ७ जनवरी १८९३ को कवि मेधाव्रत का जन्म हुआ। कवि की माता का नाम सरस्वती देवी था। पिता जगजीवन आर्यसमाज के प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी नित्यानन्द और राजाराम कालेज, कोल्हापुर के प्रिन्सिपल पं० बालकृष्ण के प्रभाव में आकर आर्यसमाजी बने। प्रारम्भिक शिक्षा येवला के हाईस्कूल में दिलाने के पश्चात् आर्यसमाजी संस्कारों से सम्पन्न पिता ने बालक मेधाव्रत को गुरुकुल में भेजने का निश्चय किया। तदनुसार मेधाव्रत उत्तरप्रदेश के आद्य गुरुकुल सिकन्दराबाद में भेजे गए। कालान्तर में यही गुरुकुल वृन्दावन में आ गया।

गुरुकुल की श्रेणियों में अध्ययन करते समय मेधाव्रत ने अपनी काव्य-सम्बन्धी असाधारण प्रतिभा का परिचय देना आरम्भ किया। किशोर अवस्था में ही वे काव्य-रचना करने लगे थे। अपनी छात्रावस्था में उन्होंने **'देशोन्नति'** नामक ४५ पद्यों का एक काव्य बनाया जो 'गुरुकुल-वृत्तान्त' में छपा। **'ब्रह्मचर्यशतकम्'** (काव्य) और **'प्रकृतिसौन्दर्यम्'** (नाटक) उनकी छात्र-काल की ही रचनायें हैं। गुरुकुल-निवासकाल में मेधाव्रत ने उत्तराखण्ड, कांश्मीर आदि प्रकृति के सुरम्य स्थलों की यात्रा की, जिसका उनके अनुभूति-प्रवण हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। प्रकृति पर्यवेक्षण का ही यह प्रभाव है कि

मेधाव्रतजी अपने काव्यग्रन्थों में यत्र-तत्र प्रकृति के मनोज्ञरूपों की सुन्दर झांकी प्रस्तुत कर सके हैं।

वृन्दावन गुरुकुल में रहकर मेधाव्रत ने व्याकरण, साहित्य, वेद, उपनिषद्, दर्शन-न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रों का व्यापक अध्ययन किया। आपके दर्शन-शास्त्र के गुरु स्वामी हरिप्रसाद वैदिकमुनि और व्याकरण तथा साहित्य के गुरु पं० देवदत्त थे। आर्य सिद्धान्त का अध्ययन आपने गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता मुन्शी नारायणप्रसाद (महात्मा नारायण स्वामी) तथा पं० तुलसीराम स्वामी से किया। अस्वस्थ हो जाने के कारण ब्रह्मचारी मेधाव्रत की शिक्षा गुरुकुल वृन्दावन में असमाप्त ही रही और वे अपने जन्मस्थान येवला में लौटने के लिए विवश हुए। इन्हीं दिनों आपने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया।

कोल्हापुर में शाहू छत्रपति नरेश द्वारा स्थापित वैदिक-विद्यालय का आचार्यपद मेधाव्रत को सौंपा गया। इस पद पर आपने योग्यतापूर्वक कार्य किया। इसी बीच रुग्ण हो जाने के कारण आपको इस पद का कार्यभार छोड़कर अपने जन्मस्थान येवला लौटना पड़ा। इस अवधि में भी आपकी साहित्य-साधना सतत चलती रही। **कुमुदिनीचन्द्र** (उपन्यास), **दयानन्द-लहरी** आदि रचनायें इसी काल की हैं। १९२१ से १९२६ तक मेधाव्रतजी ने सूरत के नेशनल कालेज में हिन्दी और संस्कृत के अध्यापक के रूप में कार्य किया। यह कालेज असहयोग आन्दोलन की प्रेरणा से खुला था। १९२६ में पं० आनन्दप्रिय की प्रेरणा से मेधाव्रतजी आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा के आचार्य बने। १३ वर्ष की लम्बी अवधि पर्यन्त मेधाव्रतजी आर्य-कन्या महाविद्यालय के आचार्य पद को सुशोभित करते हुए स्त्री-शिक्षा के पुनीत कार्य में सहयोग देते रहे। बड़ौदा से कार्यमुक्त होकर कवि ने साहित्य-प्रणयन को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। अपने जीवन के संध्याकाल में आचार्य मेधाव्रत गुरुकुल चित्तौड़गढ़, गुरुकुल झज्जर तथा कन्या गुरुकुल नरेला में निवास कर वहां के शिक्षार्थियों को विद्यादान करते रहते थे। जनवरी १९५९ में चित्तौड़गढ़ के अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन पर आयोजित संस्कृत कवि सम्मेलन की उन्होंने अध्यक्षता की थी। गुरुकुल चित्तौड़गढ़ में ही स्वल्पकालीन रुग्णता के पश्चात् कवि का स्वर्गवास २१ नवम्बर १९६४ को हो गया।

आलोच्य महाकाव्य दयानन्द-दिग्विजय का सामान्य परिचय—सत्ताइस सर्गों और २७०० श्लोकों में सम्पूर्ण हुआ[1] कविरत्न मेधाव्रताचार्य

---

१. 'अवसितमिदं महाकाव्यं गगनाम्बरमुनिलोचनपद्यम्'—ग्रन्थान्त की पुष्पिका।

रचित दयानन्द-दिग्विजय महाकाव्य संस्कृत साहित्य को आर्यसमाज की एक विशिष्ट देन है। इस महाकाव्य का पूर्वार्द्ध १९९४ वि० तथा उत्तरार्द्ध २००२ वि० में प्रकाशित हुआ। दोनों खण्डों के हिन्दी अनुवादक क्रमशः पं० श्रुतवन्धु शास्त्री तथा ग्रन्थकार के अनुज श्री सत्यव्रत तीर्थ हैं।

प्रथम सर्ग में भारत के विगत गौरव का आख्यान करते हुए कवि ने कथ्यवस्तु का निर्देश किया है। सर्गारम्भ के प्रथम मङ्गलश्लोक[1] में यमकालंकार के सहारे ईश्वरपरक, दयानन्दपरक तथा कवि के पिता श्री जगजीवन परक एकाधिक अर्थ दिखाये गए हैं। इसी सर्ग में महाकाव्य की शास्त्र-निर्दिष्ट परम्परा का निर्वाह करते हुए सज्जन-स्तुति[2] तथा दुर्जन-निन्दा के कतिपय श्लोक लिखे गए हैं। **द्वितीय सर्ग** में देश की वर्तमान दुर्दशा का वर्णन हुआ है। **तृतीय सर्ग** में चरितनायक के बाल्यकाल की घटनाओं का वर्णन है। सर्ग के प्रारम्भिक श्लोकों में स्वामी दयानन्द के जन्मस्थान टंकारा नगर का काव्य शास्त्रोक्त पद्धति पूर्वक वर्णन हुआ है। स्वामी दयानन्द जैसे महापुरुष को जन्म देकर टंकारा नगरी धन्य हुई उसी प्रकार जिस प्रकार अयोध्या को श्रीराम तथा मथुरा को श्रीकृष्ण की जन्मदात्री होने के कारण ख्याति मिली।[3] **चतुर्थ सर्ग** 'शिवरात्रि-प्रबोध' शीर्षक है। इसमें बालक मूलशंकर की प्रारम्भिक शिक्षा, संस्कृत अध्ययन तथा शिवरात्रि को घटित मूर्तिपूजा में अविश्वास उत्पन्न करने वाली घटना का उल्लेख हुआ है। **पंचम सर्ग** में मूलशंकर के गृहत्याग की घटना निबद्ध हुई है। **छठे सर्ग** में मूलशंकर द्वारा नैष्ठिक ब्रह्मचर्य ग्रहण तथा शुद्धचैतन्य नाम स्वीकार कर यत्र-तत्र विचरण करने का विवरण मिलता है। **सातवां सर्ग** संन्यास ग्रहण विषयक है। 'हिमगिरौ योगि-गवेषण' शीर्षक **आठवें सर्ग** में स्वामी दयानन्द के उत्तराखण्ड भ्रमण के प्रसंग में कवि को महाकाव्योचित परम्परा का निर्वाह करते हुए षड् ऋतुओं के वर्णन करने का अवसर मिल गया है। **नवें सर्ग** में 'नर्मदास्रोत-गवेषण' का प्रसंग वर्णित हुआ है। **दसवें सर्ग** में स्वामी विरजानन्द की मथुरा स्थित पाठशाला में रह कर शास्त्राध्ययन का विषय 'गुरुकुलवास' शीर्षक से वर्णित है। **एकादश सर्ग** दयानन्द-दिग्विजयारम्भ की भूमिका प्रस्तुत करता है। **द्वादश सर्ग** के

---

१. दयामयानन्दनमूलशंकरं सरस्वतीशं निगमेन्दुसागरम्।
विभुं निराकारभजं जगत्सृजं भजामि मेधाजनितो महागुरुम्॥१।१॥

२. दयालवः प्राणिषु सौख्यहेतवः समस्तसंसारहितं चिकीर्षवः।
भवन्ति वन्द्या न हि कस्य साधवः सदा सदन्तःकरणप्रवृत्तयः॥१।३॥

३. अयोध्या रामचन्द्रेण मथुरा श्रीमुरारिणा।
विश्ववंद्या यथापूता टंकाराप्यमंहर्षिणा॥३।८॥

प्रत्येक पद्य में पृथक्-पृथक् छन्द प्रयुक्त हुए हैं। प्रत्येक श्लोक में उस छन्द का नाम भी निर्दिष्ट हुआ है, जिसमें वह श्लोक लिखा गया है। छन्द-प्रयोग के वैविध्य की दृष्टि से 'हरिद्वारीयमहाकुम्भमहोत्सवे पाखण्ड-खण्डनम्' नामक यह बारहवां सर्ग विशेष महत्त्व का है। यहां महाकाव्य का पूर्वार्द्ध समाप्त होता है।

उत्तरार्द्ध में पन्द्रह सर्ग हैं। **तेरहवें सर्ग** में वेद विद्या के सार्वजनीन अधिकार का शास्त्रीय निरूपण किया गया है। **चतुर्दश सर्ग** में स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपक्षी विद्वानों से किये गए शास्त्रार्थों का वर्णन है। इसमें स्वामी दयानन्द प्रतिपादित धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों का सुन्दर शैली में विवेचन हुआ है। वेद की स्वतः प्रामाणिकता और स्मृति के तदनुकूल होने पर प्रामाणिक होने का सिद्धान्त निम्न श्लोक में द्रष्टव्य है—

स्वतःप्रमाणं निगमा हि सूर्यवत्
तदन्यशास्त्राणि सुधांशुवत्ततः ।
श्रुतेर्विरुद्धं वचनं न मन्यते
स्मृतिर्हि सा या निगमानुगामिनी ॥१४।३०॥

अवतारवाद के निराकरण में कवि की युक्ति इस प्रकार है—

प्रयोजनं नैव शरीरधारणे
प्रभोः पु [illegible] दुर्जनदै[illegible]दा[illegible]णे ।
वपुर्विनैवास्य हृदन्तरात्मनः
समर्थता सज्जनरक्षणे यदा ॥१४।३२॥

जब सर्वान्तर्यामी परमेश्वर देह धारण किए बिना ही सज्जनों का रक्षण और दुर्जन दैत्यों का विनाश करने में समर्थ है तब फिर उसको शरीर धारण करने का प्रयोजन ही नहीं रहता। ईश्वर के निराकार और अशरीरी होने का वर्णन इसी अध्याय के ३९वें श्लोक में[1] उपनिषदों में पाई जाने वाली शब्दावली के अनुकरण पर ही हुआ है। शाङ्कर वेदान्त के निराकरण में स्वामी दयानन्द ने जो युक्तियां प्रस्तुत की हैं, उन्हें कवि ने सरल और प्रसादपूर्ण शैली में उपस्थित किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

---

१. न नेत्रतः पश्यति कश्चनैनं न वाङ्मनोगोचरतां गतोऽयम् ।
निजात्मनैवात्मनि योगगम्यो विज्ञानिभिर्ध्यानिभिरेव विष्णुः ॥१४।३९॥

तुलना कीजिए—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥
कठोपनिषद् ॥६।९॥

सति कुड्ये भवेच्चित्रं निराधारे कुतोऽन्वदः ।
किमालम्ब्य भ्रमोजज्ञे मिथ्यात्वे जगतः पुनः ॥१४।८७॥

दीवार हो तभी तो चित्र बनेगा,
निराधार में वह चित्र कहां से बनेगा ?
जगत् की सत्ता ही न हो,
तब किसका आश्रय करके भ्रम हुआ ?

प्रतिपक्षी विद्वान् से स्वामीजी का शास्त्रीय वाद-विवाद जिस प्रकार श्लोकबद्ध किया गया है वह थोड़े में बहुत कह देने की संस्कृत भाषा की शक्ति का द्योतक है। निम्न उदाहरण से यह कथन स्पष्ट हो जायगा—

कस्याजनि जगद्भानं ब्रह्मणीदं विदां मणे ?
जीवस्य कुत एषोऽभूदज्ञानात्तत्कुतः क्व नु ?
अज्ञानं तिष्ठति ब्रह्मण्यनादि ब्रह्म किं गुणम् ।
ज्ञानस्वरूपं तन्नित्यमज्ञानं कथमीश्वरे ॥
मायया तद्धिमाया का भासमानाऽप्यरूपिणी ।
अरूपं भासते किन्नु ? मिथ्योन्मत्तप्रजल्पनम् ॥१॥

स्वामी—हे विद्वन्मणे ब्रह्म में यह जगत् का भान किसको हुआ ? कृष्णानन्द—जीव को। स्वा०—वह अज्ञान किसमें और क्यों ? कृ०—ब्रह्म में अज्ञान रहता है और वह अनादि है। स्वा०—ब्रह्म का क्या स्वरूप है ? कृ०—वह नित्य ज्ञानस्वरूप है। स्वा०—फिर ईश्वर में अज्ञान कहां से ? कृ०—माया से। स्वा०—वह माया क्या वस्तु है ? कृ०—वह भासमान होती हुई भी अरूप है। स्वा०—अरूप होती हुई कैसे भासती है ? यह सब तुम्हारा उन्मत्त प्रलाप है।

इस प्रकार शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रतिपादन की दृष्टि से यह सर्ग विशेष महत्त्व का है। **पन्द्रहवें सर्ग** में स्वामीजी के विलक्षण तेज और बल का वर्णन करते हुए कवि ने उनके द्वारा किए गए दुर्जनों के अहंकार के दलन का उल्लेख किया है। **सोलहवां सर्ग** 'प्रतिपक्षिहृदय-परिवर्तन' शीर्षक है। स्वामी दयानन्द के प्रभाव में आकर जिन लोगों के विचारों में परिवर्तन हुआ उसका विवरण इस सर्ग में दिया गया है। **सत्रहवें सर्ग** में महर्षि ने अपने वाग्वैभव से जिन प्रोद्दण्ड पण्डितों का मानमर्दन किया उसका वर्णन हुआ है। **अठारहवें सर्ग** में प्रसिद्ध काशी-शास्त्रार्थ का वर्णन उपनिबद्ध है। प्रारम्भ के कतिपय श्लोकों में कवि को काशी नगरी के वर्णन का अवसर मिल गया है। **उन्नीसवें सर्ग** में

१. सर्ग १४।८५, ८६, ८७।

स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित वैदिक पाठशालाओं का वर्णन किया गया है। **बीसवां सर्ग** स्वामी दयानन्द द्वारा विरोधी पण्डितों पर विजय प्राप्त करने का विषय प्रस्तुत करता है।

इक्कीसवें सर्ग में स्वामीजी की बम्बई यात्रा और आर्यसमाज की स्थापना का वर्णन हुआ है। इसी प्रसंग में कवि ने बम्बई (मोहमयी) नगरी का वर्णन किया है। **बाईसवें सर्ग** में स्वामीजी द्वारा वेदभाष्य-रचना के प्रारम्भ किये जाने का वर्णन है। **तेईसवें सर्ग** में पञ्चनद प्रान्त भ्रमण और लवपुर (लाहौर) में आर्यसमाज-संस्थापन का वर्णन हुआ है। **चौबीसवां सर्ग** उत्तर भारत में सर्वत्र आर्यसमाज की स्थापना का विवरण उपस्थित करता है। **पच्चीसवें सर्ग** में स्वामीजी की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा की स्थापना का वर्णन है। इस सर्ग में कवि ने उदयपुर नगर की श्री, शोभा और सम्पन्नता का भी वर्णन किया है। **छब्बीसवें सर्ग** में स्वामीजी के राजस्थान भ्रमण तथा मरुप्रदेश (मारवाड़) में वैदिकधर्म प्रचार का वर्णन है। अन्तिम **सत्ताईसवें सर्ग** में स्वामीजी की परमपद प्राप्ति का विवरण देते हुए ग्रन्थ को समाप्त किया गया है।

महाकाव्य की कसौटी पर दयानन्द-दिग्विजय—शास्त्रोक्त लक्षण युक्त इस महाकाव्य का अङ्गीरस शान्त है परन्तु अन्य रसों का निर्वाह भी प्रसंगानुकूल हुआ है। बालक मूलशंकर की अनुजा के स्वर्ग-गमन के उपरान्त माता ने जो विलाप किया, वह करुणरस का उत्कृष्ट उदाहरण है। पञ्चम सर्ग के २९वें श्लोक से लेकर ३८वें श्लोक पर्यन्त १० पद्यों में सन्तानवत्सला माता का करुणविलाप कठोर हृदय को भी मृदु बना देने की क्षमता रखता है। इसी प्रकार उन्नीसवें सर्ग में जहां स्वामी दयानन्द एक निर्धन स्त्री को अपने मृत शिशु से लिपटे वस्त्र को उतार कर शव को गंगा में प्रवाहित करते देखते हैं, उनका हृदय देशवासियों की निर्धनता और विपन्नता को देखकर अभिभूत हो उठता है। यहां भी कवि को करुणरस के वर्णन करने का अवसर मिला है। वीररस तथा हास्यरस के भी अनेक उत्कृष्ट उदाहरण इस महाकाव्य में पाये जाते हैं।

महाकाव्य की सफलता उसमें पाए जाने वाले वर्णनों पर निर्भर करती है। आलोच्य महाकाव्य के विभिन्न सर्गों में कवि ने टंकारा, बम्बई, दिल्ली, काशी और उदयपुर आदि नगरों का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। महाकाव्य के चरितनायक की जन्मभूमि टंकारा का वर्णन तृतीय सर्ग में द्रष्टव्य है। प्रथम श्लोक में ही यमक के सहारे कवि ने टंकारा की शोभा और श्रीसम्पन्नता का वर्णन किया है—

सस्यसम्पत्सनाथानां क्षेत्राणां मालयान्विता ।
विलसद्वेदटंकारा टंकारा-नगरीमणिः ॥३।१॥

अनेक प्रकार के लहलहाते धान्यों के खेतों से शोभित टंकारा नगरी वेदपाठी ब्राह्मणों की ध्वनि से गुञ्जित रहती है ।

नगर के निकट बहने वाली असुधरा तथा डेमी नदियों, नगर के चारों ओर गम्भीर जल वाली परिखा, बाग-बगीचे, घाट तथा अन्यान्य सुरम्य स्थलों का वर्णन भी कवि ने अपनी सूक्ष्मदर्शनी काव्य-शक्ति द्वारा किया है। टंकारा नगरी को पवित्र यज्ञवेदी की उपमा देते हुए कवि कहता है—

कुशपुष्पवती हव्यद्रव्यौधिसमिच्चया ।
रेजे यज्ञस्थलीवेयं गोविप्रगणमण्डिता ॥३।१६॥

कुश, पुष्प, हव्य द्रव्य, औषधि और समिधा तथा गौ एवं ब्राह्मणों से घिरी यह नगरी पवित्र यज्ञवेदी की तरह मालूम होती थी ।

काशी का वर्णन करते हुए कवि की दृष्टि गंगा नदी के रम्यघाटों पर स्थित मन्दिरों, प्रसादों, गगनचुम्बी स्वर्णकलशों से सुशोभित देवालयों पर उड़ती हुई पताकाओं तथा गंगा के वक्ष पर चलती हुई नौकाओं तक पहुँचती है ।[1] काशी का धार्मिक और सांस्कृतिक महत्त्व भी कवि की दृष्टि से ओझल नहीं होता ।[2] इसी काशी में स्वामी दयानन्द का विद्वन्मण्डली से मूर्तिपूजा पर प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ । बीसवें सर्ग में कवि ने परम ऐश्वर्यशालिनी उस बम्बई (मोहमयी) नगरी का वर्णन किया है जो समग्र भूखण्ड के नर-रत्नों की मण्डलियों से मण्डित है, जिस नगरी ने अपने गुणों से सकल मानवों को मोहित करके अपना कामद (मोहमयी) नाम चरितार्थ किया है ।[3] बम्बई के विशाल भवन, उसका प्रख्यात विश्वविद्यालय, उसके मनोहारी नाटकगृह, उपहार-भवन, विहार-मन्दिर तथा पान्थ-शालायें इस नगर को पृथ्वी की अलंकारभूता बनाते हैं ।[4] कवि को यह नगरी पुराणवर्णित अलकापुरी तथा इन्द्रपुरी अमरावती के तुल्य दिखाई देती है ।[5] क्योंकि इसके भवन-भवन में चैत्ररथ और नन्दनवन, पद-पद पर इन्द्र और कुबेर के देव, यक्ष और किन्नरों

१. सर्ग १८।१, २, ३ ।
२. सर्ग १८।६, १० ।
३. अखण्डभूखण्डनमण्डनावलीविमण्डिता मोहमयी पुरी बभौ ।
यथा विमोह्याखिलमानवान् गुणैः कृतं कृतार्थं निजनाम कामदम् ॥ २१।१॥
४. सर्ग २१।८॥
५. सर्ग २१।१३॥

से भोग्य-प्रासाद तथा मार्ग-मार्ग में पुष्पक के तुल्य त्वरित गति वाले विमान दिखाई देते हैं।[1]

२३वें सर्ग में दिल्ली नगर का वर्णन हुआ है। इस सर्ग के प्रथम श्लोक में ही अनुप्रासयुक्त शब्दावली में दिल्ली का निम्न वर्णन कवि की प्रतिभा का द्योतक है—

> **अर्थिसार्थहितकल्पसुवल्ली**
> **यत्पुरोऽमरपुरी लघुपल्ली।**
> **यां श्रिता सुकृतिनो वनभिल्ली**
> **सा बभावनुपमा भुवि दिल्ली ॥२३।१॥**

याचकगण के लिए जो कल्पवृक्ष-सी इष्टफल देने वाली है, जिसके सामने इन्द्रपुरी-अमरावती छोटे से अहीरों के ग्राम के तुल्य प्रतीत होती है, जिसका आश्रय लेकर जंगली स्त्रियां भी भाग्यशालिनी वन जाती हैं, ऐसी पृथ्वी पर अनुपम दिल्ली राजधानी विराजती है।

इसी प्रकार २५वें सर्ग में उदयपुर नगर का वर्णन भी महत्त्वपूर्ण है।

'दयानन्द-दिग्विजय' में प्रकृति चित्रण—संस्कृत महाकाव्यों में प्रकृति के सुरम्य दृश्यों का चित्राङ्कन अनिवार्य लक्षण माना गया है। नदी, वन, उपवन, पर्वत, उषा, प्रदोष, रात्रि आदि का प्रसंगोपात्त वर्णन महाकाव्यों की एक परम्परा रही है। कविरत्न मेधाव्रताचार्य को आलोच्य महाकाव्य के नायक स्वामी दयानन्द के उत्तराखण्ड-प्रवास के वर्णन के प्रसंग में प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण करने का सहज अवसर प्राप्त हो गया है। हिमालय के हिममण्डित शिखरों, पर्वतीय उपत्यकाओं तथा उनमें छाये देवदारु के गगन-चुम्बी वृक्षों से आच्छादित अरण्यप्रदेशों में प्रकृति की शान्त, एकान्त और सहज सुषमा को काव्यवद्ध करने का यह अवसर कवि ने अपने हाथ से नहीं जाने दिया है। इसी प्रकार अलखनन्दा, भागीरथी, नर्मदा आदि नदियों, वद्री-नाथ, श्रीनगर, रुद्रप्रयाग, देवप्रयाग आदि पर्वतीय तीर्थस्थलों के सुरम्य वाता-वरण को भी शब्दचित्रों द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास इस महाकाव्य में हुआ है।

'हिमगिरौ योगिगवेषणम्' शीर्षक अष्टम सर्ग में कवि ने षड्ऋतु-वर्णन की परम्परा का निर्वाह किया है। यतीन्द्र दयानन्द के मनोरञ्जन के लिए मानो प्रकृति नटी अपने अशेष सौन्दर्य को लेकर प्रकट हुई—

---

१. गृहे-गृहे चैत्ररथं पदे-पदे मनोहरं नन्दनमत्र पुष्पकम्।
सुवैजयन्ता धनदालयाः पथे-पथे विरेजुः सुरयत्नभूसुलाम् ॥२१।१४॥

मुनीन्द्रमानन्दयितुं गिरीन्द्रे
प्रादुर्बभूव प्रकृतिः सुशीला ।
मनोज्ञरूपा हृतयोगिचित्ता
विचा नटीवेयमनिन्द्यलीला ॥८।१३॥

और इसके पश्चात् वसन्तागम के रूप में प्रकृति का प्रथम लीला विलास प्रकट हुआ—

पलाशिनां पङ्क्तिषु पल्लवानां
लताततीनां कुसुमावलीषु ।
श्रियं निवेश्यैव मनोभिरामाम्
ऋतुर्वसन्तो विललास शैले ॥८।१४॥

ऋतुराज वसन्त शैलराज के वृक्षों के पत्र-समूहों में और लताओं के पुष्पों में मनोहर शोभा का संनिवेश कर खेल रहा था ।

स्वामीजी के आगे सुन्दर आम्रमञ्जरी-माला से मण्डित शिखरों वाली कोयल के मञ्जुल स्वर वाली, आम्रमाला की वीणा हाथ में लेकर मानो वसन्तलक्ष्मी पीताम्बरधारिणी ब्रह्मचारिणी-सी शोभा देती है—

सुमंजरी मण्डितमौलिमालाम्
आम्रालिवीणां पिकमंजुनादाम् ।
आदाय पीताम्बरवर्णिनीव
वसन्तलक्ष्मी पुरतोऽस्य रेजे ॥८।१५॥

वसन्तकालीन वातावरण में आकाश, जल, रात्रि, चन्द्र और तारागण सभी प्रसन्न हैं । इस वसन्त में प्रसाद लक्ष्मी से प्रत्येक वस्तु ओतप्रोत है—

नभः प्रसन्नं सलिलं प्रसन्नं
निशाः प्रसन्ना द्विजचन्द्र रम्याः ।
इत्थं वसन्ते रुरुचे वसन्ती
प्रसादलक्ष्मीः प्रतिवस्तु दिव्या[1] ॥८।१६॥

वसन्त के पश्चात् ग्रीष्म ऋतु का आगमन हुआ । ग्रीष्म के भीषण निदाघ से संतप्त प्राणिसमूह किस प्रकार विभिन्न शीतलतादायक स्थानों में शरण ढूंढ रहा है यह बताकर कवि ने प्रकृति-पर्यवेक्षण का एक सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया है—

छायासु गावः सलिले महिष्यः
कुञ्जे मयूरा विपिने कुरङ्गाः ।

---

१. तुलनीय—प्रकृतिसौन्दर्यम् नाटक २।२२॥

नीडे विहङ्गाः कुसुमेषु भृङ्गा
निषेदुरुग्रांशुमयूखतप्ताः ॥८।२६॥

सूर्य की प्रचण्ड गर्मी के कारण गौएं छाया में, भैंसे पानी में, मोर कुञ्जों में, हरिण वनों में, पक्षी घोंसलों में तथा भ्रमर फूलों में बैठे थे।

वसुन्धरा वियोगियों के हृदय की तरह तप रही है। छोटे तालाव दुर्जनों के चित्त की तरह जल्दी सूख गए हैं तथा सूर्य शत्रु की भांति संतापदायक हो रहा है—

वियोगिनां सा हृदयस्थलीव
तप्ता मही दुर्जनचित्ततुल्यम्।
सरो विशुष्कं लघु चण्डरश्मिर्
वैरीव संतापकरः प्रजज्ञे ॥८।३०॥

वर्षाकाल का वर्णन करने में उस कवि-प्रचलित परिपाटी को अपनाया गया है जिसमें वर्षाकालीन कार्य-व्यापारों का उपदेशात्मक पद्धति से वर्णन किया जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' के ऋतु वर्णन में इसी पद्धति का प्रयोग किया है। मेघाव्रत का वर्षा वर्णन भी इसी प्रणाली का अनुसरण करता है। एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा—

विशालशैलोपमभीमरूपैः
पयोधरैः प्रावृषि लोकचक्षुः।
अवासि संमोहतमस्समूहैर्
यथाम्बकं ज्ञानमयं जनानाम् ॥८।४०॥

जैसे मोहान्धकार से मनुष्य के ज्ञान नेत्र ढक जाते हैं, वैसे ही संसार का सूर्य विशाल शैलाकार भयंकर रूपधारी बादलों से घिर गया।

वर्षा वर्णन में साङ्गरूपक का निर्वाह भी दर्शनीय है—

मन्ये मरुत्स्यन्दनवृन्दमिन्द्रा
नक्तञ्चराणामधिरुह्य मेघाः।
विद्युत्पताका वृषचापचापाः
श्रीपद्मिनीन्द्रं रुरुधुः समेताः ॥८।४४॥

मेघ रूपी निशाचरों के मण्डल बिजली रूपी पताका से युक्त, पवनरूपी रथ पर आरूढ़ होकर सुन्दर इन्द्रधनुष रूपी धनुष धारण करते हुए, कमनिली-कान्त सूर्य को घेर रहे थे।

वर्षा के अनन्तर मनोहर शरद् ऋतु आई। शरद् का सुरम्य वातारण कवि ने मनोयोगपूर्वक चित्रित किया है। अनुप्रास-युक्त शब्दावली में शारदीय सुषमा का एक चित्र देखिए—

आशास्सुहासास्सरितस्सुकाशा
नृपा निजारातिनिबर्हणाशाः।
सप्तच्छदामोदसुगन्धिताशाः
प्रवान्ति वाता इह मन्दशीताः[1] ॥८।५८॥

दिशायें हंस रही हैं। नदियां काश पुष्पों से शोभित हैं। नृपतिगण अपने शत्रु का मर्दन करने के लिए उद्यत हो रहे हैं। सप्तच्छद की सुगन्धि दिशाओं में महक रही है और शीतलमन्द सुगन्ध पवन वह रहा है।

शरदानन्तर हेमन्त प्रकट हुआ। शीताधिक्य के कारण सभी प्राणी दुःखी हो गए। कमलिनी की काया शीत के कारण जीर्ण शीर्ण हो गई, सांप मदहीन हो गए, मछलियां पानी में भी व्याकुल होने लगीं। हाय! गरीबों के लिए केवल अग्नि का सहारा रह गया—

अम्भोजिनी शीतहताङ्गदीना
जाता भुजङ्गा मदवारिहीनाः।
प्रालेयनीरे विकला हि मीना
वह्न्याश्रया हन्त नु दीनदीनाः ॥८।६६॥

तुषाराच्छादित सूर्य को चन्द्र समझकर कमलिनी दिन में ही सूर्य के विरह से मानो कृश होकर कमलदण्ड मात्र शेष रह गई। यहां भ्रम अलंकार की योजना द्रष्टव्य है—

तुषारजालान्तरितोग्रभासं
भास्वन्तमेनं परिकल्प्य चन्द्रम्।
सरोजिनी संविरहेण बभ्रे
नालावशेषां ध्रुवमङ्गयष्टिम् ॥८।६७॥

शीत की अधिकता से व्याकुल मृगशावक मां का स्तन्यपान करना चाहता है, किन्तु शीत से दोनों जबड़े जकड़ जाने के कारण मुख न खुलने से दूध नहीं पी सकता। पशुओं की इस स्वाभाविक चेष्टा के वर्णन को स्वभावोक्ति अलंकार ही समझना चाहिए—'

---

१. तुलनीय-प्रकृतिसौन्दर्य नाटक ५।२४॥

सारङ्गडिम्भो हिमपीडिताङ्गः
स्तन्यं जनन्या बत पातुकामः ।
दृढं मिथस्सम्पुटिताच्छदं तं
व्यादातुमास्यं प्रभुरेव नासीत्[1] ॥८।६८॥

अन्त में शिशिरागम के साथ-साथ यह ऋतु वर्णन समाप्त होता है—

शनैः शनैश्शैलभुवो नितम्बात्
तुषारचैलं शिशिरः कराग्रैः ।
सौरैरपासार्य जहास नूनं
परिस्फुटत्कुन्दलताप्रसूनैः ॥८।७६॥

यह कल्पना भी बड़ी मंजुल है—शिशिर धीरे-धीरे पर्वतभूमि की नितम्बरूप मध्यस्थली से सूर्य की किरण अपनी अंगुलियों द्वारा वर्फ की चादर हटाकर खिलते हुए कुन्दलता के फूलों से मानो हँस रहा था।

प्रभात का रमणीय वर्णन निम्न श्लोक में द्रष्टव्य है—

तदा कल्ये पूर्वं रविकररुचिर्व्योम सरसि
ततानां मुक्तानां रुचिरसरःशोभामकलयत् ।
शनैः पश्चात् सेयं विविधमणिवर्णाञ्चिततनुः
प्रभां रङ्गावल्या अजनयदहर्द्वारपुरतः ॥११।१५॥

उषा देवी के प्रस्थान के समय व्योम सरोवर में सूर्य की प्रथम किरण की कान्ति ने फैली हुई मोतियों की मालाओं की शोभा को धारण किया और धीरे-धीरे उस कान्ति ने आगे बढ़कर दिवसरूपी द्वार के आगे अनेक रत्नों के वर्णों से रञ्जित स्वस्तिक सर्वतोभद्रादि रंगावलियों से मनोहर शोभा की वृद्धि की।

अलंकार योजना—महाकाव्य में अलंकारों का अपना महत्त्व होता है। यद्यपि अन्य गुणों से युक्त अलंकार रहित काव्य भी प्रशंसनीय है[2] तथापि यह निश्चित है कि अलंकार काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि के कारण होते हैं। 'दयानन्द-दिग्विजय' का कवि अलंकारों के विषय में स्वमत की स्थापना इस प्रकार करता है—

---

१. तुलनीय-प्रकृतिसौन्दर्यं नाटक १।४५॥

२. 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'—मम्मट कृत काव्य-प्रकाश में काव्य का लक्षण।

नालंकृताऽपि सद्वाणी निर्दोषा सरला शुभा ।
निसर्गसुन्दरी स्त्री वा रोचते खलु शर्मदा ॥१३।३॥

जैसे स्वाभाविक सुन्दरी विना गहनों के भी सबको अच्छी ही लगती है वैसे ही सत्पुरुषों की वाणी निर्दोष, सरल और कल्याणकारिणी होने के कारण सबको भाती है ।

कवि का निश्चित मत है कि केवल नानाभरणभूषिता भामिनी का ही जगत् में स्थान नहीं है । आभरण तो उसके बाह्य रूप में कुछ अधिक चमत्कार ही ला देते हैं । इसी प्रकार सद्वाणी का भी अपने आप में स्थान है यद्यपि अलंकार उस सद्वाणी को और अधिक चमत्कृत कर देते हैं ।

दयानन्द-दिग्विजय में अलंकार सौन्दर्य का सर्वत्र दर्शन होता है । अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों तथा उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, अनन्वय आदि अर्थालंकारों का सर्वत्र प्रयोग हुआ है । कतिपय उदाहरण नीचे दिए जाते हैं ।

लालित्यलीलाललनालयाले
शैलोत्तमाङ्गे स विशालशाले ॥८।६४॥

यमक का उदाहरण षष्ठ सर्ग के निम्न श्लोक में दर्शनीय है—

पथिकभिक्षुकसाधुमुखाम्बुजाद्
अनुपदं स निशम्य यमिस्तवम् ।
द्रुतगतिः प्रजगाम तदाश्रमं
सहृदयो हृदयोज्ज्वलभावनः ॥६।१२॥

समधिगम्य मनागमुतो विधिं
वनमुपेत्य समाहितमानसः ।
तरुतलेऽभ्यसनं विदधे विधेर्—
नियमवान् यमवान् विहितासनः ॥६।१५॥

श्लेष का उदाहरण—

जडात्मचिन्नीरपयोविवेका
मुक्ताशनाः शुक्लसुवर्णपक्षाः ।
व्यक्ताम्बराः संयमिराजहंसा
रराजिरे यत्पुलिने गृणन्तः ॥१७।३॥

यहां उपमेय संयमी तथा उपमान राजहंस की समानता घोषित करते

हुए जो मुक्ताशनाः, शुक्लसुवर्णपक्षाः, त्यक्ताम्बराः आदि पद लिखे गए हैं वे दोनों पक्षों में श्लिष्टार्थ का कथन करते हैं।

वक्रोक्ति का उदाहरण—

निष्पक्षपण्डितस्येदं सत्योक्तं युगपन्नृणाम् ।
एकेषां हृदि पीयूषमन्येषां विषभाजनि ॥१४।४२॥

अर्थालंकारों के कतिपय उदाहरण दिए जाते हैं। सर्वप्रथम उपमा का उदाहरण निम्न पद्य में द्रष्टव्य है—

इति करुणदशामवेक्ष्यभूमे-
दुंरिततमोदलनाय दिव्यधामा ।
भुवनहितकरः प्रकाशितोऽयं रवि-
रिव विश्वसृजा व्रती महर्षिः ॥२।५६॥

पूर्णोपमा का उदाहरण—

दयानन्दमुनेः कीर्तिश्चन्द्रिकेव मनोरमा ।
द्विजेन्द्रस्य जगद्व्योम्नि व्यानशे विमलाऽखिले ॥१३।६॥

उत्प्रेक्षा का उदाहरण—

भूयोऽपि भूत्वा बटुरेष नूनं
श्रीशंकराचार्य इहागतो नु ?
आम्नायधर्मोद्धरणाय लोकै-
रित्यन्वमानि व्रतिनं विलोक्य ॥४।१५॥

अनन्वय का उदाहरण—

श्रेयो मानवानां यो मोक्षानन्दं जहौ मुदा ।
दयानन्द इवौदार्ये दयानन्दः स आबभौ ॥१३।१०॥

जिसने मानव मात्र के कल्याण के लिए सुखपूर्वक मोक्ष के आनन्द को त्याग दिया, वस्तुतः उदारता में दयानन्द की तुलना दयानन्द से ही सुहाती है।

साङ्गरूपक का उदाहरण—

कामक्रोधमुखैः कुलीरकमठैर्भेकैश्च सेव्यं बकैर्
नानाभोगरोगपङ्कमलिनं वैवाहिकं पल्वलम् ।
मुक्त्वा मोहजलाकुलं कुजगृहं गुप्तं स सायं ययौ
मुक्तानन्दसरोविहाररसिको ब्रह्मात्मजो हंसराट् ॥५।६०॥

इस विवाहरूपी छोटे तालाब में काम, क्रोध, मोहरूपी मछलियां, कछुए, मेंढक और बगुले रहते हैं। यह तलैया नाना भोगों से उत्पन्न रोगरूपी कीचड़ से मलिन हो जाती है। इसमें मोह का पानी भरा हुआ है। इसलिए राजहंस-सा यह ब्रह्मचारी (मूलशंकर) गृहस्थाश्रमरूपी छोटे तालाब को छोड़कर सायं समय मुक्ति के विशाल मानसरोवर में विहार करने के लिए निकल पड़ा।

अतिशयोक्ति का उदाहरण—

गृहे-गृहे चैत्ररथं पदे-पदे
मनोहरं नन्दनमत्र पुष्पकम्।
सुवैजयन्ता धनदालयाः पथे-पथे
विरेजुः सुरयक्षभूभुजाम् ॥२१।१४॥

संदेह का उदाहरण—

किं सत्यरूपो भगवान् गिरीशो
विश्वम्भरः शंकर एष साक्षात्।
आहोस्विदेषा प्रतिमा तदीया
स राजते नात्र विनिश्चयो मे ॥४।६२॥

विरोधाभास का उदाहरण—

सावित्र्यां परमेष्ठीव श्रियां विष्णुरिवानिशम्।
उमायां शम्भुवद् रक्तोऽप्यासीद् यो व्रतिनां वरः ॥१३।२२॥

उपमेयोपमा का उदाहरण—

धर्मो ज्ञानमिवोत्कृष्टो ज्ञानं धर्म इवातुलम्।
सरस्वतीश्वरे ह्येते सोदर्ये इव रेजतुः ॥१३।११॥

अर्थान्तरन्यास का उदाहरण—

पौराणिकैर्यद्यपि पीडितोऽयं
शनैश्शनैर्वेदपथानुयायी।
भूत्वा विनेयोऽजनि योगिराजः
सत्याङ्कुरः क्व प्रलयं प्रयाति ॥१७।५४॥

व्यतिरेक का उदाहरण—

यदन्तरं सिंहगजेन्द्रवृन्दयोर्
यदन्तरं सूर्यमृगाङ्कबिम्बयोः।
यदन्तरं वीन्द्रविहङ्गसंघयोस्
तदन्तरं योगिबुधेन्द्रवर्गयोः ॥१६।५६॥

स्थालीपुलाक न्याय से ही अलंकारों के कतिपय उदाहरण ऊपर दिखलाए गए हैं, अन्यथा इस काव्य में दृष्टान्त, निदर्शना, व्याजस्तुति, विशेषोक्ति, परिसंख्या आदि सभी विविध अलंकार यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं।

छन्दोयोजना—महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में एक छन्द तथा सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन का सिद्धान्त काव्य शास्त्र के आचार्यों ने निरूपित किया है। 'दयानन्द-दिग्विजय' महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में पृथक्-पृथक् छन्द प्रयुक्त हुए हैं। छन्दोज्ञान की दृष्टि से भी इस महाकाव्य का अध्ययन विशेष उपादेय है। प्रयुक्त छन्दों में वंशस्थ, वसन्ततिलका, मन्द्राक्रान्ता, उपजाति, अनुष्टुप्, प्रहर्षिणी, वैतालीय, शालिनी, मालिनी, द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रीडित, इन्द्रवज्रा, स्रग्धरा, रथोद्धता, शिखरिणी, उपेन्द्रवज्रा, रुचिरा, पुष्पिताग्रा, विद्युन्माला, प्रमिताक्षरा, भुजङ्गप्रयात, आर्या, हरिणी आदि प्रमुख हैं। छन्द-प्रयोग की दृष्टि से द्वादश सर्ग विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसमें विविध वृत्तों तथा उनके भेदों का नाम क्रमशः श्लोकों में आता है तथा उसी वृत्त में वह श्लोक भी लिखा गया है। उदाहरण के लिए निम्न श्लोकांश द्रष्टव्य हैं—

भ्रमरविलसित छन्द—

स्त्री पद्मिन्यां भ्रमरविलसितम् ।।१२।१२१।।

कनकप्रभा छन्द—

कनकप्रभा विकसितान्तराम्बुजः ।।१२।११९।।

रथोद्धता छन्द—

मानसं तुदति गीरथोद्धता ।।१२।४९।।

मालिनी छन्द—

मुदमतनुत विद्युन्मालिनीवाम्बुदाली ।।१२।४३।।

अनेक सर्ग सम्पूर्णतया उपजाति छन्द में ही लिखे गए हैं।

सुभाषित और सूक्तियां—महाकाव्यों में यत्र-तत्र कुछ ऐसे प्रेरणादायक वाक्य गुंफित कर दिए जाते हैं जो जीवन के शाश्वत तथ्यों पर प्रकाश डालते हुए मानस हृदय में स्फूर्ति के भाव भरने में सफल होते हैं। दयानन्द-दिग्विजय में भी ऐसे सुभाषित और सूक्तियां मिलती हैं, जिनके कतिपय उदाहरण यहां दिए जाते हैं—

योग्यस्य योग्येन सह भाति संगः ।।८।१२।।

योग्य की योग्य के साथ संगति सुहाती है।

सतां हि चेतांसि दयामृदूनि ।।१३।३३।।

सत्पुरुषों के हृदय दया से कोमल होते हैं।

किं धर्षितुं दिनमणिं प्रभवो दिवान्धाः ॥१३।३६॥

क्या सूर्य को उल्लू तिरस्कृत कर सकते हैं ?

सौभाग्यलभ्या हि सतां सुसेवा ॥१३।५४॥

सज्जनों की सेवा बड़े भाग्य से मिलती है।

जनिनाशौ प्रकृतिर्हि वर्ष्मणः ॥२७।७४॥

उत्पत्ति और विनाश शरीर का धर्म है।

धैर्यं कुतः सत्यपथाच्च्युतानाम् ॥१६।२८॥

सत्य मार्ग से भ्रष्ट होने वालों को धैर्य कहां ?

खोदा पहाड़ और निकली चुहिया, इस लोकोक्ति को कितने सुन्दर ढंग से संस्कृत में अनूदित कर दिया है—

गिरिं निखायाऽऽखुरलम्भि यत्त्वया ॥२६।२६॥

अन्य ग्रन्थों के भावों की छाया—'दयानन्द-दिग्विजय' के कतिपय पद्य संस्कृत के विभिन्न कवियों के पद्यों तथा वेद उपनिषदादि शास्त्रों के वाक्यों से प्रभावित हैं। ऐसे समान भाव रखने वाले पद्यों का तुलनात्मक अध्ययन हमारे लिए मनोरञ्जक हो सकता है। महाकवि कालिदास ने रघुवंशी राजाओं के चरित्राङ्कन के गुरुतापूर्ण कार्य तथा अपनी अल्प-शक्ति का उल्लेख करते हुए लिखा—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥रघुवंश १।२॥

इसी प्रकार मेधाव्रताचार्य भी स्वामी दयानन्द के महान् चरित्र के गौरव तथा अपनी अल्प बुद्धि का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

महात्मनां ब्रह्मविदां तपोजुषां
क्व सिन्धुगम्भीरचरित्रमुन्नतम्।
तरङ्गिणीसन्तरणैकहेतुका
क्व चाल्पनौकेव मदीयशेमुषी ॥१।४॥

कहां तो ब्रह्मज्ञानी, तपस्वी, महात्माओं का समुद्र के समान गहन और हिमालय के समान ऊंचा चरित्र ? और कहां केवल मात्र नदी को पार कराने वाली छोटी नौका की तरह मेरी अल्प मति ?

उपनिषत्कालीन राजा अश्वपति की "न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो

न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः"[1] वाली उक्ति को कवि ने निम्न प्रकार पद्यबद्ध किया है—

प्रागम्ब सोऽश्वपतिभूपतिरात्मराज्ये
स्तेयं न मे जनपदे न कदर्यतास्ति ।
नाधार्मिकोऽपि जन एवमवेक्ष्यतां तद्
दर्पं चकार पुरतो विदुषामृषीणाम् ॥११।५६॥

यजुर्वेद के प्रसिद्ध मन्त्र "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं"[2] को कवि ने निम्न पद्य में स्फुट किया है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
अत्येति मृत्युं तमयं विदित्वा
नान्योऽस्ति पन्था अयनाय तस्मात् ॥१४।१३४॥

गीता की प्रसिद्ध उक्ति 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'[3] को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

हेयो भयेन मरणस्य सुखैकहेतुः
श्रेयस्करी मृतिरियं हि नृणां स्वधर्मे ॥१५।६३॥

मनुस्मृति के 'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः'[4] इस कथन को निम्न पद्य में व्याख्यात किया गया है—

भद्रा निहन्ति निहतो ननु धर्म एव
संरक्षितोऽथ खलु रक्षति रक्षकं सः ।
हन्तव्य एष न ततो मनुजैः स्वधर्मो
मा नोऽवधीद् विनिहतो मनुजं स धर्मः ॥१५।६४॥

ऊपरि विवेचित महाकाव्यों के अतिरिक्त महर्षि दयानन्द के जीवन को लेकर कतिपय अन्य महाकाव्य भी लिखे गए हैं। यथा—

दयानन्दोदय—इस महाकाव्य की रचना गुरुकुल वृन्दावन के स्नातक **आचार्य द्विजेन्द्रनाथ** सिद्धान्तशिरोमणि, विद्यामार्त्तण्ड ने की है। इसमें स्वामीजी

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ५।११।५॥
२. यजुर्वेद ३१।१८॥
३. श्रीमद्भगवद्गीता ३।३५॥
४. मनुस्मृति ८।१५॥

के जीवनवृत्त को कवि ने काव्यबद्ध किया है। महाकाव्य के नायक स्वामी दयानन्द के अपूर्व व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

पाखण्डिनां खण्डनकेसरीन्द्रो
गीर्वाणवाङ्मण्डितमण्डनञ्च ।
आखण्डलः पण्डितमण्डलस्य
मार्त्तण्डवच्चारुरुचा बभासे ॥[1]

पाखण्डियों के खण्डन में सिंह के समान पराक्रमी, संस्कृत विशेषज्ञों में अलंकार के समान, देदीप्यमान पण्डितमण्डली में इन्द्र के समान मानो सूर्य की भांति वह अपनी प्रखर ज्ञान किरणों से चमकता था।

दयानन्द-चरित—आर्यसमाज कलकत्ता के आचार्य **पं० रमाकान्त** शास्त्री ने २० सर्गों में दयानन्द-चरित महाकाव्य लिखा है। इसके प्रथम और तृतीय सर्ग आर्यसंसार मासिकपत्र[2] में प्रकाशित हो चुके हैं। शेष भाग अभी अप्रकाशित हैं। जन्मोदय नामक प्रथम सर्ग १०४ श्लोकयुक्त है, जिसमें वंशस्थ, इन्द्रवंशा और उपजाति छन्द प्रयुक्त हुए हैं। गुरूदय नामक द्वितीय सर्ग ११२ छन्दों में लिखा गया है। ज्ञानोदय शीर्षक तृतीय सर्ग में १०४ छन्द हैं। यह महाकाव्य सुललित भाषा और प्राञ्जल शैली में लिखा गया है। शिवरात्रि के अवसर पर टंकारा स्थित शिवमन्दिर में विद्यमान बालक मूलशंकर का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

विभावरीभावितपूर्णनीरवे
पूर्णे निशीथे ननु शैवमन्दिरे ।
द्वे ज्योतिषी तत्र विरेजतुः प्रिये
स्निग्धः प्रदीपः स च मूलशंकरः ॥[3]

निशा का अन्धकार छा गया, नीरवता का पूर्ण साम्राज्य है। इस समय शिवमन्दिर में दो प्रिय दीप्र जल रहे हैं, एक तैलयुक्त दीपक और दूसरा ज्ञान की आभा से उद्भासित मूलशंकर का हृदय दीपक।

स्वामी दयानन्द के चरित को लक्ष्य बनाकर लिखे गए उक्त महाकाव्यों से निश्चय ही संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है।

---

१. 'महर्षिदयानन्दस्य प्रादुर्भाववृत्तम्' शीर्षक से महाकाव्य का एक अंश गंगाप्रसाद उपाध्याय अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ।

२. आर्यसंसार कलकत्ता के वार्षिक विशेषांक-१९६६ तथा १९६७।

३. प्रथम सर्ग का ६०वां श्लोक।

[२] चरित-काव्य

महाकाव्यों का विश्लेषण करने के पश्चात् हम आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा निर्मित चरित-काव्यों का विवेचन करेंगे। चरित-काव्यों से हमारा तात्पर्य उन काव्य-कृतियों से है जो किसी महापुरुष का चरित अङ्कित करती हैं, परन्तु जिनमें महाकाव्योचित भव्यता, विशदता तथा विस्तार का अभाव होता है। आर्यसमाज के नेताओं और महात्माओं के चरित प्रस्तुत करते हुए इस प्रकार के कई काव्य लिखे गए हैं। आचार्य मेधाव्रत रचित 'ब्रह्मर्षि विरजानन्दचरित' और 'नारायणस्वामिचरित' (महात्ममहिममणि-मंजूषा) ऐसे ही काव्य हैं।

ब्रह्मर्षि विरजानन्द-चरित—

स्वामी दयानन्द के शिक्षा-गुरु, अप्रतिम वैयाकरण, प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी विरजानन्द के चरित को लेकर इस काव्य की रचना की गई। दस सर्गों में समाप्त इस काव्य की पद्य संख्या ४२४ है।[१] कवि ने इस काव्य की रचना आश्विन २००९ वि० में आचार्य भगवान्देव सञ्चालित गुरुकुल झज्जर के शान्त एकान्त स्थल में की। कवि ने स्वयं लिखा है—

> आर्षादर्शसुशिक्षणे गुरुकुले श्रीझज्जरे पावने,
> शान्तैकान्तनिवासगेहरुचिरे वर्णीन्द्रवृन्दाञ्चिते।
> ब्रह्मर्षेर्विमलं चरित्रमतुलं काव्यात्मना गुम्फितं
> सानन्दं मयका व्रतीन्द्रभगवद्देवेन सञ्चालिते॥

ब्रह्मचारी वेदव्रत भाष्याचार्य लिखित हिन्दी टीका युक्त इस काव्य का प्रकाशन २०१२ वि० में विश्वम्भर वैदिक पुस्तकालय, गुरुकुल झज्जर से हुआ।

काव्य का सामान्य परिचय—प्रथम सर्ग में कवि मंगलाचरण के पश्चात् पितृ-वन्दना और गुरु-वन्दना करता है। तत्पश्चात् चरित-नायक की महिमा में कतिपय श्लोक लिखे हैं। कवि की दृष्टि में स्वामी विरजानन्द—

> अम्भोधिरिवगम्भीरो गिरीन्द्र इव निश्चलः।
> तेजस्वी हुतभुग् योऽभूद् वैराग्यार्चिप्रदीपितः॥१।१३॥

सागर के तुल्य गम्भीर, गिरिराज हिमालय के सदृश निश्चल तथा वैराग्यरूपी अग्नि से प्रदीप्त हुए मानो अग्नि तुल्य तेजस्वी हो रहे थे। इस

---

१. वेदलोचनवेदसम्मितपद्ययुतकाव्यं कृतम्—टीकाकार का प्राक्कथन।

सर्ग में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है। उपजाति छन्द में लिखा गया द्वितीय सर्ग स्वामी विरजानन्द के बाल्यकाल, गृहत्याग तथा तपश्चर्या का विवरण प्रस्तुत करता है। तृतीय सर्ग में स्वामी विरजानन्द द्वारा संन्यास-ग्रहण, विद्या-पठनार्थ काश्यादि नगरों में भ्रमण का वृत्तान्त उपनिवद्ध हुआ है। अनुष्टुप् वृत्त में लिखित चतुर्थ सर्ग नायक के अलवर-निवास का वर्णन उपस्थित करता है। पञ्चम सर्ग में नायक द्वारा मथुरा में पाठशाला-संस्थापन तथा कृष्ण शास्त्री से शास्त्रार्थ का प्रसंग उपस्थित हुआ है। वंशस्थ वृत्त में लिखा गया छठा सर्ग अष्टाध्यायी के प्रचार में स्वामी विरजानन्द के कृतसंकल्प होने तथा आर्ष ग्रन्थों के प्रचार की योजना राजाओं के सम्मुख प्रस्तावित करने के सम्बन्ध में है। सप्तम सर्ग उपजाति वृत्त में लिखा गया है। विरजानन्द की पाठशाला में स्वामी दयानन्द का शिष्य बनकर आगमन इस सर्ग का प्रतिपाद्य है। अष्टम सर्ग में स्वामी दयानन्द की शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् वेदधर्म-प्रचारार्थ स्वजीवन अर्पित किये जाने का महत्त्वपूर्ण दीक्षान्त-व्रत की घटना वर्णित हुई है। शिख-रिणी छन्द में लिखे गए नवम सर्ग में स्वामी विरजानन्द के कतिपय अन्य शास्त्रार्थों का वर्णन हुआ है। अन्तिम सर्ग में चरित-नायक के लीला-संवरण की घटना का वर्णन किया गया है। यह सर्ग प्रणव, ललित, अवितथ, वृन्दा, वर्द्धमान, विद्युन्माला आदि विविध छन्दों में रचा गया है।

आलोच्य काव्य का कलापक्ष—काव्य की भाषा सरल, प्रसादगुण-युक्त है।

एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

> राजा भवान् विविधराज्यसुकर्मलग्नस्
> त्यागी त्वहं पठन-पाठन-कार्यमग्नः ।
> तच्छ्रीमता सममहं तु कथं चलेयं
> श्रुत्वेति साधु वचनं नृपतिः स खिन्नः ॥३।७॥

कहीं-कहीं भाषा में श्लेषगुण भी पाया जाता है—

> सत्यं वेद सुसम्मतं मतमयं सम्मन्यमानोऽतुलं
> शास्त्रज्ञानसमुद्रगाहनशुचि-प्रज्ञाधनाढ्योऽनिशम् ।
> शास्त्रार्थप्रधने प्रकाण्डविबुधाञ्जित्वाऽद्भुतप्रज्ञया
> प्रज्ञालोचनदीप्तिमान् विजयते संन्यासिसम्राड्भुवि ॥
> ६।२७॥

अलंकार योजना की दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होता है कि कवि ने अनुप्रास, यमक, रूपक आदि प्रचलित अलंकारों का प्रयोग कर काव्य में सौन्दर्य वृद्धि की है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

अनुप्रास का प्रयोग—

पञ्चाननः पञ्चनदे प्रजातः
प्रजापतिः श्रीरणजेतृसिंहः ॥२।२॥
अमन्दमानन्दमविन्दतात्मनि
प्रकर्षतामार्षकृतेरबोध्यलम् ॥६।३॥
दण्डीन्द्रदण्डेन स दण्डितोऽयं
प्रचण्डदोर्दण्डदयालुदेवः ॥८।३६॥

रूपक का निम्न उदाहरण भी अत्यन्त सुन्दर है—

यदीयजिह्वाङ्गणरङ्गभूमौ
समग्रशास्त्रार्थपटीयसी सा।
सरस्वतीसुन्दरनर्त्तकीव
विद्वन्मनो नन्दयति स्म लास्यैः ॥७।३॥

जिह्वारूपी रंगभूमि पर सरस्वती नर्तकी का लास्य नृत्य विद्वानों तथा सामाजिकों का यथार्थ में ही रंजन करता है।

काव्य में यत्र-तत्र सूक्तियों का प्रयोग भी दर्शनीय है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

'सत्पात्रदत्ता फलतीह विद्या ॥८।६०।

सत्पात्र को दी हुई विद्या ही सफल होती है।

महात्ममहिममणिमञ्जूषा—मेधाव्रताचार्य रचित द्वितीय चरित-काव्य आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध संन्यासी और नेता महात्मा नारायण स्वामी के चरित का वर्णन प्रस्तुत करता है। कवि मेधाव्रत जिस समय गुरुकुल वृन्दावन में अध्ययन कर रहे थे, उस समय महात्मा नारायण स्वामी (जिनका उस समय का नाम मुन्शी नारायणप्रसाद था) गुरुकुल के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता थे। अपने इन्हीं गुरु और आचार्य के महिमामय चरित्र को चिरस्थायी बनाने के लिए कवि ने 'महात्ममहिममणि-मञ्जूषा' नामक यह काव्य १२ अलंकारों (सर्गों) में लिखा।[1] इसकी समस्त श्लोक संख्या ३०० है।[2]

काव्य का सामान्य परिचय—प्रथम अलंकार में चरित-नायक की

---

१. महात्मगुणमञ्जूषा द्वादशालंकृतिप्रभा।
दर्शनाय जगन्नृणां शिष्येणोद्घाटिता मया॥

२. शतत्रयमिताः श्लोकाः लोकशोकविमुक्तये।
तरङ्गा इव गंगाया उत्तमाङ्गान्ममोद्गताः॥ ग्रन्थान्त का श्लोक॥

गुणावली वर्णित की गई है। द्वितीय अलंकार में बालशिक्षा, तृतीय में आर्य-दीक्षा, चतुर्थ में शिवसंकल्प तथा पांचवें में नायक के गृहस्थ जीवन-यापन करने का वर्णन है। षष्ठ अलंकार से महात्मा नारायण स्वामी के सार्वजनिक जीवन का आरम्भ होता है। इसमें उनकी गुरुकुल सेवा का वर्णन है। सप्तम अलंकार में योगाभ्यास वर्णन तथा अष्टम अलंकार में स्वामी दयानन्द की जन्मशताब्दी के वृत्तान्त का वर्णन है। नवम अलंकार में महात्मा नारायण स्वामी द्वारा की गई समाज सेवा का उल्लेख है। इस सर्ग के अधिकांश पद्य यमक अलंकारयुक्त हैं। दशम अलंकार में नारायण स्वामी द्वारा हैदराबाद के आर्यसत्याग्रह के संचालन का वर्णन हुआ है तथा ग्यारहवें अलंकार में सिन्ध में सत्यार्थप्रकाश पर लगाये गए मुस्लिमलीगी सरकार के प्रतिबन्धविषयक प्रतिरोधात्मक सत्याग्रह में किये गए उनके नेतृत्व का वर्णन है। अन्तिम 'स्वर्ग-गमन' नामक अलंकार चरित-नायक के अन्तिम कार्यों तथा दिवंगत होने की घटना का चित्रण करता है। इस प्रकार ३०० पद्यों के लघुकलेवर में निबद्ध यह चरित-काव्य आर्यसमाज के एक महान् नेता के व्यक्तित्व और कृतित्व का अभूतपूर्व आकलन है।

कला-पक्ष—'नारायणस्वामिचरित' काव्य में वसन्ततिलका, उप-जाति, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, मालिनी, द्रुतविलम्बित, स्रग्धरा, वैतालीय, वंशस्थ आदि विविध वर्णिक छन्दों का प्रयोग हुआ है। भाषा सरस, मधुर और प्रसादगुण-युक्त है। अलंकार का विधान काव्य सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक हुआ है। नव अलंकार में यमक का प्रयोग दर्शनीय है। प्रत्येक पद्य के चतुर्थ चरण में यमक का अनिवार्य प्रयोग प्रशंसनीय है। निम्न उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा—

जनतया नतयाऽयमलं स्तुतः ॥९।१॥
सहृदयैर्हृदयैरभिनन्दितः ॥९।२॥
सुमनसो मनसोऽतिविशालता ॥९।३॥
नियमिना यमिनाऽतुलजीवनम् ॥९।४॥ आदि।

काव्य में यत्र-तत्र सुन्दर सूक्तियां भी आ गई हैं जिनसे काव्य गुणों में निश्चित रूप से वृद्धि ही हुई है। सूक्तियों का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

तीव्रः प्रयत्न इह संफलति ध्रुवं नु ॥८।३१॥

इस संसार में मनुष्य का तीव्र पुरुषार्थ अवश्य फलता है।

चरित-नायक की प्रशंसा में लिखी गई 'कुसुमकुलिशकल्पं हृन्मृदूग्रं

धुवन्ते' (६।३६) उक्ति भवभूति की **'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि'**[1] का स्मरण दिलाती है।

चरितकाव्यों में ही हम गुरुकुल कांगड़ी के प्रतिष्ठित स्नातक **धर्मदेव विद्यामार्तण्ड** के 'महापुरुषकीर्तन' तथा 'महिलामणिकीर्तन' इन काव्यों का भी उल्लेख कर सकते हैं। इन काव्यों में कवि ने किसी एक ही महापुरुष को अपना वर्ण्य विषय न बनाकर देशदेशान्तरों के अनेक महापुरुषों और देवियों को काव्य-प्रशस्ति प्रदान की है। हम क्रमशः इन दोनों काव्यों की आलोचना करेंगे।

महापुरुष-कीर्तन—जैसा कि नाम से ही विदित होता है 'महापुरुष-कीर्तन' में संसार के महापुरुषों का गौरव कीर्तन किया गया है। यह काव्य सात काण्डों में विभक्त है। प्रथम काण्ड में देवेशमहिमा, देवेशस्तवः के रूप में मंगलाचरण तथा 'आनन्दसाम्राज्यम्' और 'कुतो न हसेयम्' शीर्षक दो अन्य कवितायें भी संगृहीत हैं। इसी काण्ड में पुरुषोत्तम श्रीराम तथा योगेश्वर श्रीकृष्ण विषयक प्रकरण भी सम्मिलित किये गए हैं। अन्य काण्डों में क्रमशः महात्मवर्ग में महात्मा बुद्ध, स्वामी रामानन्द, महात्मा कबीर आदि, विश्रुत विद्वद्वर्ग में कविमूर्धन्य वाल्मीकि, महामुनि वेदव्यास, कविशिरोमणि कालिदास आदि, समाजसंशोधक-वर्ग में तिरुवल्लुवर, बसवेश्वर, राजा राममोहन राय आदि, वीर-वर्ग में महाप्रतापी विक्रमादित्य, सम्राट् अशोक आदि, राष्ट्रनायक-वर्ग में दादाभाई नौरोजी, बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय आदि तथा अन्तिम 'विदेशस्थमहापुरुषाः' शीर्षक काण्ड में सुकरात, मसीह, लूथर आदि महापुरुषों के चारित्रिक गुणों का सुगम और सरल संस्कृत पद्यों में वर्णन किया गया है।

कवि की विचारधारा अत्यन्त उदार और उसकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक है, यह इसी बात से सिद्ध होता है कि देश, काल, धर्म, सम्प्रदाय और वर्ग गत सकीर्णताओं से ऊपर उठकर कवि ने उन सभी महाप्राण महापुरुषों के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है, जिनसे येन-केन प्रकारेण मानवता लाभान्वित हुई है। इस दृष्टि से जहां उसने समाजसंशोधक-वर्ग में राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि बंगदेशोत्पन्न समाज-सुधारकों के क्रिया-कलापों को अपना वर्ण्य विषय बनाया है, वहां वह दाक्षिणात्य—तिरुवल्लुवर और बसवेश्वर आदि तमिल और तेलुगु भाषी प्रान्तों में उत्पन्न सुधारकों को भी विस्मृत नहीं किया। स्वदेशोत्पन्न महापुरुषों के साथ-साथ विदेशों के दार्शनिकों, धर्म-संशोधकों, वैज्ञानिकों, राजनीति-विशारदों तथा

---

१. उत्तररामचरित नाटक में रामविषयक उक्ति।

लेखकों के प्रति भी वह एक-सी भावभीनी भाषा में अपनी श्रद्धा के उद्‌गार व्यक्त करता है।

इस काव्य की प्रमुख विशेषता भाषा की सरलता, सुगमता, सरसता तथा बोधगम्यता है। अत्यधिक सरल संस्कृत भाषा में किस प्रकार प्रसादगुण कविता लिखी जा सकती है, यह इस काव्य से सिद्ध होता है। कवि ने मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी आदि काव्य सौष्ठव वृद्धि करने वाले छन्दों का प्रयोग कर अपनी रचना को और भी सुन्दर बना दिया है। भाषा की प्रासादिकता और समासरहित शब्दावली का उदाहरण निम्न पद्य से दिया जा सकता है—

दयालुः सर्वज्ञः सकलमनुजानां स हि पिता
सखासौ भक्तानां निखिलसुखदात्री च जननी।
यमेकं ध्यायन्ति ध्रुवसुखमवाप्तुं मुनिजनाः
दिशेयं देवेशं कुत इह न सत्तो दिशिदिशि ?
प्रथम काण्ड १२॥

भाषा की सौन्दर्यवृद्धि और शाब्दिक चमत्कार उत्पन्न करने की दृष्टि से कवि ने यत्र-तत्र अनुप्रासादि अलंकारों का भी प्रयोग किया है। 'न कुतो हसेयम्' इस कविता का निम्न पद्य इसका सुन्दर उदाहरण है—

गङ्गा तरङ्गा विहसन्त्यभङ्गा
इमे हिमाद्रेरपि तुङ्गशृङ्गाः।
भृङ्गा कुरङ्गास्तुरगा विहङ्गाः
आनन्दमग्नो न कुतो हसेयम् ॥ प्रथम काण्ड १४॥

महिलामणि-कीर्तन—१९६३ ई० में प्रकाशित पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड का एक अन्य ग्रन्थ है जिसमें भारत तथा अन्य देशों की विख्यात महिलाओं के प्रति भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गई है। सम्पूर्ण ग्रन्थ सात काण्डों में विभक्त है। प्रथम पतिव्रता-वर्ग में सीता, अरुन्धती, अनुसूया, दमयन्ती, सावित्री आदि सती स्त्रियों के चरित्र को निबद्ध किया गया है। द्वितीय काण्ड का शीर्षक है आदर्शमातृ-वर्ग। इसमें ध्रुवमाता सुनीति, सुमित्रा, कुन्ती, विदुला आदि आदर्श माताओं का चित्रण किया गया है। तृतीय काण्ड विख्यात विदुषी-वर्ग से सम्बन्ध रखता है। इसमें ब्रह्मवादिनी, सुलभा, मैत्रेयी, गार्गी, भारती आदि प्रख्यात शास्त्रज्ञ महिलाओं के प्रति कवि ने अपने भाव व्यक्त किए हैं। चतुर्थ काण्ड में वीरता और पराक्रम आदि गुणों से विभूषित महिलाओं के चरित्र निबद्ध किए गए हैं जिनमें रानी दुर्गावती, चांदबीबी, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई आदि मुख्य हैं। पञ्चम काण्ड में देशभक्त नारियों

के प्रति कवि अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि व्यक्त करता है। इनमें पन्ना धाय, मैडम कामा, सरोजिनी नायडू आदि मुख्य हैं। षष्ठ काण्ड कवयित्रियों तथा ईश्वर-भक्त महिलाओं से सम्बद्ध है, जिनमें संस्कृत भाषा की कवयित्रियां—विजयाङ्का, विज्जका आदि तथा हिन्दी की प्रमुख कवयित्रियां—सुभद्राकुमारी चौहान, मीराबाई आदि मुख्य हैं।

कवि की उदार दृष्टि केवल भारतीय महिलारत्नों तक ही सीमित न रहकर विख्यात विदेशीय महिला वर्ग के प्रति भी आकृष्ट हुई है। अतः सप्तम काण्ड में कवि ने जान आफ आर्क, फ्लौरेन्स नाइटिंगेल, श्रीमती ऐनीबेसेन्ट, मैडम क्यूरी, भगिनी निवेदिता आदि विभिन्न कार्यक्षेत्रों में ख्याति अर्जित करने वाली महिलाओं को भी अपने काव्य का विषय बनाया है। सरस छन्दों और सरल, प्रसादगुण-युक्त भाषा में निर्मित यह काव्य वस्तुतः अनूठा है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में लेखक ने १६ श्लोकों में ग्रन्थ रचना का प्रयोजन बताते हुए लिखा है कि आज यद्यपि स्त्री-शिक्षा का तो प्रचलन है, तथापि चारित्रिक-शिक्षा तथा धर्म-शिक्षा के अभाव में छात्राओं का जीवन निरंकुश, मर्यादारहित तथा स्वच्छन्द होता जा रहा है। अंग्रेजी शिक्षा की प्रधानता और संस्कृत की उपेक्षा से न केवल वेष-भूषा में अपितु विचारों में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहा है। प्राचीन संस्कृति का ज्ञान सम्पादित करने की ओर किसी की प्रवृत्ति नहीं है, परन्तु पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करने में सभी तत्पर हैं। इस हीन दशा को दूर करने हेतु तथा शिक्षित स्त्रियों में उच्चादर्शों की प्रतिष्ठा हेतु यह काव्य लिखा गया है।

कवि ने न केवल चरितनायिका महिलाओं के चरित्रगत आदर्शों का ही प्रोज्ज्वल चित्र अङ्कित किया है, अपितु कहीं-कहीं उनके जीवन की शिक्षा-प्रदायिनी, प्रभाव-शालिनी घटनाओं को भी चित्रित किया है। कवि की भाषा में विशेष प्रभावोत्पादकता, सरसता तथा प्रवाह है। झांसी की रानी का एक शब्द चित्र देखिए—

> अश्वारूढामसियुतकरां भानुवद् भासमानां
> कन्यां शिश्वीं भयविरहितां पृष्ठभागे वहन्तीम्।
> प्राणाहुत्या रुचितवपुषो मातरं पूजयन्तीं
> लक्ष्मीदेवीं धवलयशसं सादरं तां नमामः॥ पृ० १६३॥

निश्चय ही कवि में अपने प्रतिपाद्य विषय का निरूपण करने की क्षमता है। रानी लक्ष्मीबाई की अक्षय-कीर्ति का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

यावल्लोके शशिदिनकरौ यावदास्ते च गङ्गा,
यावत्तुङ्गा अतिहिमवृताः पर्वताः सिन्धवश्च ।
तावन्नूनं बहुबलवतीं वीरतादर्शभूतां
लक्ष्मीदेवीं प्रथितयशसं कीर्तयिष्यन्ति वीराः ।।
पृ० १६३।।

आनुप्रासिक शब्दावली का प्रयोग करते हुए कवि ने अहल्याबाई के राज्य का वर्णन निम्न पद्य में चमत्कारपूर्ण शैली में किया है—

राज्ये तदीये सकलाः प्रहृष्टाः
प्रजा न दुष्टाः क्वचिदेव दृष्टाः ।
पुष्टाः पुमांसो महिला अदृष्टाः
सर्वा अरिष्टा निजकर्मजुष्टाः ।। पृ० १६०।।

लाजपत-तरङ्गिणी—प्राध्यापक हरिश्चन्द्र रेणापुरकर ने प्रसिद्ध देशभक्त और आर्यसमाज के नेता लाला लाजपतराय को लेकर 'लाजपततरङ्गिणी' नामक १०० श्लोकों का एक काव्य लालाजी की जन्मशताब्दी के अवसर पर लिखा ।

[३] ऐतिहासिक-काव्य

संस्कृत में कल्हण रचित राजतरङ्गिणी तथा बिल्हण रचित 'विक्रमाङ्कदेव चरित' जैसे अनेक काव्य मिलते हैं जो ऐतिहासिक काव्य कहे जा सकते हैं । इन काव्यों में चरित-नायक राजाओं के राज्यप्रशासन, प्रजापालन, दान, युद्ध, लोकोपकार जैसे कार्यों का विस्तृत तथा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन रहता है । आर्यसमाज के क्षेत्र में भी कुछ ऐसे काव्य लिखे गए हैं जिन्हें विस्तृत अर्थ में 'ऐतिहासिक काव्य' की संज्ञा प्रदान की जा सकती है । यहां हम ऐसे तीन काव्यों का विवेचन करेंगे । ये हैं—

(१) यमुनादत्त षट् शास्त्री लिखित वीरतरङ्गरङ्ग ।
(२) गंगाप्रसाद उपाध्याय लिखित आर्योदय काव्य ।
(३) इन्द्र विद्यावाचस्पति लिखित भारतैतिह्य ।

(१) यमुनादत्त लिखित वीरतरङ्गरङ्ग—सर्वप्रथम हम 'वीरतरङ्गरङ्ग' को लेते हैं । शाहपुरा नरेश स्व० नाहरसिंह के राजपण्डित षट्-शास्त्री यमुनादत्त ने इस काव्य की रचना की है । शाहपुराधीश सर नाहरसिंह स्वामी दयानन्द के भक्त और अनुयायी तथा उनके द्वारा स्थापित परोपकारिणी सभा के सभासद भी थे । आलोच्य काव्य में शाहपुरा के राजवंश की स्थापना

से लेकर तत्कालीन शासक तक का इतिवृत्त काव्यवद्ध किया गया है। राजपूत रजवाड़ों में राजाओं के आश्रय में रहकर संस्कृत के विद्वानों और पण्डितों ने जो संस्कृत-साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि की है, यह काव्य उसका ज्वलन्त उदाहरण है। 'वीरतरङ्गरङ्ग' के प्रणेता पं० यमुनादत्त आर्यसमाज की विचार-धारा के अनुयायी थे और करौली नरेश के राजपण्डित पं० चन्द्रशेखर शास्त्री से 'वेदसंज्ञाविमर्श' विषय पर पत्र-व्यवहार के माध्यम से उनका लिखित संस्कृत शास्त्रार्थ भी हुआ था।

शाहपुरा के राजगुरु द्वारा प्रणीत यह काव्य राजाधिराज नाहरसिंह द्वारा अपने राज्य के उम्मेदसागर नामक बांध के तट पर शिलालेख के रूप में बंधवा दिया गया था।[1] 'वीरतरङ्गरङ्ग' पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्द्ध में १३८ और उत्तरार्द्ध में ८६ श्लोक हैं। काव्य के प्रारम्भ में क्षत्रिय जाति की उत्पत्ति, मेवाड़ में गुहिलोत वंश के सीसोदिया-राज्य की स्थापना, मुगल शासनकाल में मेवाड़ के एक सामन्त सुजानसिंह द्वारा शाहपुरा राज्य की स्थापना, शाहपुरा के नरेशों के राज्यकाल की प्रमुख घटनायें तथा इन शासकों द्वारा किये गए युद्धों, भवन-निर्माण, प्रजापालन तथा दानादि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

ग्रन्थ का उत्तरार्द्ध शाहपुरा नरेश नाहरसिंहजी के राज्यारोहण के वर्णन से आरम्भ होता है। इस प्रसंग में आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द का शाहपुरा आगमन, नरेश के अतिथि के रूप में रहते हुए वेदभाष्य-प्रणयन, नरेश को वेदोपदेश देने आदि का वर्णन किया गया है। स्वामी दयानन्द विषयक इस काव्य के प्रासङ्गिक श्लोक निम्न हैं—

उदैद् दयानन्दमहर्षिराप्तो
वेदार्थविज्ञानसहस्ररश्मिः।
संस्थापितो येन समाज-आर्य्य-
धर्म्मप्रचाराय परोपकृत्यै ॥ उ० ७॥

उन्हीं दिनों में महामान्य महर्षि दयानन्द सरस्वती वेदार्थ-विज्ञान के सूर्यवत् उदय हुए। इस महात्मा ने आर्यधर्म का प्रचार और लोकोपकार के लिए आर्यसमाज स्थापित किया।

---

१. सेयं प्रशस्तिरवनीशचरितचारू—
उम्मेदसागरतटोपरिविस्फुरन्ती।
आसृष्टिदिव्यचरटामिववैजयन्ती
लोके प्रचारयतु नाहरसिंहकीर्तिम् ॥ उ० ८४॥

पाखण्डिदुर्वादरजोऽभिभूतं
वेदार्थरत्नं परिमाष्टुं कामः ।
गीर्वाणवाण्यामथ चार्य्यवाण्यां,
चकार भाष्यं विविधच्छ्रुतीनाम् ॥उ०८॥

पाखण्डियों के दुर्वादरूपी धूलिपटल से प्रच्छन्न वेदार्थरूपी रत्न को अपनी वाणी से निर्मल करने के लिए उन्होंने वेदों का संस्कृत और आर्यभाषा (हिन्दी) में भाष्य बनाया ।

निमन्त्रितोऽनन नृपेण सोऽयं
समागमज्ज्ञानधनो यतीन्द्रः ।
व्याख्यानकालेऽभवदस्य जिह्वा
सरस्वतीनर्त्तनरङ्गभूमिः ॥ पृ० ६॥

तब इन राजाधिराज ने विज्ञान ही है धन जिनका, ऐसे यतीन्द्र दयानन्द सरस्वती को बुलाने का निमन्त्रण उनकी सेवा में भेजा । तदनुकूल (फाल्गुन कृष्णा अमावस्या १६३६ वि०) स्वामीजी शाहपुरा पधारे और इनके व्याख्यान निरन्तर होने लगे, जिसमें स्वामीजी की जिह्वारूपी रङ्गभूमि पर सरस्वती नाचती रही ।

सतां प्रियेऽस्मिन्प्रणिधाय पात्रे
तत्त्वं श्रुतीनामभवत्प्रसन्नः ।
जगद्गुरुं तं परिपूज्य चाऽयं,
विनिश्चितार्थोऽभवदाऽऽहिताग्निः ॥ उ० १०॥

इन व्याख्यानों से सदुपदेशों को ग्रहण कर लेने वाले इन राजाधिराज-रूपी सत्पात्र में वेदों के तत्त्वों को भर कर स्वामीजी प्रसन्न हुए और राजाधिराज भी स्वामीजी के परामर्श से वेदार्थ का निश्चय कर तत्काल अग्निहोत्री वन गये ।

उत्तरार्द्ध के शेष भाग में काव्य के चरित-नायक राजाधिराज नाहरसिंह द्वारा किये गए प्रजापालन के कार्यों का वर्णन किया गया है । ग्रथान्त के श्लोकों में नरेश के परिवार का वर्णन करने के पश्चात् कवि ने अपनी वंशलता का भी विस्तृत उल्लेख[1] किया है तथा अपना परिचय भी दिया

१. नृपाज्ञयैतद् रचितं चरित्रं
सूर्याऽन्वयाब्धेर्विततोर्म्मिरङ्गम् ।
मद्वंशवल्ली जलधेरमुष्य
तटं बिभर्त्तीव निदर्श्यतेऽत्र ॥ उ० ३१॥

है।[1] काव्य की समाप्ति की तिथि का उल्लेख करते हुए यह काव्य समाप्त हुआ है।[2]

आलोच्य काव्य का कलापक्ष—मध्यकालीन राजपूत की सामन्तकालीन संस्कृति के चित्रण की दृष्टि से इस काव्य को विशिष्ट महत्त्व दिया जा सकता है। राजपूत नरेशों के शौर्य, वीर्य, बल और पराक्रम का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन इस काव्य की विशेषता है। वीरतरङ्गरङ्ग के कवि ने युद्धों का बड़ा मार्मिक और प्रभावशाली वर्णन किया है। युद्ध-वर्णन में जैसी ओजगुणयुक्त भाषा की आवश्यकता होती है, उसका एक उदाहरण निम्न पद्य में देखा जा सकता है—

विपक्षसेनाचरशुण्डिशुण्डा-
दण्डावलीखण्डनकृत्कृपाणे।
अकाण्डमामोदत मुण्डमाली
सिप्राऽभवच्छोणितवाहिनी च ॥ पू० ८॥

जब विपक्षी की सेना के हाथियों की सूंडों का खण्डन करने वाला नायक (राजा उम्मेदसिंह) का खड्ग चलने लगा तो मुण्डमाली शंकर ने अकाण्डताण्डव के साथ अट्टहास किया और सिप्रा नदी रक्तवाहिनी हो गई।

सामन्तकालीन युद्ध वर्णन के साथ-साथ काव्य के उत्तरार्द्ध में प्रथम विश्व महायुद्ध का भी वर्णन हुआ है—

संदीप्ते समराग्निना च भुवने वज्राभिपातैर्यदा
वीराऽऽह्वानरवैर्न किं समभवच्छेषस्य धैर्यच्युतिः।
त्यक्त्वा युद्धभुवं स जर्म्मनपतिर्दूरं गतः केसरः
सम्प्राप्तद्विजयश्रियं रणपटुर्जार्ज्जो बली पञ्चमः ॥
उ० ५१॥

---

1. श्रीमन्नाहरसिंहभूपतिलकादुत्तीर्णविद्यार्णवा-
लब्ध्वा काञ्चनकङ्कणद्वयमथाऽस्यैवाऽऽत्मजं सानुजम्।
उम्मेदं विधिवत्प्रपाठ्य गजयुङ् मुद्रासहस्रार्चितो
गोचन्द्राङ्कधराऽब्द (१९१९) जन्मयमुनादत्तोऽस्म्यहं काव्यकृत्॥
उ० ८१॥

2. चन्द्रेभगोभू (१९८१) मित काव्यवर्षजन्मा-
ऽष्टम्यामिदं काव्यमगात् समाप्तिम्।
निशम्य यद्भूपतिरादिशद्द्रै
प्रशस्तिलेखाय महाशिलायाम् ॥ उ० ८५॥
१९८१ वि० की जन्माष्टमी के दिन यह काव्य समाप्त हुआ।

युद्धाग्नि के प्रज्वलित होने पर युद्धास्त्रों से निकले वज्रपात से वीरों द्वारा किये गए युद्ध के आह्वान को सुनकर रण में आये हुए वीरों का धैर्य (अथवा धरामण्डल को धारण करने वाले शेष नाग का धैर्य) क्या समाप्त नहीं हुआ ? ऐसी संकटापन्न अवस्था में जर्मनी का सम्राट् कैसर युद्धभूमि को छोड़कर पलायन कर गया और रणपटु इङ्गलैण्ड नरेश जार्ज पञ्चम की विजय हुई ।

अलंकार प्रयोग की दृष्टि से भी यह काव्य दरिद्र नहीं है । रूपक का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

दिनात्यये यावनशासनस्य
सन्ध्यारुणाऽऽसीदथ दाक्षिणात्यैः ।
प्रमादमान्ध्यं दधतोऽस्य राज्ञो
दोषादिदं ह्रासमवाप राज्यम् ।। पू० ८१।।

जब यवन सम्राट् के शासन का दिन अस्त हुआ और मराठों के आक्रमण रूप संध्या उदय हुई तब प्रमादरूपी अन्धकार को धारण करने वाले (राजा अमरसिंह) के दोष से यह राज्य ह्रास को प्राप्त हुआ ।

काव्य में यत्र-तत्र मनोहर सूक्तियों का भी कवि ने समावेश किया है । मदिरापान के दोषों की चर्चा करते हुए कहा गया है—

प्रभुताज्वरसन्तप्तो निमज्जेन्मदिरारसे ।
वातवच्चलतारुण्ये त्रिदोषी कथमाश्वसेत् ।। पू० ७६।।

वायु के समान चंचल तरुणावस्था में प्रभुतारूपी ज्वर से सन्तप्त होकर यदि मदिरारस में निमज्जन करे तो वह त्रिदोषी कैसे जी सकता है ?

एक अन्य सूक्ति द्रष्टव्य है—

प्रभवति न विकारो मानसे संयतस्य ।। उ० १४ ।।

संयमी पुरुष के मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता ।

(२) गंगाप्रसाद उपाध्याय रचित आर्योदय—आर्यसमाज के लब्ध-प्रतिष्ठ दार्शनिक विद्वान् पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय ने 'आर्योदय' काव्य की रचना की है । यह पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो पृथक्-पृथक् खण्डों में प्रकाशित हुआ है ।[१] पूर्वार्द्ध में दस सर्ग हैं और श्लोक संख्या ५८४ है । उत्तरार्द्ध में ११ सर्गों की श्लोक संख्या ५८२ है । काव्य के परिशिष्ट में कवि ने १३ श्लोकों

---

१. कला प्रेस, प्रयाग से १९५२ ई० में प्रकाशित ।

में आत्मपरिचय दिया है। इस प्रकार काव्य की समग्र श्लोक संख्या ११७९ है।

आर्योदय काव्य में सृष्टि के आरम्भकाल से लेकर भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के काल तक के इतिहास की घटनायें पद्यबद्ध की गई हैं। काव्य रचना करते समय कवि की एक विशिष्ट दृष्टि रही है जिसे उसने उत्तरार्द्ध की अनुभूमिका में व्यक्त किया है। कवि के अनुसार "जिस प्रकार सारे नक्षत्र अजस्र ज्योतिष्मान सूर्य की किरणों से ज्योतिर्मय होते हैं, उसी प्रकार वेद भगवान् से साहित्यिक लोग भी प्रेरणा प्राप्त करते हैं। ऐसा करने से प्राचीन संस्कृति का लोप नहीं होता। वैदिक शब्द, वैदिक उपमा तथा वैदिक शैली का अपना सौन्दर्य है। यह नये विद्वानों के लिए अनुकरणीय भी है। यह प्रयोग वैदिक है, यह लौकिक है, इस प्रकार का भेद भाषा और संस्कृति की उन्नति की दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं है।......अतः इस काव्य में यत्र-तत्र मैंने वैदिक-भाव और वैदिक प्रयोग ग्रहण किए हैं।"[1] कवि ने अपनी इस दृष्टि को सर्वत्र निभाया है।

कवि की प्रस्तावना का मङ्गलश्लोक ही ऋग्वेद के प्रथम मण्डल, प्रथम सूक्त के द्वितीय मन्त्र पर आधारित है, यह निम्न तुलना से स्पष्ट हो जायगा।

मङ्गल श्लोक—

ज्ञानशक्तिक्रियामूलं नित्यं चानित्यकारणम्।
प्रत्नतूतनविद्वद्भिरीड्यमीडे प्रभुं विभुम्॥

ऋग्वेद का मन्त्र—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति॥

अन्य सर्गों में भी वेदमन्त्रों के भावों को ग्रहण करते हुए श्लोक रचना की प्रवृत्ति सर्वत्र पाई जाती है। प्रथम सर्ग में सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन है। इसमें वैदिक सिद्धान्तानुसार सृष्टि रचना की प्रक्रिया का वर्णन हुआ है।

---

१. "यथा सर्वे नक्षत्रा अजस्रं ज्योतिषामादित्यतोभ्यो रविरश्मिभ्यो ज्योतिर्मया भवन्ति तथैव भगवतो वेदात् साहित्यविद्भिः प्रेरणा लभ्याः। यतः प्राचीना संस्कृतिर्विलुप्ता न भवेद्। वैदिकाः शब्दाः, वैदिका उपमा, वैदिकी शैली, सर्वमिदमतिशोभनम्। नूतनैर्विद्वद्भिश्चानुकरणीयम्। अयं वैदिकः प्रयोगः, अयं लौकिकः, अयं भेदो श्रेयस्करो भाषाया उन्नत्यै संस्कृतेरुन्नत्यै च। अतोऽस्मिन् काव्ये यत्र-तत्र केचिद् वैदिकप्रयोगा भावाश्चास्माभिर्गृहीता द्रक्ष्यन्ते।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (१०।१२९) पर आधारित निम्न श्लोकद्वय इस दृष्टि से अवलोकनीय हैं—

न द्यौरासीन्नवा भूमिर्नैव तारागणोऽथवा ।
सलिलमप्रकेतं च शून्ये शून्यमिव स्थितम् ॥१।३॥

नासीद् व्यक्तिः समष्टिर्वा न च काचित् पदार्थता ।
सद्रजस्तमसामासीत् साम्यं सर्वत्र सर्वथा ॥१।४॥

ऊपर उद्धृत प्रथम श्लोक में नासदीय सूक्त के तृतीय मन्त्रान्तर्गत **'अप्रकेतं-सलिलं'** तथा द्वितीय श्लोक में सूक्त के प्रथम मन्त्र के **'नासीद्'** आदि पद प्रयुक्त हुए हैं।

आर्यों की प्राचीन जीवन-प्रणाली का वर्णन करते हुए कवि को कालिदास के रघुवंश में वर्णित रघुवंशी राजाओं का जीवनक्रम स्मरण हो आता है। आर्योदय काव्य का रचयिता प्राचीन आर्य लोगों के वानप्रस्थ आश्रम का वर्णन करते हुए लिखता हैं—

वार्धक्ये चैव सम्प्राप्ते गृहं संत्यज्य संततौ ।
मुनिधर्मं चरन्तौ द्वौ जग्मतुर्दम्पती वनम् ॥१।५४॥

इस पद्य से कालिदास की निम्न पंक्तियां तुलनीय हैं—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥रघुवंश १।८॥

द्वितीय सर्ग में वैदिक धर्म के ह्रास का वर्णन किया गया है। वैदिक परम्पराओं के लुप्त होने के पश्चात् देश में अनीश्वरवादी भौतिकता-प्रधान चार्वाक मत उत्पन्न हुआ, यह इस सर्ग में बताया गया है। 'विदेशीयमतोत्पत्ति' शीर्षक तृतीय सर्ग वैदिक धर्म के नष्ट हो जाने के पश्चात् पारसी, यहूदी, इस्लाम आदि सैमेटिक मतों की उत्पत्ति का वर्णन प्रस्तुत करता है। इस सर्ग के कुछ श्लोकों पर अन्य ग्रन्थों के पद्यों की छाया स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। यथा—

न मांसभक्षी न च मद्यपः क्वचित्
न हिंसको वा न कोऽपि वञ्चकः ।
स्तेनः कदर्यो न च पापजीवनो
न स्वैरिणी स्वैरिजनः कुतो भवेत् ॥३।५॥

यह श्लोक उपनिषद् के निम्न कथन को ही पद्यबद्ध करता है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ।[1]

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ५।११।५॥

चतुर्थ सर्ग में पठान राज्य का वर्णन है। पञ्चम सर्ग में चित्तौड़ के राजाओं द्वारा किये गए स्वतन्त्रता के सुरक्षा-विषयक प्रयासों का उल्लेख हुआ है। षष्ठ सर्ग में मुगल राज्य का वर्णन हुआ है। सातवें सर्ग में शिवाजी के राज्य का तथा आठवें में सिक्खों के अभ्युत्थान का वर्णन है। नवम सर्ग नेपाल में हिन्दू राज्य की स्थापना से सम्बद्ध है। दशम सर्ग में आर्यों की पुनः अभ्युदय प्राप्ति तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति का वर्णन हुआ है। यहां तक ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध है।

उत्तरार्द्ध के ११ सर्गों में आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द के जीवन का वर्णन हुआ है। इस दृष्टि से इसे एक स्वतन्त्र चरित-काव्य ही कहा जा सकता है। समग्र ग्रन्थ में क्रमशः सृष्टि-प्रयोजन, दयानन्द-जन्म-वर्णन, गृह-त्याग, गुरु-प्राप्ति, गुरु-दक्षिणा, व्रतारम्भ, काशी-विजय, आर्यसमाज-संस्थापन, उदयपुर-गमन, जोधपुर-दुर्घटना तथा अन्तिम सर्ग में आर्यसंस्कृति के उदय का विषय वर्णित हुआ है।

आलोच्य काव्य का कलापक्ष—सरल, सरस तथा प्रसादगुण-युक्त भाषा में लिखा गया यह काव्य एक सुन्दर पठनीय रचना है। यद्यपि कवि की लेखन-शैली प्रायः अनलंकृत तथा स्पष्ट है, तथापि यत्र-तत्र अलंकारों के सुन्दर और काव्योचित प्रयोग ने काव्य के सौन्दर्य में निश्चय ही वृद्धि की है। अनुप्रास की छटा निम्न पद्य में द्रष्टव्य है—

दयनीयदशां दयार्द्रिता ददृशुर्देशजदिव्यदृष्टयः ।।११।३१।।

रूपक का निम्न प्रयोग सुन्दर है—

स्वत्प्रदत्तप्रभाभासा नश्यतीति प्रतीयते।
किंचित् किंचिद्धताशस्य मम हृच्छर्वरीतमः ।।१५।८।।

मुझे ऐसा लगता है कि आपके दिये हुए प्रकाश से मुझ हतबुद्धि की हृदय-रूपी रात्रि का अन्धेरा कुछ नष्ट हो रहा है।

मूर्तिपूजा के विरोध में एक सटीक उपमा की योजना निम्न पद्य में है—

पाषाणखण्डे भुवनेशभावना
बालुप्रदेशे मृगतृष्णिका समा ।।१६।२१।।

पत्थर के टुकड़े में ईश्वर की भावना वैसी ही है जैसी रेत में जल की मिथ्या प्रतीति।

निम्न पद्य में रूपक की योजना इन्द्र द्वारा वृत्र के वध के सुप्रसिद्ध वैदिक उपाख्यान पर आधृत है—

अज्ञानवृत्राहिविघातकर्मणि
शतक्रतोः शक्तिरपेक्ष्यते ध्रुवम् ॥१६।२६॥

अज्ञानरूपी वृत्र को मारने में निश्चय ही इन्द्र की शक्ति अपेक्षित है।

साङ्गरूपक का निम्न उदाहरण अलंकार योजना का प्रभावोत्पादक रूप प्रस्तुत करता है—

रात्रौ गतायामुषसि स्फुरत्प्रभे,
द्रष्टुं समर्थे भवतोऽक्षिणी यथा।
तथा दयानन्ददिवाकरोद्गमे
संबोधनेत्रे उदमीलतां नृणाम् ॥१७।३६॥

रात्रि व्यतीत होने और उषा का प्रकाश होने पर जैसे आंखें देखने में समर्थ हो जाती हैं, उसी प्रकार दयानन्दरूपी सूर्य के उदय होने पर लोगों की बुद्धिरूपी आंखें खुल गईं।

काव्य में सूक्तियों और सुभाषितों की तो मानो निधि ही भरी हुई है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

कामेनान्धः किमपि जगति द्रष्टुमन्यन्न शक्तः ॥४।१॥

काम से अन्धे को संसार में कुछ भी नहीं सूझता।

पापीयांसो न हि सफलतां दीर्घकालं लभन्ते ॥४।६॥

पापियों को दीर्घकाल तक सफलता नहीं मिलती।

धनं वा सम्पत्तिः सुखयति न लोकान् परवशान् ॥६।३॥

पराधीन लोगों को धन या सम्पत्ति सुख नहीं पहुंचा सकती।

संस्कारहीनाः पतिता भवन्ति ॥१२।१६॥

संस्कारहीन लोग पतित हो जाते हैं।

लोकोक्तियों को पद्यबद्ध करने में कवि की प्रतिभा विशेष रूप से उन्मुख हुई है। इस दृष्टि से निम्न श्लोक अवलोकनीय है—

मंक्त्वा सिन्धौ यथा लोकः एकधैवाहरेदिह।
मौक्तिकानामनर्घाणां राशिं निजकराङ्कगाम् ॥१५।१२॥

'समुद्र में एक बार ही गोता लगाना और मोतियों की राशि प्राप्त कर लेना' इसी पद्य का कथ्य है।

'खोदा पहाड़ और निकली चुहिया' इस लोकोक्ति को निम्न पद्य में प्रस्तुत किया गया है—

खनित्वा पर्वतान् तुङ्गान् मूषिकोऽपि न लभ्यते ।
प्रापयति न साफल्यं तथैवानार्षपद्धतिः ॥१५।१४॥

'आर्योदय' काव्य में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग अधिक दृष्टिगोचर होता है। परन्तु अन्य भी मन्दाक्रान्ता, वसन्ततिलका, शिखरिणी आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि यद्यपि आर्योदय काव्य में महाकाव्योचित लक्षण सर्वांश में उपलब्ध नहीं होते, तथापि आर्य जाति के पूर्व गौरव, पुनः हीनावस्था प्राप्त करने तथा उसके पुनरुत्थान का चित्रण करने की दृष्टि से इस काव्य को आर्यसमाज के संस्कृत वाङ्मय की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना जा सकता है।

(३) इन्द्र-विरचित भारतैतिह्य—आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता, गुरुकुल कांगड़ी के प्रथम स्नातक और सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने 'भारतैतिह्य' नामक ऐतिहासिक काव्य लिखा।[1] यह ३० अध्यायों में समाप्त हुआ है। इसमें महाभारत की कथा को श्लोकबद्ध किया गया है। यद्यपि मुख्यतया कवि ने अनुष्टुप् छन्द का ही प्रयोग किया है परन्तु कहीं-कहीं अन्य छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं। भाषा की सरलता और प्रसादगुणोपेता शैली को देखने से प्रतीत होता है मानो भारतैतिह्यकार ने महाभारतकार की सरल प्रसादगुण-युक्त शैली का ही अनुसरण किया है। इस दृष्टि से यदि इस काव्य को 'लघु-महाभारत' का नाम दे दिया जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी।

आलोच्य काव्य में काव्योचित गुणों का अभाव नहीं है। कथानक का निर्वाह, पात्रों का चरित्र-विश्लेषण तथा यत्र-तत्र स्फूर्तियुक्त संवाद इस काव्य की विशेषताएं हैं। संवादों में पटुता तथा विदग्धता का गुण विशेषतः दर्शनीय है। कर्ण के रथ का पहिया पृथ्वी में धंस गया और अर्जुन ने जब उस पर धनुषसंधान किया तो राधा-पुत्र कर्ण धर्म की दुहाई देना लगा। महाभारत का यह प्रसिद्ध प्रसंग है। कृष्ण ने इस पर कर्ण को व्यंग्य वचन सुनाये। आलोच्य काव्य का यह प्रसंग उत्कृष्ट काव्य प्रतिभा का द्योतक है। कृष्ण पूछते हैं—

यदा सभायां राजानमनक्षज्ञं युधिष्ठिरम् ।
अजैषीच्छकुनिर्ज्ञानात् क्व ते धर्मस्तदागतः ॥२६।६५॥

१: 'गुरुकुलपत्रिका' में धारावाही रूप से प्रकाशित।

वनवासे व्यतीते च कर्ण वर्षे त्रयोदशे ।
न प्रयच्छसि यद्राज्यं क्व ते धर्मस्तदा गतः ॥२६।६६॥
यदा रजस्वलां कृष्णां स्पृश्यमानामनागसीम् ।
उपेक्षसे हि राधेय क्व ते धर्मस्तदागतः ॥२६।६७॥

'भारतैतिह्य' का उक्त प्रसंग महाभारत से पर्याप्त प्रभावित है। यह काव्य युद्ध-वर्णन के प्रसंगों से परिपूर्ण है। कुरुपाण्डव-सेना का वर्णन निम्न श्लोक में द्रष्टव्य है—

रथैर्विशालैर्धृतसौधशोभा सेनाजनैः पूरितराजमार्गा ।
अश्वैर्गजै रम्यतरा पुरीव, रराज सेनाकुरुपाण्डवानाम् ॥
२८।१॥

कवि अनन्वय अलंकार का प्रयोग करते हुए कर्ण-पाण्डव युद्ध का वर्णन करता है—

युध्यमानौ महावीरौ गदन्त्युत्प्रेक्ष्य सैनिकाः ।
कर्णपाण्डवयोर्युद्धं कर्णपाण्डवयोरिव ॥२८।८८॥

[४] नीति-काव्य

संस्कृत में नीति-काव्यों की भी एक पृथक् परम्परा रही है। स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में तो नैतिकता की शिक्षा के उपदेशों का संग्रथन हुआ ही है, परवर्ती लौकिक साहित्य में भी नीति-ग्रन्थों की भरमार रही। शुक्रनीति, चाणक्यनीति और कामन्दकीयनीति के नाम से जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनमें राजनीति, लोकनीति तथा धर्मनीति का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। भर्तृहरि के 'नीतिशतक' आदि शतकत्रय भी इसी परम्परा में आते हैं। 'पञ्चतन्त्र' और 'हितोपदेश' जैसे ग्रन्थों में संस्कृत के नीति-विषयक पद्यों को कथा-प्रसंगों में गूंथने का प्रशंसनीय प्रयास हुआ है।

आर्यसमाज मूलतः नैतिकता को प्रोत्साहित करने वाला आन्दोलन था। चरित्र और आचार-व्यवहार विषयक बाह्य और आन्तरिक शुद्धि पर ऐसे आन्दलनों में बहुत जोर दिया जाता है। अंग्रेजी के Puritan[1] शब्द का प्रयोग आर्यसमाज के लिए बहुधा किया गया है। आर्यसमाज के संस्कृत साहित्यकारों ने नीति और उपदेशमूलक काव्यों की रचना भी की है। गंगाप्रसाद उपाध्याय ने मनुस्मृति के अनुकरण पर **'आर्यस्मृति'** लिखी। सत्यदेव वासिष्ठ

1. "One professing great purity in religious life." Chamber's Etymological Dictionary.

ने 'सत्याग्रहनीति-काव्य' की रचना की तथा डा० मङ्गलदेव शास्त्री ने 'जीवनरश्मि' अथवा 'जीवनसंदेशगीताञ्जलि' लिखकर चरितोत्थान तथा नैतिक उन्नति विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र प्रस्तुत किए। प्रस्तुत विवेचन इन्हीं ग्रन्थों पर आधृत है।

आर्यस्मृति—आर्यसमाज के मूर्धन्य विद्वान् और दार्शनिक-चिन्तक स्व० पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय ने स्मृति ग्रन्थों की शैली पर 'आर्यस्मृति' की रचना की है। मनु तथा अन्यान्य आर्ष धर्मशास्त्रकारों के विचारों का आधार लेकर लिखा गया यह एक विधान ग्रन्थ है। १५ अध्यायों के अन्तर्गत आर्यस्मृतिकार अनुष्टुप् छन्दों में आर्यधर्म और वैदिक विचारधारा के अनुकूल आचार-व्यवहार तथा धार्मिक एवं लौकिक नियमविधान का विवेचन करता है। प्रथमाध्याय के प्रथम श्लोक में ही लेखक की ग्रन्थरचना विषयक प्रतिज्ञा दृष्टिगोचर होती है—

आलोच्य श्रुतिसिद्धान्तं मन्वादीनां मतं तथा।
देशकालौ यथाप्रज्ञं स्मृतिं वक्ष्याम्युत्तमाम् ॥

वैदिक सिद्धान्तों और मन्वादि ऋषियों के मत को जानकर तथा देश और काल का विचार कर यह उत्तम (up to date) स्मृति बनाई गई है। प्रथमाध्याय में धर्म का विवेचन हुआ है। लेखक यजुर्वेद के मन्त्र[1] के प्रमाण से मनुष्यमात्र को वेद के पठन का अधिकारी मानता है—

सर्वे वेदानधीयरन् न विशेषोऽस्ति कस्यचित्।
षड्विंशे यजुषोऽध्याये द्वितीयो मन्त्र ईक्ष्यताम् ॥१।५॥

आर्यस्मृतिकार वेद मन्त्रों के आधार पर ही अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करता चलता है और यत्र-तत्र वेद मन्त्रों को भी अपने श्लोकों में उद्धृत करता है। आठवें श्लोक में अथर्ववेद के 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'[2] तथा पन्द्रहवें श्लोक में ऋग्वेद के "स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव" इस मन्त्र[3] को आधार बना कर अपनी बात कही गई है। यत्र-तत्र मनुस्मृति के वाक्यों को शब्दशः नामनिर्देशपूर्वक उद्धृत किया गया है। यथा धर्म के दस लक्षणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

---

१. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। यजुर्वेद २६।२ ॥

२. कुमारी ब्रह्मचर्येण युवानं विन्दते पतिम् ॥
इत्यर्थबोधकं वाक्यं दृश्यतेऽथर्व ण स्फुटम् ॥१।८॥

३. स नः पिता सूनवेऽग्ने शोभनोपायनो भव ।
इत्यर्थबोधको मन्त्रः ऋग्वेदे परिदृश्यते ॥ १।१५

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशधर्मा मनुस्मृताः१ ।।२६।।

आर्यस्मृतिकार ने अन्यान्य धर्म ग्रन्थों के सूक्ति-वाक्यों को भी तनिक-से परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया है और अन्य ग्रन्थों की सूक्तियों को अपनी भाषा में भी प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। गीता के **'गहना कर्मणो गतिः'** (४।१७) तथा मनुस्मृति के **'सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः** (३।५६) को **'धर्मस्य गहना गतिः'** (आर्यस्मृति १।४२) तथा **'सर्वास्तस्याऽफलाः क्रियाः'** (आर्यस्मृति १।४६) के रूप में प्रस्तुत किया गया है । निरुक्तकार ने तर्क को ऋषि कहा—इस उक्ति का उपबृंहण करते हुए आर्यस्मृतिकार लिखता है—

यास्कस्तर्कमृषिं प्राह स च बुद्धौ प्रतिष्ठितः ।
तस्मादीश्वरदत्ता धीर्धर्मे कार्या सहायिका ।। १।३६।।

इसी प्रकार निम्न श्लोक में भी एक प्रसिद्ध सूक्ति को नवीन साज-सज्जा में प्रस्तुत किया गया है—

अनर्थज्ञः पठन् वेदं न वेदफलमश्नुते ।
चन्दनस्य वहन् भारं न मूल्यं वेत्ति गर्दभः ।।१।४७ ।।

द्वितीय अध्याय में आर्य, अनार्य तथा दस्यु का विवेचन किया गया है । प्रारम्भिक श्लोक में ही मानवों का त्रैविध्य वर्गीकरण किया गया है ।[1] पश्चात् आर्य, अनार्य और दस्यु की परिभाषा दी गई है । श्लोक संख्या ३ और ७ में मनुस्मृति के आधार पर आर्यावर्त की सीमा बताई गई है । इस अध्याय पर भी मनुस्मृति में वर्णित सिद्धान्तों का पूर्ण प्रभाव लक्षित होता है । २१वें श्लोक में[2] मनुस्मृति के निम्न श्लोक की पूर्ण झलक दिखाई देती है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।२।२०।।

इसी अध्याय का २९वां श्लोक भवभूति के **'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः'** इस उक्ति की व्याख्या रूप प्रतीत होती है जो इस प्रकार है—

---

१. मानवास्त्रिविधाः प्रोक्ताः समस्ते क्षितिमण्डले ।
   आर्य आद्योऽपरोऽनार्यस्तृतीयो दस्युरेव च ।।२।१।।

२. एतद्देशप्रसूतानां सकाशाद् विदुषां पुरा ।
   स्वं स्वं वृत्तमाशिक्षन्त पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।२।२१।।

न लिङ्गं न वयो न देशः पूज्यत्वेनावगम्यताम् ।
पूजास्थानं गुणाः प्रोक्ता यो गुणी स हि पूज्यते ।।

तृतीय अध्याय में आश्रम-चतुष्टय का निरूपण किया गया है । प्रथम ब्रह्मचर्य का विवेचन है । इस विवेचना का आचार स्वामी दयानन्द रचित सत्यार्थप्रकाश का तृतीय समुल्लास है । अन्यान्य ग्रन्थों के जिन अंशों का आधार लेकर इस अध्याय के कतिपय श्लोकों की रचना हुई है, उनका तुलनात्मक अध्ययन पर्याप्त मनोरञ्जक हो सकता है । उदाहरण के लिए यजुर्वेद के उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् । धिया विप्रो अजायत ।' २६। १५ इस मन्त्र पर आधारित यह श्लोक—

उपह्वरे गिरीणां च नदीनां च समागमे ।
अजायत धिया विप्रो मन्त्रोऽयं यजुषि स्थितः ।।३।२४।

तथा गीता के—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।६।१७।।

इस श्लोक पर आधारित आर्यस्मृति का निम्न श्लोक—

युक्ताशी युक्तभाषी स्यात् युक्तस्वप्नावबोधनः ।
सदाचाररतो विद्योपार्जने निरतो भवेत् ।।३।४२।।

तुलनीय है । 'आचार्य' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार बताया गया है—

आचारं ग्राहयेच्छिष्यमर्थानाचिनुयाच्छनैः ।
आचिनोति च बुद्धिं यः स आचार्यो निरुच्यते ।।३।२८।।

निरुक्त में भी 'आचार्य' शब्द का लगभग ऐसा ही अर्थ किया गया है[1] ।

चतुर्थाध्याय में गृहस्थ आश्रम का निरूपण है । यह विवेचन भी मुख्यतया सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास पर आश्रित है । इसमें विवाह-विषयक शास्त्रीय विधियों का उल्लेख है और गृहस्थाश्रम की महिमा निरूपित करने वाले मनुस्मृति के श्लोकों को ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया गया है । पांचवां अध्याय वानप्रस्थ संन्यास निरूपणात्मक है । इसका भी आधार सत्यार्थप्रकाश का पञ्चम समुल्लास है । छठे अध्याय में चारों वर्णों के कर्मों का

१. आचार्यः कस्मात् ? आचार्य आचारं ग्राहयति, अचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिम् इति वा ।१।४।।

विधान किया गया है। चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था विषयक मनुस्मृति के श्लोकों को उद्धृत किया गया है तथा **'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते 'यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः**[2]' तथा **'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्'**[3] जैसे स्मार्त वचनों को भी प्रसंगवशात् यत्र-तत्र उद्धृत किया गया है। सप्तमाध्याय ब्राह्मण-कर्त्तव्य-निरूपणात्मक है तथा आठवें अध्याय में राजव्यवस्था का वर्णन हुआ है। इसी प्रकार नवें तथा दसवें अध्याय में क्रमशः वैश्यों तथा शूद्रों के कर्त्तव्यों का निरूपण हैं। एकादश अध्याय में आपद्धर्म-विवेचन, द्वादशाध्याय में प्रायश्चित-निरूपण, त्रयोदश-अध्याय में शुद्धि-विधान तथा चतुर्दशाध्याय में दायभाग-विवेचन हुआ है। अन्तिम १५वां अध्याय यज्ञ-विषय का विवेचन प्रस्तुत करता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्यस्मृतिकार ने पुरातन स्मृतियों में उल्लिखित लगभग सभी विवेचनीय विषयों को अपनी इस नवीन स्मृति में समाविष्ट कर लिया है। साथ ही प्रायश्चित्त-विधान को ही शुद्धि-विधान जैसा नवीन रूप देकर इसे आधुनिक युग के सर्वथा अनुकूल बनाने का भी प्रयत्न किया है। ग्रन्थ की भाषा सरल और सुबोध है।

सत्याग्रहनीति काव्य—आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के शिष्य पं सत्यदेव वासिष्ठ ने 'सत्याग्रहनीति-काव्य' शीर्षक काव्य की रचना की है। हिन्दी अनुवादयुक्त यह काव्य २०१५ वि० में प्रकाशित हुआ। १९३९ ई० में आर्यसमाज को अपने धार्मिक अधिकारों की रक्षा के हेतु हैदराबाद दक्षिण में निजाम-शासन के विरुद्ध सत्याग्रह करना पड़ा था। काव्य का प्रणेता अपने गुरु पं ब्रह्मदत्त जिज्ञासु की आज्ञानुसार सत्याग्रह में सम्मिलित हुआ। कारागार में रहते हुए ही उसने इस काव्य की रचना की।[3]

'सत्याग्रहनीति-काव्य' हैदराबाद में किये गए आर्य-सत्याग्रह का स्थूल विवरण उपस्थित नहीं करता। इस काव्य में सत्याग्रह में उच्चकोटि का आदर्श

---

१. मनुस्मृति २।२५७॥

२. मनुस्मृति १०।६५॥

३. "काव्यञ्चेदं सत्याग्रहग्रहिलेन स्वधर्मरक्षणदक्षेण बद्धकक्षेणानेन कविना (हैदराबाद) भाग्यनगरीयकारागारे संवसता भगवतो भर्तृहरेर्नीतिशतकं भूयोभूयो हृदयङ्गमं विदधता कारागारीयविधानुसारं कर्गदखण्डमेकमपि लब्धा रचितुमक्षमेण तत्तद्वेदायुर्वेदपुस्तकानामवशिष्टपृष्ठपरिसरभुवि विलिखितवता यथाकथंचित् तस्यैवोजीव्यतया जीवनं यापयता प्रणीतम्।" सम्पादक का निवेदन पृष्ठ ॥ ११ ॥

बताया गया है जिसका अनुसरण समय आने पर सभी पुरुषों को करना चाहिये । हैदराबाद सत्याग्रह के व्याज से कवि ने इस काव्य में सत्याग्रह-दर्शन को ही स्पष्ट किया है । कवि की दृष्टि में भगवान् सत्यस्वरूप है अतः मनुष्य का सत्य के प्रति आग्रहशील होना स्वाभाविक ही है । मुख्यरूप में सत्याग्रह की नीति और उसके दर्शन को प्रतिपादित करने के साथ-साथ कवि ने इस काव्य में नीति, सदाचार तथा मानव-कर्त्तव्य विषयक अन्य बातों का भी समावेश कर दिया है ।

ग्रन्थारम्भ में 'किञ्चिद् आत्म-निवेदनम्' शीर्षक के अन्तर्गत कवि ने काव्य-विषयक अपनी दृष्टि को स्पष्ट किया है । यह काव्य गुरुकुल झज्जर की परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में निर्धारित किया गया है । इसका हिन्दी अनुवाद पं० रुद्रदेव त्रिपाठी ने किया है । सम्पूर्ण काव्य पांच अध्यायों में विभक्त है । प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं । वर्ण्य विषय की दृष्टि से सर्वप्रथम हम इस काव्य का विश्लेषण करते हैं ।

प्रथमाध्याय में मङ्गलाचरण के अनन्तर कवि काव्यनिर्माण के हेतुओं का निरूपण करता है । इसी प्रसंग में वह कविकर्म विषयक अपनी दृष्टि को प्रकट करता हुआ कहता है—

> **काव्यं कवीनां सरसं हि कर्म**
> **किं वच्मि ? तत् तैः कुपथे प्रणुन्नम् ।**
> **व्यामोह्य तल्लाञ्छनमत्र काव्ये**
> **काव्यं करोम्याप्तजनानुशिष्टम् ॥ ८॥**

कवियों का सरस कर्म काव्य है । यदि उनका यह कर्म बुरे मार्ग पर प्रवृत्त हो जाय तो उसके विषय में मैं क्या कर सकता हूं ? अतः इस काव्य में उस (व्यर्थ के शृङ्गार-हास्यादि रस दोषजनित) कलंक को दूर रख कर पूर्वाचार्यों के आदेशाकूल सत्य का वर्णन करता हूं । अर्थात् कवि काव्य रचना का मुख्य-प्रयोजन सत्यनिरूपण मानता है न कि शृङ्गार हास्यादि रसों का काव्य में चित्रण ।

इस प्राक्कथन के पश्चात् वास्तविक ग्रन्थ प्रारम्भ होता है । प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में दुर्जनों की गर्हणा की गई है । सज्जन-प्रशंसा और दुर्जन-निंदा काव्य का शास्त्रोचित लक्षण माना गया है । २८ पद्यों में 'दुर्जन-निंदा' के अनन्तर इस अध्याय में 'सज्जन-प्रशंसा' वाला दूसरा पाद है । इसी स्थान पर कवि ने उन प्रतिबन्धों का भी उल्लेख किया है जिन्हें हटवाने और

धार्मिक कार्यों में स्वतन्त्रता प्राप्त करने हेतु हैदराबाद में आर्य-सत्याग्रह किया किया गया था।[1] सत्याग्रह प्रारम्भ होने की तिथि निम्न श्लोक में दी गई है।

भूतनन्दाङ्कचन्द्राब्दे पौषे विक्रमवर्षतः।
सत्याग्रहः समारब्धः पूर्वं तत्पुरवासिभिः ॥१।२।६॥

'अङ्कानां वामतो गतिः' के नियमानुसार यह संवत् १९९५ वि० था, जिसमें सात्याग्रह प्रारम्भ हुआ।

तृतीय पाद कारागृह में सत्याग्रहियों को दिए जाने वाले कष्टों का विवरण उपस्थित करता है। स्वयं सत्याग्रही के रूप में सम्मिलित होने और इन कष्टों के भुक्त-भोगी होने के कारण कवि के इस वर्णन में यथार्थता आ गई है। सम्भवतः संस्कृत साहित्य में इस प्रकार के अंश बहुत कम हैं जिनमें कारागृहों का वस्तुनिष्ठ वर्णन मिलता हो। इस दृष्टि से कवि का यह कारागार वर्णन सर्वथा अपूर्व और अभिनन्दनीय है। शासकों के अनुचरों द्वारा दिये गए इन भयंकर कष्टों, भीषण यन्त्रणाओं तथा कटु भर्त्सना को सहन करते हुए सत्याग्रही सत्य की रक्षा के लिए श्रीकृष्ण के जन्मस्थान कारागार में शान्तिपूर्वक अपने दिन बिताता है।[2] प्रथमाध्याय का अन्तिम चतुर्थपाद अहिंसा-व्रत का माहात्म्य कथन करता है। सत्याग्रह-दर्शन का मूलाधार अहिंसा-व्रत है, अतः अहिंसा-विवेचन कवि के लिए परम अभीष्ट था। नीति की इस प्रसिद्ध उक्ति को उद्धृत करता हुआ कि 'पैरों से ठुकराई जाकर धूल भी मनुष्यों के नेत्रों को अन्धा बना देती है, फिर चेतन व्यक्तियों का तो कहना ही क्या ?' कवि सत्याग्रही के अहिंसा-व्रत का महत्त्व बतलाते हुए कहता है कि सच्चा सत्याग्रही तो दुर्जन द्वारा बार-बार पीड़ित होकर भी उस मारने वाले को निर्मल बुद्धिदायक पदों से ज्ञान देता है—

---

१. निषिद्ध आसित् किल तत्र यज्ञः
सम्भूय सन्ध्याऽपि निवारिताऽभूत्।
संस्कारकृत्यानि निरोधितानि
देवालयानां रचना-निषिद्धा ॥ १।२।४॥

२. इत्थं भूपचरैः प्रदत्तमतुलं कष्टं परां यन्त्रणां
घातं भर्त्सनमन्यदप्यरुचिकृद् दुःखं च सोढ्वा बहु।
श्रीकृष्णप्रसवावनौ प्रभुपदं ध्यायन् सुसत्याग्रही
धैर्येणात्मदिनानि वाहयति वै सत्यस्य रक्षाकृते ॥१।३।१२॥

पादेनाहतमुत्थितं मृदुरजो नेत्रं नृणामन्धयेद् ।
भ्रातः पश्य दशां जडस्य भुवने चेष्टावतां का कथा ?
अत्याश्चर्यमिदं यदेति विनतिं पदद्रुतं मुहुर्घातितो,
हन्तारं विमलैः सुबोधनपदैः सत्याग्रही बोधयन् ॥

१।४।११॥

द्वितीय अध्याय का प्रथम पाद राष्ट्र के उत्थान और पतन का विवेचन प्रस्तुत करता है। द्वितीय पाद में 'स्वधर्मस्थ, विधर्मस्थ और पारदेशिक' इस प्रकार शासकों का त्रिविध-भेद दर्शाया गया है। तृतीय पाद में स्वराज्य की महिमा का वर्णन करते हुए मानो कवि ने स्वामी दयानन्द की स्वराज्य-विषयक इस प्रसिद्ध उक्ति का ही काव्यानुवाद कर दिया है जिसमें कहा गया है कि "कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मतमतान्तर के आग्रह-रहित, अपने और पराये का पक्षपात-शून्य प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं होता।"[1] इस उद्धरण का काव्य में रूपान्तर इस प्रकार किया गया है—

मतमतान्तररागविवर्जितो
हितमनाः सहृदयः पितृवन्महान् ।
परधराज-नृपो मृदु वर्तयन्नपि
न जातु भवेत् सुखदः क्वचित् ॥२।३।१॥

इसी प्रकार स्वामी दयानन्द के स्वमन्तव्यों में उल्लिखित उस वाक्य का भी कवि ने काव्य में अनुवाद करने की चेष्टा की है जिसमें कहा गया है कि अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे[2]—

अन्यायिनो बलाढ्याच्च न भेतव्यं कदाचन ।
धार्मिकं दुर्बलं चापि नृपं प्राज्ञोऽतिमानयेत् ॥२।३।८॥

द्वितीय अध्याय का चतुर्थपाद सत्याग्रह-पद्धति का विवेचन प्रस्तुत करता है। इस पाद में कतिपय सूक्तियां जीवन के शाश्वत तथ्यों का प्रतिपादन करती हैं। यथा—

बाल्यं तु क्रीड़ने नीतं यौवनं मधु-सञ्चये ।
प्रयाते समये सत्य ! सत्य-लिप्सा वृथा न किम् ॥

२।४।२७॥

---

१. सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास ।
२. सत्यार्थप्रकाश, स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश ।

तृतीयाध्याय का प्रथम पाद 'वारिपटुतीयः' शीर्षक है। इसमें जल के दृष्टान्त से नेता के लिए कई हितकर उपदेश दिये गए हैं। इस अध्याय के द्वितीय पाद में सत्याग्रही के आदर्श कर्मों का वर्णन किया गया है। 'उद्‌वोधन' नामक तृतीय पाद में कवि देश के ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, कवियों, उपदेशकों, विद्वानों, साधुओं, धीरों, सुहृदों, संगीतज्ञों, मल्लों, तरुणों, छात्रों और सामान्य-जनों को उद्‌वोधन देते हुए उन्हें देश-कार्य में सन्नद्ध होने की प्रेरणा करता है।

महाकाव्य परम्परा पालन की दृष्टि से कवि ने आलोच्य काव्य में षड्-ऋतु वर्णन को भी स्थान दिया है। तृतीय अध्याय के चतुर्थपाद में ऋतु वर्णन के साथ-साथ लेखक ने तत्-तत् ऋतु से प्रेरणा लेने वाले सत्याग्रही जनों के क्रिया-कलापों का वर्णन करते हुए ऋतु वर्णन की रूढ़ि का सार्थकतापूर्वक पालन किया है। उदाहरण के लिए वसन्त ऋतु का निम्न वर्णन—

वीरुद्‌वृक्षवरप्रतान-विभवाः पुष्यन्त्यहो माधवे
हृद्यं कोकिल-कण्ठजं मधुरुतं वायुः पुनानो दिशः।
नानाभावविभाव-भावितनृणां भावा विकासोन्मुखाः
सोल्लासं सहकारमञ्जरिरपि स्वागन्तुमातिष्ठते॥३।४।१॥

वसन्त ऋतु के आगमन पर लता और सुन्दर वृक्षों की विस्तृत वैभव विकसित होता है। मनोहर कोकिल के कण्ठ का कूजन तथा दिशाओं को पवित्र करता हुआ पवन विकास की ओर अग्रसर होने वाले विविध विचारों से परिपूर्ण मनुष्यों के भाव एवं फूटती हुई आम्रमञ्जरियां उल्लासपूर्वक वसन्त का स्वागत करने को उपस्थित होती हैं। ऐसे वसन्त के समय में—

चेतोहर्षकरे वसन्तसमये सत्याग्रहं कुर्वते
विद्वांसो नृपतेरनीतिवचनं व्याहन्तुमीशाश्रयात्।
लोकाः! पश्यत देशजातिमतयः कारासु सत्यप्रियाः
स्वागच्छन्ति वसन्तमेव सततं प्राप्तव्यलिप्साकृतिम्॥
३।४।२॥

चित्त को प्रसन्न करने वाले वसन्त में परमात्मा के आश्रित होकर नृपति के अनीतिपूर्ण वचनों को दूर करने के लिए विद्वज्जन सत्याग्रह करते हैं। हे मनुष्यो! देखो कि कारागृह में देश और जाति के उद्धार करने वाली बुद्धि वाले

---

१. मित्राणि कुर्यान्मनुजो बहूनि क्वचित् सता येन समेति धैर्यम्।
यथाऽऽप्लवे संप्लवमान आर्तस्तृणाश्रयेणापि तटं समेति॥४।२।१॥

और सत्य ही जिनको प्रिय है ऐसे सत्याग्रही अपने लक्ष्य सिद्धिरूप वसन्त का स्वागत करते हैं।

इसी पाद में सत्याग्रहियों की जीवनचर्या और सत्याग्रह के दिनों में उनकी दैनन्दिन-क्रियाओं का भी रोचक वर्णन हुआ है।

चतुर्थाध्याय के प्रथम पाद में भाग्य और पुरुषार्थ का दार्शनिक विवेचन किया गया है। द्वितीयपाद में मित्रों के लाभ बताये गए हैं। तृतीयपाद विद्यार्थी और गुरु के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन करते हुए विद्यार्थियों के कर्त्तव्य बताता है। इसमें मन्वादि स्मृतिकारों के तद्-विषयक विधानों को पद्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थपाद में धर्म का विवेचन हुआ है। पञ्चमाध्याय में कुछ प्रकीर्ण विषय उठाये गए हैं। प्रथमपाद में सत्य की विभूतियों का कथन, द्वितीय में स्वास्थ्य-रक्षा के नियम, तृतीय में आयुर्वेदोक्त ऋतुचर्या तथा चतुर्थ में सत्याग्रही को अभिप्रेत स्वतन्त्रता का वर्णन किया गया है।

सत्याग्रहनीति काव्य में अलंकार योजना—आलोच्य काव्य में कवि ने विविध अलंकारों का समावेश कर काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि करने का प्रयास किया है। यह कथन निम्न उदाहरणों से सिद्ध हो जायगा।

श्लेषालंकार का उदाहरण—

> कालदिग्भिरमेयाय सत्यधृन्मात्रमूर्त्तये।
> सत्तपस्त्यागयुक्ताय नमः सत्याग्रहाय ते ॥ मङ्गलश्लोक ॥

उपमालंकार का उदाहरण—

> सत्याग्रहस्य च सरस्वतिगाढनीरम्
> ईर्ष्यादिजन्यमकरादिकविघ्नपूर्णम्।
> जीर्णं वपुः शिथिलमानसता तथाऽपि
> पारं तवाश्रयबलादयि ! यान्ति धन्याः ॥१।१।१३॥

पुनरुक्तवदाभास अलंकार का उदाहरण—

> विघ्ना अशेषा हि समस्य लोके
> ताँस्तान् समस्ताँस्तु समस्य योऽत्र।
> तिष्ठेद् वयस्याः सुसमस्य मौनं
> स्यात् कान्तिमन्मानसमस्य शीघ्रम् ॥२।४।१७॥

तुल्ययोगिता अलंकार का उदाहरण—

त्रित्वं विशोध्य गुरुगौरवदीपितेऽग्नौ
विघ्नैर्हतश्च कविरत्र गिरं गृणाति।
लोकाः प्रबुद्ध्य परिरक्षणमातनुध्वं
मुष्णन्ति यौवनसिंहाखुसमाश्च विघ्नाः ॥२।४।२४॥

प्रतिवस्तूपमा अलंकार का उदाहरण—

मृषोक्त्या छलयन्नन्यं छलिनः स्वयमुच्यते।
यथा मेघेषु धावत्सु चन्द्रधावनमुच्यते ॥२।४।३१॥

उल्लेख अलंकार का उदाहरण—

हे नेतस्त्वमवेहि वारिपटुतां वाष्पायते तप्यते
शैत्यं याति नदीयते ह्रदति वै कुल्यायते ताम्यति।
स्वादानन्त्यमुपैति सङ्गतिवशाद् रूपं च पात्रानुगं
लक्ष्याप्तौ यतते निरन्तरमतश्चारित्र्यमुद्वर्धयत् ॥
३।१।१॥

श्लेषपुष्ट दृष्टान्त अलंकार का उदाहरण—

वेगान् ना विविधान् लब्ध्वा वेलां यो नातिवर्तते।
वात्यया तोयधिर्यद्वद् व्रतं तस्यासिधारवत् ॥३।२।१८॥

अर्थान्तरन्यास का उदाहरण—

कुत्सेयुः कुशलाः स्तुवन्तु बहु वा प्राणाः प्रणश्यन्तु वा
न्यायार्थं समरे प्रदत्तचरणो धीरो न पश्चाद् व्रजेत्।
निर्दोषं परिषद् व्यवस्यति तु यं तं कर्तुमातिष्ठते,
विच्छेद्योत्पथगं जलं तरणकृद् यात्येव लभ्यां भुवम् ॥
३।२।३७॥[1]

व्यतिरेक अलकार का उदाहरण—

रविभा-निगृहीतो हि भासकृन्निष्प्रभो भवेत्।
भ्राजतेऽरिगृहीतोऽपि सदा सत्याग्रही सुकृत् ॥३।२।४१॥

---

१. तुलनीय—

निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

भर्तृहरि नीतिशतक श्लोक ८५॥

लाटानुप्रास का उदाहरण—

युवतियौं वनं प्राप्ता युवानं कं न मोहयेत् ?
युवतियौं वनं प्राप्ता युवानं कं नमो हयेत् ॥३।३।२३॥

अन्योक्ति का उदाहरण—

स्वायत्तं विषदाप्य गच्छथ दिवं भ्रान्त्वाऽथ किं पञ्जरं ?
प्रत्यायाथ शुकाः ! सुसाधुवचनैर्नत्वा पुना रोदिमि ।
सर्वार्थप्तनराः पराश्रयमिताः स्वाधीनभूमेस्तिलं,
नर्छन्तीति पराश्रयं च पुरुषं धिक् कारकं पौरुषम्
॥३।३।३८॥

काव्यलिङ्ग अलंकार का उदाहरण—

लोकाः पश्यत सत्यदीप्तमनसः कारासु सत्यप्रियाः
सोढ्वा क्लेशमहर्निशं विजहति प्राणान्न चित्रं न किम् ।
आशा जीवयति स्वलभ्यसुखदा स्वातन्त्र्य भावैर्युता,
क्षीयन्ते निजभूतिसाधनरता हृष्यन्ति तापंसहाः ॥३।४।७॥

कारागार में सत्याग्रहियों की दिनचर्या के वर्णन में स्वाभावोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

केचित् तु लोमजं चाधः प्रास्तीर्यैव निजासनम् ।
निद्रार्थं सुधियः केचित् व्यतियन्ति सुखेप्सया ॥३।४।५६॥

काव्य सरस और सरल भाषा में लिखा हुआ होने के कारण प्रसादपूर्ण शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। यत्र-तत्र सुन्दर और मनोहारी सूक्तियों ने काव्य-शरीर की शोभा में वृद्धि की है। यथा—

सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१।२।२४॥
विद्या राज्याद गरीयसी ॥१।२।४९॥
दुष्टानां वृषसो द्विषां च कुकथा केनाथवा गीयते ? १।३।८॥
हितं मितं प्रियं वक्ति स भवेल्लोकवल्लभः ॥४।३।२८॥

इनके अतिरिक्त कवि ने अन्य भी प्रसंगोपात्त सैकड़ों नीति के पद्यों को काव्य-काया का शोभाहार बनाया है, जिन्हें नीति की सूक्तियों के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

इस काव्य के कतिपय पद्यों में अन्य कवियों के भावों की छाया देखी जा सकती है। इसे कवि ने स्वयं भी स्वीकार किया है।[1] भाव-साम्य अथवा

---

१. क्वचिद् दृश्येत् चेत् साम्यं शब्दे भावे च प्राकृतैः ।
तत्तथैवानुभूतं नो ज्ञेयमत्र मनीषिभिः ॥ किञ्चदात्मनिवेदनम् ।

शब्द-साम्य कवियों में अनुचित नहीं समझा जाता। भावापहरण की बात दूसरी है। आलोच्य काव्य के निम्न पद्य की तुलना भर्तृहरि के एक पद से की जा सकती है[१]—

क्वचिद्दण्डाघातः क्वचिदपि नृणां गर्हितवचः।
क्वचिल्लोष्ठाघातः क्वचिदपि च बन्धालयगमः।
क्वचिद् धूलिक्षेपः क्वचिदपि च वेत्राततिसहो
भृशं न्यायार्थी स्वं चरणमथ पृष्ठे न कुरुते ॥३।२।२८॥

सत्याग्रहनीति काव्य वस्तुतः आधुनिक संस्कृत साहित्य की एक अनूठी उपलब्धि है।

रश्मिमाला—ऋषि दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा के सदस्य डा० मंगलदेव शास्त्री ने 'रश्मिमाला' अथवा 'जीवन-संदेश गीताञ्जलि' नामक काव्य लिखा है। इसमें १६ रश्मियां हैं। कवि ने इस ग्रन्थ के माध्यम से नीति, सदाचार, चरित्र-निर्माण, लोकनीति, राजनीति, अध्यात्म, ईश्वर-भक्ति आदि विविध विषयों को सरल संस्कृत कविता के माध्यम से व्यक्त किया है। रश्मिमाला में प्रतिपाद्य विषयों की विविधता निम्न सूची से ज्ञात होती है—

प्रथम रश्मि में—**आशा सर्वोत्तमं ज्योतिः, जीवनस्य रहस्यम्, संयतस्य जीवनाय, जयन्ति के जना भुवि, गन्तव्यं शिखरं महत्, इन्द्रोऽहमिन्द्रकर्माहम्, अन्तर्यामिन्, ममैवात्मन् सत्त्ववन्तो महान्तः** ये विषय प्रथम विवेचित हुए हैं।

द्वितीय रश्मि में—**दुःखमीमांसा** शीर्षक से जीवन के प्रति दुःखवाद और निराशावाद की दृष्टि का निरसन करते हुए आशावादी दृष्टि को महत्त्व दिया गया है।

शेष ग्रन्थ में **स्वास्थ्यनियमाः, इन्द्रियसंयमः, जीवनस्य कृतार्थता, कर्ममार्गस्य श्रेष्ठत्वम्, प्रभौ कर्मफलन्यासः, चित्तस्य साम्यावस्था, संयमः सर्वसिद्धीनां मूलम्, ब्राह्मी स्थितिः, आत्मनः स्वरूपम्, दुर्लभं मानुषं जन्म, ओंकारमाहात्म्यम्, आत्मतत्त्वविवेचनम्, परमतत्त्व-साक्षात्कारः, आनन्दानुभूतिः** आदि।

---

१. क्वचिद् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् ॥ नीतिशतक ८२॥

उपर्युक्त शीर्षकों से काव्य के नीति-प्रधान होने का अनुमान लगाया जा सकता है।

आलोच्य काव्य में मुख्यतया अनुष्टुप् छन्द का ही प्रयोग हुआ है परन्तु यत्र-तत्र अन्य छन्दों के प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं। काव्य-प्रणयन में कवि की एक विशिष्ट रचना-प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक विवेचनीय विषय के प्रारम्भ में कवि वेद, उपनिषद् अथवा किसी अन्य आप्त वाक्य को उद्धृत करता है, तत्पश्चात् उसी भाव को विशद करने की दृष्टि से स्वरचित श्लोक लिखता है। पृथक्-पृथक् शीर्षक देकर वह विषयों का पार्थक्य भी सूचित करता रहता है। उदाहरण के लिए, अष्टम रश्मि के अन्तर्गत **'आत्मपरीक्षणम्'** शीर्षक विषय का प्रतिपादन करते हुए कठोपनिषद् की **'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्'**[1] इस श्रुति को उद्धृत किया गया है। पुनः इसकी व्याख्यारूप में कवि ने लिखा, **"इत्येषा श्रुतिरनुसंधेया। तस्याश्च कश्चिदेव धीरो मनुष्य आत्मपरीक्षणे प्रवृत्तो भवतीत्यर्थः। अधःपद्ययोः प्रश्नमुखेनैव आत्मपरीक्षणस्य महिमानमुपवर्णयति।"** इसके पश्चात् प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करने के लिए स्वरचित पद्य दिये गए हैं। आलोच्य काव्य में सर्वत्र इसी शैली का अनुसरण किया गया है।

'रश्मिमाला' में अन्य ग्रन्थों के वाक्यों के आधार पर कतिपय पद्य बनाए गए हैं जो तत्-तत् भाव को विशद करने की दृष्टि से रचे गए प्रतीत होते हैं। यथा गीता के **'युक्ताहारविहारस्य'** ६।१७ इस श्लोक पर आधृत निम्न पद्य द्रष्टव्य है—

तत्राहारविहारेषु तथा स्वप्नावबोधयोः।
व्यापारेषु तथान्येषु युक्तबुद्धिरपेक्षते॥

पञ्चम रश्मि पद्य ३१॥

वस्तुतः रश्मिमाला नीति-विषयक एक श्रेष्ठ काव्य है। आलोच्य काव्य में कई पद्य ऐसे हैं जो सूक्तियों और सुभाषितों की कोटि में रखे जा सकते हैं। ऐसे पद्यों में व्यक्त भावों को अभिव्यक्त करने वाले पद्य हिन्दी में भी पाए जाते हैं। इनका तुलनात्मक अध्ययन पर्याप्त मनोरञ्जक हो सकता है। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

सामर्थ्यभाजां बहवः सहाया
न निर्बलानां भवतीह कश्चित्।

---

१. कठोपनिषद्। २।१।१॥

वह्निं प्रदीप्तं पवनः करोति
दीपं पुनः प्रापयति क्षयं सः ॥

सप्तम रश्मि पद्य ३१॥

यह उक्ति हिन्दी के इस नीति के दोहे का अनुवाद-सी प्रतीत होती है—

सबै सहायक सबल के कोऊ न निबल सहाय।
पवन जगावत आग को दीपहिं देत बुझाय ॥

'पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम्' इस उक्ति पर निम्न पद्य लिखा गया है—

अवाप्य विद्यां विनयेन शून्या
अहंयवो दुर्जनतां व्रजन्ति।
दुग्धस्य पानेन भुजङ्गमानां
विषस्य वृद्धिर्भुवनप्रसिद्धा ॥ सप्तम रश्मि पद्य २६॥

'आग जलने पर कुआ खोदना' इस लोकोक्ति को निम्न प्रकार पद्यवद्ध किया गया है—

अनागतार्थं प्रसमीक्ष्यकारी
संसिद्धिमासादयितुं समर्थः।
वह्निप्रदीप्ते भवने तु कूपं
खनन् हि मूर्खो लभते न किंचित् ॥

सप्तम रश्मि पद्य ४५॥

'रश्मिमाला' की कतिपय सूक्तियां अत्यन्त मार्मिक हैं। यथा—

सत्येन धार्यते लोकः सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्।
नहि सत्यात्परो धर्मो देवाः सत्यमया मताः ॥

सप्तम रश्मि ६५॥

सुरूपमपि निर्गन्धं यथा पुष्पं भवेत्तथा।
परोपदेशकुशलः स्वयमाचारवर्जितः ॥ सप्तम रश्मि ७१॥
वाक्यमेकं प्रयुञ्जीत श्रुत्वा वाक्यद्वयं बुधः।
विधात्रा रचिता यस्माज्जिह्वैका कर्णयोर्द्वयम् ॥

सप्तमरश्मि ८१॥

रश्मिमाला में सूक्ति-तत्त्व की तो प्रधानता है ही, उसमें गीति-तत्त्व भी पाया जाता है। 'सदानन्दो वसाम्यहम्' तथा 'अयि विश्वभावन विश्व-भृद्' शीर्षक गीतियां भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से अत्यन्त मनोहर हैं।

द्वितीय गीतिका में परमात्मा की महिमा अत्यन्त भाव-प्रवण शैली में वर्णित की गई है जो निम्न पङ्क्तियों से स्पष्ट होती है—

अयि विश्वभावन विश्वभृद्
करुणानिधान नमोऽस्तु ते।
महिमा महान् मम मानसे
महनीय देव विभाति ते ।। षोडश रश्मि ११७।।

तृतीय पंक्ति में अनुप्रास का प्रयोग भी द्रष्टव्य है।

इसी गीतिका में परमात्मा की महिमा को प्रकृति के कार्य-कलापों तथा निसर्ग शोभा में सर्वत्र देखा गया है। ऐसे पद्यों में कवि का प्रकृति-पर्यवेक्षण तथा शैली की दृष्टि से पद-योजना का औचित्य विशेष रूप से देखने योग्य है। निम्न उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

गिरिमूर्ध्नि निर्जनकानने रमणीयतैकनिकतने।
तडितां गणैरतिशोभने परिभाति ते महिमा घने।।
षोडश रश्मि ११८।।

तपनातपेन विभासिते गगनाङ्गणे विधुभासिते।
उडुवृन्ददीप्तविचित्रिते तत्र रोचिरेव विरोचते।।
षोडश रश्मि ११९।।

द्विजवृन्द निकूजिते कुसुमावलीपरिशोभिते।
मलयानिलेन सुगन्धिते मृगसंचयेन निषेविते।।
षोडश रश्मि १२०।।

शुभशीतनिर्झरवारिणा सरसीतरे परिपूरिते।
मुनियोगिवृन्दसमर्चिते महिमा विभो! तव भासते।।
षोडश रश्मि १२१।।

'रश्मिमाला' काव्य वेदवाणी (१९५४ ई०) तथा गुरुकुल पत्रिका (२०१९–२०२०) में धारावाही रूप से प्रकाशित हुआ। इण्डियन प्रेस, प्रयाग से पुस्तकाकार भी छपा।

अमृत-मन्थन—उदात्त वैदिक आदर्शों और भावनाओं से परिपूर्ण अमृत-मन्थन' शीर्षक डा० मंगलदेव शास्त्री की काव्य-कृति नीति-उपदेश प्रधान काव्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इसे कवि ने **लक्ष्यानुसन्धान, जीवनपाथेय** तथा **प्रज्ञा-प्रसाद** इन तीन मुख्य भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में मनुष्य जीवन के लक्ष्य पर विचार किया गया है।

इसके अन्तर्गत **ब्रह्मचर्यसंदेशः, व्रतमात्मविशुद्धये, आत्मवत्तागुणोपेता सा शिक्षा ब्रह्मचारिणः, ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम्** तथा **ब्रह्मचारिणः परेश-स्तोत्रम्**—ये पांच रचनायें संकलित हैं। 'ब्रह्मचर्य-संदेश' इस भाग की प्रमुख रचना है। यह घटना मूलक है। इसके मूल पद्य १६०६ में उस समय लिखे गए थे जब कवि को गुरुकुल के पवित्र वातावरण में रहते हुए आदित्य ब्रह्मचारी दयानन्द से ब्रह्मचर्य-विषयक प्रेरणा मिली थी। जीवनपाथेय शीर्षक ग्रन्थ का द्वितीय भाग मुख्यतया नीति-विषयक उदात्त शिक्षाओं से समन्वित है। इसमें **चारित्र्य-शुद्धि, भाव-संशुद्धि, शुभ-संकल्प, सत्य-महिमा, शरीर-स्वास्थ्य, इन्द्रिय-संयम, लोक-नीति, व्यवहार-नीति** जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों का सरस विवेचन किया गया है। मनुष्यों का त्रिविध वर्गीकरण करते हुए कहा गया है—

> **द्राक्षेव केचिद्बहिरन्तरा चा-**
> **न्ये नारिकेलसमं मनोज्ञाः।**
> **सौवीरतुल्या बहिरेव केचिद्**
> **एवं मनुष्यास्त्रिविधा हि लोके॥**

कोई तो द्राखा के समान वाहर और भीतर से मनोरम होते हैं, कोई नारियल के समान केवल भीतर से कोमल होते हैं और कोई वेर के समान केवल वाहर से अच्छे, परन्तु भीतर से कठोर होते हैं।

'प्रज्ञाप्रसाद' शीर्षक तृतीय भाग में आध्यात्मिक विकास की उत्कृष्टतर अवस्था का वर्णन है जब कि जीवन-यात्रा का पथिक विषयासक्ति और क्षुद्र वासनाओं से ऊपर उठकर उस चिन्मय सत्ता के साथ अपने को अद्वैत स्थिति में पाकर कृतकृत्यता का अनुभव करता है।

ग्रन्थ में प्रसाद और माधुर्यगुण का सर्वत्र निर्वाह हुआ है. अतः अर्थावबोध में कठिनाई नहीं होती। काव्य में सूक्तियां सर्वत्र विद्यमान हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—**'अस्वस्थस्य जनस्येह द्राक्षापि विरसायते।'** अस्वस्थ मनुष्य को दाख भी स्वाद में बुरी लगती है। ग्रन्थ का प्रकाशन २०१३ वि० में चौखम्भा विद्याभवन, बनारस से हुआ।

श्रीचैतन्य-नीति शतक—यद्यपि यह ग्रन्थ शतक नाम से अभिहित किया गया है, परन्तु इसमें अब तक ३५० नीति-विषयक पद्य लिखे गए हैं? मनुष्य के लिए नीतिज्ञ होना नितान्त आवश्यक है। नीति-हीन धर्मात्मा भी दुष्टों से पराजय प्राप्त करते हैं, अतः आत्म-संरक्षण हेतु मनुष्य को सदा नीतिमान् होना चाहिये—

नीतिहीनो हि धर्मात्मा दुर्जनैः परिभूयते ।
आत्मसंरक्षणार्थाय सर्वदा नीतिमान्भवेत् ॥

ग्रन्थकार ने नीति-विषयक विविध प्रसंगों की अवतारणा करते हुए लोकनीति, राजनीति, समाजनीति, अर्थव्यवस्था, मानवजीवन की पारलौकिक उन्नति हेतु की जाने वाली अध्यात्म साधना आदि का सरल एवं सरस काव्य-शैली में विवेचन किया है।

पातञ्जल योग दर्शन में उक्त योग की परिभाषा[1] के आधार पर शतककार ने योग का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

योगाभ्यासी जनो नित्यं चित्तवृत्तिनिरोधयेत् ।
चित्तवृत्तिनिरोधस्तु योगाधारः स्मृतो बुधैः ॥१०६॥

निम्न श्लोक में गीता के 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते[2] तथा' की ही भांति ज्ञान की महत्ता स्थापित करते हुए कहा गया है—

ज्ञानाग्निं ज्वालयेन्नित्यं चित्तवृत्तिनिरोधकः ।
सर्वाणि पापकृत्यानि भस्मयेत् ज्ञानवह्निना ॥१०७॥

महाकवि कालिदास ने रघुवंश के प्रारम्भ में रघुवंशी राजाओं की जीवनचर्या का वर्णन करते हुए लिखा—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां
यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां
योगनान्ते तनूत्यजाम् ॥१।८१॥

नीतिशतककार ने आधुनिक लोगों की जीवन-प्रणाली के अनुसार इस पद्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

शैशवे बालक्रीडायां
यौवने विषये रताः ।
वार्धक्ये भयचिन्तायां
दृश्यन्ते प्रायशो जनाः ॥२२८॥

श्री 'चैतन्य' रचित यह नीति ग्रन्थ गुरुकुल पत्रिका में धारावाही रूप से प्रकाशित हो रहा है।

---

१. योगदर्शन १।२॥
२. श्रीमद्भगवद्गीता ४।३७॥

[५] शतक-काव्य

संस्कृत में १०० पद्यों के शतक काव्य लिखने की एक विशिष्ट शैली है। भर्तृहरिकृत नीति, शृङ्गार और वैराग्य के शतकत्रय विश्वविख्यात हैं। 'आर्य-समाज के संस्कृत कवियों ने शतक-शैली को अपना कर कतिपय काव्य लिखे हैं जिनमें मेधाव्रताचार्य के गुरुकुल-शतक और ब्रह्मचर्य-शतक तथा बालकवि केवलानन्द शर्मा का यतीन्द्र-शतक उल्लेखनीय है। यहां इन शतक काव्यों की क्रमशः समालोचना की जाएगी।

ब्रह्मचर्य-शतक[1]—इसकी रचना कवि ने उस समय की थी जब वह गुरुकुल वृन्दावन में सप्तम श्रेणी का छात्र था।[2] निश्चय ही कवि की काव्य-प्रतिभा का स्फुरण किशोरावस्था में ही हो गया था, तभी तो वह उक्त अवस्था में 'ब्रह्मचर्य-शतक' जैसी समर्थ काव्य रचना का उदाहरण उपस्थित कर सका। आलोच्य काव्य में ब्रह्मचर्य की महिमा का सरल शैली में निरूपण किया गया है। प्रारम्भ के १० पद्य मङ्गल के हैं जिनमें कवि परमात्मा, ब्रह्मचर्य के आदर्श स्वामी दयानन्द, गुरुजनों तथा अपने माता-पिता की वन्दना करता है। शेष पद्यों में ब्रह्मचर्य के स्वरूप, उसके पालन के नियमों आदि का विस्तार से वर्णन करते हुए शंकर, हनुमान्, दयानन्द आदि इतिहास-प्रसिद्ध ब्रह्मचारियों के गौरवपूर्ण जीवनों का आख्यान किया गया है। अनेक पुराणेतिहास प्रसिद्ध उपाख्यानों द्वारा ब्रह्मचर्य की महिमा निरूपित की गई है।

आलोच्य काव्य का कलापक्ष – यद्यपि यह काव्य सरल एवं प्रसादगुण युक्त भाषा में लिखा गया है, तथापि वह काव्योचित गुणों से रहित नहीं है। यत्र-तत्र अलंकारों की छटा पाठक के मन को मोहती है। निम्न पद्य में यमक का सौन्दर्य अवलोकनीय है—

> कविवरो विवरो वरवर्णिनां
> कविकृतिं विकृतिं न नयेदयम्।
> वितनुतात् तनु तात ! शिवं शिव !
> गुरुकुले सकले सकलेश्वर ॥ पद्य ९९ ॥

संस्कृत की कतिपय सूक्तियों को कवि ने अपनी अपूर्व काव्य-प्रतिभा के द्वारा विशद किया है। यथा—

'विद्या ददाति विनयम्'—इस सुभाषित का विस्तृत व्याख्यात्मक श्लोक इस प्रकार है—

---

१. शतकं ब्रह्मचर्याख्यं प्रणीतं ब्रह्मचारिणा।
सप्तम्यां पठता श्रेण्यां मेधाव्रतहितैषिणा ॥ ग्रन्थान्त का श्लोक ॥

विद्या ददाति विनयं विनयान्मनुष्यः
पात्रत्वमेति लभते च ततो हिरण्यम् ।
धर्मं ततो विभवतो लभते पवित्रं
प्राप्नोति सौख्यमनिशं प्रचुरं सुधर्मात् ॥
ब्र० श० ४६॥

विद्वत्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥[1]

इस उक्ति को निम्न पद्य में कवि ने अपने ढंग से प्रस्तुत किया है—

सर्वत्र सन्ति गतयो विदुषां जनानां
सर्वत्र यन्त्यपचितिं विबुधा विधिज्ञाः ।
विद्वान्नरो नरपतेः प्रवरः सदैव
यत्पूज्यते जनपतिर्निजराज्य एव ॥ ब्र० श० ५४॥

गुरुकुल चित्तौड़गढ़ के स्नातक ब्रह्मचारी वेदानन्द वेदवागीश ने इस ग्रन्थ की अन्वयपूर्वक हिन्दी टीका लिखी है। 'विरजानन्द संस्कृत परिषद्' की संस्कृत परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में 'ब्रह्मचर्यशतक' को स्थान दिया गया था।

गुरुकुल-शतक—गुरुकुल चित्तौड़गढ़ में निवास करते हुए कवि मेधाव्रताचार्य ने 'गुरुकुल-शतक' की रचना की। इस काव्य की सम्पूर्ण श्लोक संख्या ११६ है। काव्य में मन्दाक्रान्ता, शालिनी, उपजाति, इन्द्रवज्रा, वसन्ततिलका, मालिनी, वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, उपेन्द्रवज्रा, अनुष्टुप्, इन्द्रवंशा आदि वर्णवृत्तों का प्रयोग किया गया है। मङ्गल-श्लोक के अनन्तर गुरुकुल निर्माण का प्रयोजन।, आचार्य के लक्षण, आदर्श गुरुकुल, गुरुकुल निर्माण योग्य स्थान, अध्यापकों के लक्षण और कर्त्तव्य, ब्रह्मचारियों की दिनचर्या एवं रात्रिचर्या, प्राचीनकाल के गुरुकुल, महर्षि दयानन्द का प्रादुर्भाव और गुरुकुलों की पुनः स्थापना, गुरुकुलों की वर्तमान दशा आदि विषयों का वर्णन हुआ है। प्राचीनकाल के गुरुकुलों का वर्णन करते हुए भारत की पुरातन आश्रम प्रधान संस्कृति का जीवन्त चित्र अङ्कित किया गया है। आश्रम वर्णन के प्रसंग में कवि का प्रकृति-पर्यवेक्षण, नैसर्गिक सौन्दर्य के प्रति उसका अनुराग तथा भारत की आरण्यक संस्कृति के प्रति उसकी अगाध निष्ठा दृष्टिगोचर होती है। वसिष्ठाश्रम वर्णन में कवि पर रघुवंश का प्रभाव पड़ा दीखता है। इसी प्रकार कण्वाश्रम वर्णन महाकवि कालिदास के 'शाकुन्तल' का स्मरण कराता है। काव्य

१. चाणक्यनीतिसार संग्रह व्याख्या श्लोक १।

की भाषा सरल, प्रसादगुणोपेता तथा प्राञ्जल है। यत्र-तत्र अनुप्रासादि अलंकारों की योजना ने भाषा के सौन्दर्य में वृद्धि की है। एक ही उदाहरण अलंकार निदर्शनार्थ दिया जाता है—

> कुरङ्गमातङ्गतुरङ्गसंकुलं
> शुकाङ्गनाकोकिलगानमञ्जुलम् ।
> बभौ दशक्रोशमितं तपोवनं
> मृगेन्द्रशार्दूलशृगालगर्जितम् ॥ गु० श० ५४॥

गुरुकुल-शतक का रचनाकाल १९५८ ई० है। गुरुकुल झज्जर के भू० पू० सहायक मुख्याधिष्ठाता वेदव्रत शास्त्री ने इस ग्रन्थ की हिन्दी टीका लिखी है।

यतीन्द्र-शतक—आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द की प्रशस्ति में बालकवि केवलानन्द शर्मा ने १११ पद्यों में 'यतीन्द्र-शतक' काव्य की रचना की। काव्यारम्भ में कवि अपनी तुच्छबुद्धि, अल्प-काव्य-शक्ति और चरित-नायक की महानता का उल्लेख करता हुआ लिखता है—

> क्वचाशान्तं स्वान्तं परमणु महान्तः क्व च गुणाः
> क्व गम्या मे बुद्धिः क्व च परमगम्यो यतिपतिः ।
> क्व सम्मेया वर्णाः क्व च परममेया यतिनुतिः
> तितीर्षाम्यम्भोधिं लघुतरणिश्चञ्चलमतिः ॥ य० श० २॥

कवि की दृष्टि में अब तक संस्कृत कविता नायक और नायिकाओं की विलास-लीलाओं का क्रीड़ा क्षेत्र बनी रही। मदिरेक्षणाओं के उद्दाम क्रीड़ा विलास की रंगभूमि संस्कृत कविता ने शृङ्गार की जो दूषितधारा प्रवाहित की, उसी के प्रायश्चित्त स्वरूप मानो कवि उसे यतीन्द्र दयानन्द की गुणावली का गान करने लिए नियोजित करता है—

> क्षमस्वेदानीं मां कुजठरकृते हन्त कविते !
> पुरो नृत्यं नीता यदसि मदिराघूर्णितदृशाम् ।
> इदं प्रायश्चित्तं परमरमणीये प्रियतमे !
> नियुक्ताऽस्यद्यत्वे त्वमिह मुनिवृन्दारकपदे ॥ य० श० ५॥

कवि की दृष्टि में इस असार संसार में कोई सार की वस्तु है तो वह सुकविता है। यह कविता भी शृङ्गारादि रसों के वर्णन करने के कारण दूषित हो चुकी है। दयानन्द जैसे यति के चरणों में अपनी भाव-पुष्पाञ्जलि अर्पित कर मानो कवि अपनी कविता को सफल बनाना चाहता है—

असारे संसारे यदि किमपि सारं नरतनुः
न मान्द्यं तत्रातस्तदपि ननु सारं सुकविता ।
परं श्रृङ्गाराढ्या न हि तदपि सारो नवतमः
ततोऽयं सारो वै यतिचरणेभ्यः शाश्वतरतिः ॥ य० श० ९ ।

आलोच्य शतक की भाषा ओजगुण युक्त है। उसमें प्रासादिकता का अभाव है। अनुप्रास की छटा यत्र-तत्र काव्यसौन्दर्य की वृद्धि का कारण बनी है। यथा—

अनुप्राणनिकुञ्जानां पुञ्जे क्वचिदपि च लीने हि तमसि
ज्वलज्ज्वालाजालज्वलितविषमा घोरनयने ।
क्षुधाज्वालाप्लुष्टाकुटिलहृदया भोगपटले
महोच्चे सम्मेघेष्विव नदति विक्षोभगहरौ ॥ य० श० ५२।

[६] स्तोत्र-काव्य

संस्कृत काव्य में स्तोत्रों का अपना महत्त्व है। स्तोत्र-साहित्य संस्कृत में प्रचुरमात्रा में उपलब्ध होता है। विभिन्न पौराणिक देवी-देवताओं की स्तुति और प्रशस्ति में जो विशाल स्तोत्र-वाङ्मय निर्मित हुआ, वह विषय-वैविध्य और प्रस्तुतीकरण दोनों दृष्टियों से अद्वितीय है। स्तोत्र-साहित्य का मूल वेदों में ही ढूढ़ा जा सकता है, जिसमें अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवताओं की स्तुति में सूक्तों का प्रवचन हुआ है । रामायण, महाभारत और पुराणों में विभिन्न देवता विषयक स्तोत्र बिखरे पड़े हैं। स्फुट स्तोत्रों का भी एक विशाल भण्डार है, जिसका सम्यक् समीक्षण अभी भविष्य की वस्तु है ।

आर्यसमाज एकेश्वरवाद का पोषक है। आर्यसमाज के प्रवर्तक ने ईश्वर की निराकार उपासना पर जोर दिया। अतः आर्यसमाजी कवियों ने जो स्तुति काव्य लिखा वह निराकार ईश्वर के स्तवन में ही लिखा।

अभिनवमहिम्न-स्तोत्र—आर्यसमाज के प्रारम्भिक काल के एक संस्कृत कवि पं० देवीचन्द्र शास्त्री ने 'अभिनव महिम्न—स्त्रोत्र'[1] शीर्षक से शिव-भक्तों में प्रसिद्ध 'शिवमहिम्न-स्तोत्र' के अनुकरण पर एक स्तोत्र ग्रन्थ लिखा। दशाब्दियों तक यह अनुपलब्ध रहा। इसकी कुछ जीर्ण-शीर्ण प्रतियां इस शोध-प्रबन्ध के लेखक को जसवन्त कालेज, जोधपुर के रसायन विभाग

---

१. यद्यपि पुस्तक के मुख पृष्ठ पर इसे 'महिम्न-स्तोत्र' ही कहा गया है, परन्तु अध्यायान्त की पुष्पिका में कवि इसे 'अभिनवमहिम्न-स्तोत्र' की संज्ञा प्रदान करता है।

के भण्डार गृह में जोधपुर विश्वविद्यालय के रसायन शास्त्र के रीडर डा० नवलकिशोर माथुर के सौजन्य से १९५९ में उपलब्ध हुईं। यह स्तोत्र संवत् १९५३ वि० के ज्येष्ठमास में फर्रुखाबादस्थ गोधर्म-प्रकाश यंत्रालय में मुद्रित हुआ है। इसके लेखक देवीचन्द्र शास्त्री जोधपुर की वैदिक पाठशाला के प्रथमाध्यापक थे तथा उन्हें जोधपुर राज्य के तत्कालीन प्रधान-मन्त्री महाराजा सर प्रतापसिंह से सन्मान प्राप्त हुआ था। यह तथ्य पुस्तक के मुख्य पृष्ठ पर लिखी सूचना से ज्ञात होता है। महाराजा के गुरु स्वामी प्रकाशानन्द ने यह स्तोत्र प्रकाशित कराया था।[1]

अभिनव महिम्न-स्तोत्र में कुल ४२ पद्य हैं। सुललित शिखरिणी छन्दों में निराकार परमात्मा का स्तुति-गान कवि का उद्देश्य है। इस स्तोत्र में काव्यगुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान है, यह निम्न उद्धृत पद्य से ज्ञात होता है—

प्रभावस्यान्तं ते गुणगणगरिष्ठाः कविवराः
पराविद्यादातुः सुरमुनिनरा गातुमुत न।
कथं स्तोतुं शक्तोजडमतिनरोऽयं हतवचास्
तथापि स्वां वाचं सफलयितुमेवं कथयतु ॥ अ०म०१।

न्यायदर्शन में कथित उदाहरणों से जगत् रचयिता परमात्मा की सिद्धि होती है। कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया जाता है। यह विचार निम्न पद्यों में व्यक्त किया गया है—

यथा धूमेनाग्निर्ह्यनुमितिपदं तर्करसिको
घनोन्नत्या वृष्टिं घटपटमठैश्चापि रचकम्।
तथानन्तां दृष्ट्वा नरपशुलताद्यैश्च सहितां
त्रिकालाबाध्यान्तेऽनुमितिमपि कार्यात्कथयति ॥ अ०म० ६।

भक्त कवि को प्रभु के अपार करुणा के सागर होने का विश्वास है तभी तो वह अपनी अज्ञता, दीनता तथा भगवान् की शरणागत-वत्सलता का उल्लेख करता हुआ कहता है—

न जानामि ध्यानं न च चरणसेवां तव विभो
न सांख्यं योगं वा न च वरदवेदादिकमपि।

---

२. श्रीम-महाराजाधिराज श्री १०५ कर्नल सर प्रतापसिंह जी के० सी० एस० आई० ए० डी० टू० एच० आर० एच० दि प्रिन्स आफ वेल्स महोदयधीरवीरतोऽनेकधाऽप्राप्तप्रतिष्ठेन योधपुरीयवैदिकपाठशालायाः प्रथमाऽध्यापकेन पण्डितदेवीचन्द्रशास्त्रिणा निर्मितम्। तदिदं श्री १०८ मत्प्रकाशानन्दसरस्वतीस्वामिना प्रकाशितम्।

महामूढो दीनस्तदपि करुणां वीक्ष्य भुवि ते
मनो मे प्रत्येति प्रभुकरुणया त्यक्ष्यति न माम् ॥

अ० म० ३१ ।

यहां पुष्पदन्ताचार्य कृत शिवमहिम्न-स्तोत्र से इस अभीनव महिम्न की तुलना करना समचीन होगा । जिस प्रकार पुष्पदन्त यजुर्वेद रुद्राध्याय के नमस्कारान्त मन्त्रों का अनुकरण करता हुआ अपने आराध्य देव भगवान् शिव को अपना प्रणाम निवेदित करता है उसी प्रकार अभिनव महिम्न का कवि भी नमस्कार के कतिपय पद्य रच कर परमात्मा के प्रति अपनी प्रणति व्यक्त करता है । निम्न पद्यों की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है—

शिवमहिम्न का पद्य—

नमो नेदिष्ठाय प्रियवदवरिष्ठाय च नमो
नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः ।
नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयनयविष्ठाय च नमो
नमः सर्वस्मै ते तदिदमिति शर्वाय च नमः ॥ शि०म० २९ ।

इसकी तुलना में अभिनव महिम्न का पद्य—

नमस्ते नित्याय प्रभुवर महिष्ठाय च नमो
नमोन्तःस्थात्रे ते शिवशिवतरायातिमहते ।
नमोभूतेशाय त्रिभुवनभवित्रे भवपते
नमो योगेशाय स्वजनसुखदायास्तु शतशः ॥ अ० म० ३३ ।

शिवमहिम्न का वह पद्य जिसमें कवि अपने आराध्य की महिमा का गायन शारदा द्वारा भी असम्भव मानता है, अभिनव महिम्न के उसी प्रकार के पद्य से तुलनीय है जिसमें कहा गया है कि यदि भूतल के समस्त वृक्षों की लेखनी बनाई जाय, समुद्र को मसिपात्र बनाया जाय तथा पृथ्वी को ही कागज बनाया जाय तथा सारे देवता लेखक बन कर प्रभु के गुणों को लिखने बैठें तब भी वे ईश्वर के गुणों का पार नहीं पा सकते । दोनों पद्य निम्न हैं—

शिवमहिमा का पद्य—

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखालेखिनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥ शि०म० ३२ ।

इस पद्य की तुलना में अभिनव महिम्न का पद्य—

यदि भूतलवृक्षा लेखनीस्थानमीयुर्
उदधिमसिपात्रं पत्रमेवं धरा चेत् ।
सकला अथ देवा लेखकाः स्युः सदैव
तदपि च गुणसंघस्यान्तमेष्यन्ति ते न ॥ अ० म० ३९ ।

शिवमहिम्न के तुल्य ही[1] स्तोत्रान्त में कवि ने ग्रन्थ-पाठ की महिमा का उल्लेख करते हुए लिखा है—

प्रतिदिनमनवद्यं शाम्भवं स्तोत्रमेतद्
यदि पठति नितान्तं निर्मलान्तो मनुष्यः ।
परमपदमभीष्टं प्राप्य नित्यं रमेत
भवभयपरिमुक्तो मुक्त एवात्र लोके ॥ अ० म० ४० ।

इससे आगे वाले श्लोक में कवि ग्रन्थकार के रूप में अपना नामोल्लेख करता है—

देवीन्द्रकास्यकमलादिह निःसृतेन
स्तोत्रेण पापशमनेन सुधासमेन ।
सार्थं मुदा सुपठितेन समाहितेन
प्रीतो भवत्यनुदिनं जगतामधीशः ॥ अ० म० ४१ ।

शिवमहिम्न का ग्रन्थ माहात्म्य कथन वाला निम्न श्लोक भी अभिनव-महिम्न के उसी प्रकार के श्लोक से तुलनीय है—

शिवमहिम्न का श्लोक—

महेशान्नापरो देवो महिम्नो नाऽपरा स्तुतिः ।
अघोरान्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ॥
शि० म० ३५ ।

अभिनव महिम्न में भी उक्त श्लोक में किंचित् परिवर्तन कर कवि ग्रन्थ का माहात्म्य निरूपित करता है—

ओंकारान्न परो मन्त्रो महिम्नो न परा स्तुतिः ।
ईश्वरान्न परं किञ्चिद्विद्या वेदात्परा न च ॥
अ० म० ४२

---

१. शिवमहिम्न के फलश्रुति वाले निम्न श्लोक से तुलनीय—
अहरहरनवद्यं धूर्जटेः स्तोत्रमेतत्
पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमान् यः ।
स भवति शिवलोके रुद्रतुल्यस्तथाऽत्र
प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान् कीर्तिमांश्च ॥ शि० म० ३४ ।
दोनों श्लोकों में शब्दों का ही भेद है ।

आर्यचर्पटपञ्जरिका-स्तोत्रम्—शंकराचार्य कृत सुप्रसिद्ध चर्पटपञ्जरिका-स्तोत्र के अनुकरण पर एक 'आर्यचर्पटपञ्जरिका-स्तोत्र' की रचना किसी अज्ञातनामा आर्यसमाजी कवि ने की है। यह स्तोत्र मेरठ से प्रकाशित होने वाले वेदप्रकाश मासिकपत्र के जून १९१७ ई० के अंक में प्रकाशित हुआ है। मूल स्तोत्र के साथ साथ हिन्दी काव्यानुवाद भी दिया गया है। स्तोत्र का प्रथम पद्य और उसका काव्यानुवाद उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

> भज विश्वेशं भज विश्वेशं भज विश्वेशं मूढमते।
> प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे॥
>
> मति मूरख विश्वेश को भजहु दिवस और रातु
> अन्त काल नहि रक्षि है डुकृञ् करणे धातु॥

अष्टोत्तरशतनाम-मालिका[1]—स्वामी दयानन्द ने अपने प्रमुख ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के प्रथम तथा परिशोधित दोनों संस्करणों के प्रथम समुल्लास में वेदादि शास्त्रों के आधार पर ईश्वर के १०० नामों का उल्लेख करते हुए उनका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ दर्शाया है। पं० विद्यासागर शास्त्री, वेदालंकार ने दोनों संस्करणों में कुछ भेद से पठित समस्त १०८ नामों को पद्य बद्ध कर एक सुन्दर स्तोत्र का रूप दे दिया है। जिस प्रकार पौराणिक साहित्य में विष्णुसहस्रनाम, सूर्यसहस्रनाम आदि ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उसी शैली पर यह पद्य बद्धा 'अष्टोत्तरशतनाम-मालिका' संग्रथित की गई है। निम्न दस श्लोकों में स्तोत्रकार ने परमात्मा के ये १०८ नाम गिनाये हैं—

> ओमजः कविराचार्य आदित्यः परमेश्वरः।
> प्रजापतिरनन्तश्च परमात्मा पितामहः॥१॥
>
> दयालुर्दिव्य आकाशो न्यायकारी बृहस्पतिः।
> ब्रह्म ब्रह्मा महादेवः सविता सत्य ईश्वरः॥२॥
>
> शुक्रः शुद्धः खमानन्दः शिवः शक्तिः शनैश्चरः।
> शंकरः शेष आत्मा च प्राणः प्राज्ञः सरस्वती॥३॥
>
> मातरिश्वा च माता च मनुर्भूमिरुरुक्रमः।
> वायू रुद्रो यमो यज्ञो वरुणः श्रीविराड् वसुः॥४॥
>
> अग्निरत्ता तथाद्वैतम् अनादिर्निर्गुणः प्रियः।
> सगुणः सत् सुपर्णश्चाप्यन्तर्यामी बुधस्तथा॥५॥

---

१. भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर से २०२० वि० में प्रकाशित।

चन्द्रश्चिन्मित्रमाप्तश्च गरुत्मान् सर्वशक्तिमान् ।
स्वयम्भूर्भगवान् होता पुरुषः प्रपितामहः ॥६॥

अक्षरस्तैजसो बन्धुः देवः देवी निरञ्जनः ।
नित्यो नारायणः सूर्यः विश्वो विश्वम्भरः पिता ॥७॥

कालः कालाग्निरन्नाद इन्द्रो गणपतिर्गुरुः ।
अन्नं ज्ञानं जलं राहुः कूटस्थः पृथिवी स्वराट् ॥८॥

सर्वपूर्वो जगत्कर्ता मुक्तः लक्ष्मीश्च मङ्गलम् ।
बुद्धो हिरण्यगर्भोऽयं कुबेरो केतुरर्यमा ॥९॥

अचिन्त्यः धर्मराजश्च निराकारस्तथैव च ।
विष्णुर्विश्वेश्वरश्चैव कीर्त्यतेऽयं जगत्प्रभुः ॥१०॥

स्तोत्रकार ने अष्टोत्तरशतनाम-मालिका के पाठ का फल निम्न पद्यों में बताया है—

प्रोक्तमेतत् प्रभोर्नाम्नामष्टोत्तरशतं पुनः ।
कीर्तयन् स्मरणं कुर्वन्नेभिर्ध्यायंस्तथैव च ॥
भगवन्तं जगन्मूर्तिं भुक्तिमुक्तिप्रदं प्रभुम् ।
मनः शुद्धिमवाप्नोति लभते च परं पदम् ॥

अरविंदाश्रम पाण्डिचेरी के श्री जगन्नाथ वेदालंकार ने वैदिक देवताओं के आध्यात्मिक स्वरूप का निरूपण करते हुए **देवता-स्तोत्र** लिखा। श्री साम्बदीक्षित ने पौराणिक सहस्रनाम शैली का अनुकरण करते हुए **'अग्नि-सहस्रनाम-स्तोत्र'** की रचना की। ये दोनों रचनायें गुरुकुल-पत्रिका के वर्ष २० अंक १२ (वेदांक) तथा चैत्र २०२४ एवं भाद्रपद-आश्विन २०२४ वि० के अंकों में क्रमशः प्रकाशित हुई हैं।

लहरी-काव्य—

पण्डितराज जगन्नाथ की 'गङ्गालहरी' संस्कृत साहित्य में एक भक्तिपूर्ण सरस रचना है। गङ्गालहरी की रचना के अनन्तर संस्कृत साहित्य में 'लहरी-काव्य' रचने की भी एक विधा प्रचलित हो गई। उसी के अनुरूप आर्य विद्वानों ने भी कुछ लहरी-काव्य लिखे हैं। यथा—

पं० अखिलानन्द शर्मा रचित दयानन्द-लहरी—पं अखिलानन्द शर्मा ने गङ्गालहरी के अनुकरण पर ६३ शिखरिणी छन्दों में दयानन्द-लहरी नामक एक ललित काव्य की रचना की। यह काव्य २५ अक्टूबर १९०६ को

लिखा जाना प्रारम्भ हुआ और ठीक एक मास पश्चात् २५ नवम्बर १६०६ को समाप्त हुआ। इसका द्वितीय संस्करण १६२४ ई० में महर्षि दयानन्द की जन्मशताब्दी के पूर्व स्वामी प्रेस मेरठ से प्रकाशित हुआ। इस संस्करण में मूल कविता के साथ-साथ 'मनोमोदिनी' नामक भाषा टीका भी दे दी गई है। अपनी सुन्दर, ललित तथा मनोमुग्ध-कारिणी शैली के कारण यह काव्य ग्रन्थ सहृदय काव्य-रसिकों का कण्ठहार बन गया है। काव्य की सरसता अनूठी है, जिसका उदाहरण निम्न पद्य है—

अभूदेकः श्रीमानखिलगुणधामा त्रिजगतां
प्रदीपो भूभाग्यादिव जगति कश्चिद्यतिवरः।
दयानन्दो येन प्रकृतिवशतो देशविषये
कृतो वेदस्यैव प्रतिपदविभागः स जयतात्॥ द० ल० १।

स्वामी दयानन्द के कार्य का विस्तार पूर्वक उल्लेख करते हुये कवि उनके अद्वितीय व्यक्तित्व का वर्णन करता है—

मतैराविष्टानामधमपुरुषाणामनुगमैः
समन्तादाविष्टं विषयमिममार्तस्वरपरम्।
ऋते योगीशात् कः शिशुमिव दयोद्रेकभरणात्।
समुद्धर्तुं शक्तो वदत मनुजाः! साम्प्रतमिदम्॥
द० ल० ४२।

नाना मतों में फंसे हुए नीच पुरुषों से आक्रान्त इस दीन भारतवर्ष को अपनी दया के आवेश से पुत्रवत् पालन के लिए स्वामी दयानन्द से भिन्न कौन सा पुरुष कटिबद्ध हुआ?

काव्यगुण—भाव, भाषा, अलंकार, रस, सभी दृष्टि से दयानन्द-लहरी एक सफल काव्य-कृति है।

मेधाव्रत रचित दयानन्द-लहरी—कविरत्न मेधाव्रताचार्य ने 'गङ्गा-लहरी' के ही अनुकरण पर दयानन्द-लहरी की रचना की। इसका प्रथम संस्करण स्वामी दयानन्द की जन्मशताब्दी के अवसर पर १९२५ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें कुल ५२ श्लोक हैं, जिनमें से ४६ शिखरिणी तथा शेष स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित तथा उपजाति छन्द के हैं। इस काव्य पर श्री गुरुकुल चित्तौड़-गढ़ के ब्रह्मचारी सत्यव्रत व्याकरणाचार्य ने संस्कृत भाषा में 'सुषमा' नामक टीका लिखी है जो २०१४ वि० में प्रकाशित हुई। टीका में प्रत्येक श्लोक का अन्वय, संस्कृत भावार्थ, कोष, समास तथा व्याकरण विषयक टिप्पणियां देकर

हिन्दी में भावार्थ भी दिया गया है। सम्पूर्ण काव्य ओज तथा प्रसादगुण के अतिरिक्त वामन-प्रतिपादित सौकुमार्य[1] और कान्ति[2] आदि गुणों से युक्त है। शब्द-सौष्ठव तथा अलंकार-योजना की दृष्टि से भी दयानन्दलहरी एक सफल काव्य-कृति मानी जा सकती है।

दयानन्दलहरी के प्रारम्भ में ईश्वर-स्तुति के मङ्गल-श्लोक के अनन्तर कवि ने चरितनायक का जलधर, चन्द्र[3], सिंह[4], वैद्य[5] तथा सेनापति[6] के रूप में साङ्गरूपक-योजना के अनुसार वर्णन किया है। रूपक-योजना में कवि को कितनी सफलता मिली है यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा—

अविद्यावातालीजनितमतदावानलकुलैः
अशेषं संसारं कवलितमसारं वनमिव।
गृहीतैर्गम्भीरान्निगमजलधेर्बोधसलिलैः
दयानन्दाम्भोदो जयति शमयन्नेष रुचिरः॥
द० ल० ३॥

अविद्यारूपी आंधी से उत्पन्न हुए अनेक मतरूपी दावानल सारे असार संसाररूपी महारण्य को भस्म कर रहे हैं, इसको गम्भीर वेदमहासागर से ग्रहण किये हुए बोधरूपी जलों से शान्त करता हुआ यह सुन्दर दयानन्दरूपी मेघ विजयलक्ष्मी प्राप्त कर रहा है।

शेष पद्यों में कवि ने स्वामी दयानन्द द्वारा किये गए धर्म-शोधन, देशोन्नति तथा समाज-सुधार के कार्यों का विवरण उपस्थित करते हुए चरितनायक के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है।

काव्य के उपसंहार में कवि स्वयं अपने काव्य के विषय में शुभाशंसा व्यक्त करते हुए कहता है—

---

१. विलीनानां प्रायो व्यथितनिगमानां य उदयं
चलं धर्मैश्वर्यं पुनरपि पदं पूर्वमनयत्।
स्वतन्त्रत्वस्येमं भुवि विमलभावं प्रथितवान्।
दयानन्दं वन्दे किमिव न तमानन्दजनकम्॥ द० ल० २४॥

२. आनन्दिताशेषबुधान्तरङ्गा—सद्यः कृतानाथजनार्तिभङ्गा।
दयोत्तरङ्गा मुनिसूक्तिगङ्गा—ममान्तरङ्गाण्यमली करोतु॥ द० ल० ५१॥

३. द० ल० ४॥

४. ,, ५॥

५. ,, ६॥

६. ,, ३६॥

ममास्यै कान्तायै मधुरकवितायै रसझरी-
प्रदात्री तस्या वा नवनवगुणोन्मीलनकरी।
दयानन्दस्येयं सुकृतसरसो वायुलहरी
सदृश्यानन्दं सा वितरतु दयानन्दलहरी ॥

द० ल० ५१॥

मेरी इस मधुर, प्रिय और मनोहर कविता को प्रेम अथवा भक्तिरस प्रदान करने वाली और उसमें नये-नये गुणों का विकास करने वाली महर्षि दयानन्द के पुण्यकर्म-रूपी सरोवर से उत्पन्न हुई यह दया और आनन्द की लहर की तरह सब जनों को आनन्द देने वाली हो।

दयानन्दलहरी की कतिपय सूक्तियां अत्यन्त सरस और स्मरणीय हैं—

गुरोर्विद्या यस्मिन् फलति स हि शिष्यः प्रियतमः॥

द० ल० १४॥

महात्मा धर्मार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् ॥[1]

द० ल० ४४॥

दिव्यानन्दलहरी—लहरी शैली का 'दिव्यानन्द-लहरी' नामक एक अन्य काव्य भी मेधाव्रताचार्य ने लिखा है। इस काव्य की 'शर्मदा' टीका ब्रह्मचारी सत्यव्रत शास्त्री व्याकरणाचार्य ने लिखी है, जो गुरुकुल चित्तौड़गढ़ से २०१५ वि० में प्रकाशित हुई। टीका में मूल श्लोक का अन्वय देकर हिन्दी में भावार्थ दिया गया है तथा पद्य में आए संदर्भों का स्पष्टीकरण करने के लिए शास्त्रीय प्रमाण भी एकत्र कर दिये गये हैं।

दिव्यानन्दलहरी में ५२ शिखरिणी छन्द हैं। अन्तिम छन्द में काव्य रचना का प्रयोजन बताते हुए कवि कहता है—

अबोधानां सत्येश्वरविषयबोधोत्सवकरी
कवीन्द्राणां काव्यामृतरसविदां तोषणकरी।
मुनीनामन्येषामपि समदृशां मानसहरी
कृता दिव्यानन्दामलजलझरीश्लोकलहरी ॥

दि० ल० ५२॥

श्रेय मार्ग से दूर भटकते हुए जनों को सत्यस्वरूप परमेश्वर-विषयक ज्ञान द्वारा आनन्दित करने वाली, काव्यामृत रस के रसज्ञ कवीन्द्रों को सन्तोष

१. तुलनीय—
'मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम्'।
भर्तृहरिकृत नीतिशतक पद्य सं० ८२।

देने वाली तथा प्राणिमात्र को समान भाव से देखने वाले मुनिगणों तथा अन्य विद्वानों के मन को हरने वाली ब्रह्मानन्द के पवित्र रस को वहाने वाली ये श्लोकरूपी तरंगें मैंने निर्माण की हैं।

प्रस्तुत काव्य में ईश्वर-महिमा, ईश्वर का विराट् स्वरूप, ईश्वर की मनुष्य के प्रति कृपायें, अध्यात्म-तत्त्व (देह का रथ और अयोध्या नगरी का रूपक), विषयों की निस्सारता, सत्संग की आवश्यकता, ईश्वर-पूजा का माहात्म्य, परमात्मा की व्यापकता तथा प्रभु-प्राप्ति का मार्ग, अष्टाङ्गयोग तथा उसका फल मुमुक्षु योगी की दिव्यानन्द-प्राप्ति की अभिलाषा आदि विषयों का सुन्दर वर्णन किया गया है। वैराग्य की भावना को उत्पन्न करने में ये श्लोकरूपी लहरियां शंकराचार्य कृत प्रश्नोत्तरी तथा चर्पटपञ्जरिका स्तोत्र के तुल्य हैं।

कवि ने वेद, उपनिषद् आदि अध्यात्म-शास्त्रों के महत्त्वपूर्ण वचनों को अपने काव्य में गुम्फित करने का सराहनीय प्रयास किया है। निम्न उदाहरणों से यह बात सिद्ध हो जायगी—

दिने सूर्यश्चन्द्रो निशि भगवतो यस्य नयने
शिरो द्यौर्यस्यादो वदनमनलोऽङ्घ्री च पृथिवी।
जगत्प्राणः प्राणा गगनमुदरं त्वङ् निगमगीर्-
दिशो यस्य श्रोत्रे वपुरपि जगत्तं यज मनः॥
दि० ल० ५॥

इस श्लोक में अथर्ववेद के निम्न मन्त्रों के भावों को देखा जा सकता है—

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
१०।७।३३॥

यस्य वातः प्राणपानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
१०।७।३४॥

कठोपनिषद् में रथ और सारथी के रूपक[1] से जीव और शरीर का जो वर्णन हुआ है, उसे कवि ने निम्न श्लोक के रूप में काव्यबद्ध किया है—

रथी त्वं जीवात्मा वपुरथ रथस्सारथिरियं
मनीषा प्रग्रहो मन इदमथाक्षाणि तुरगाः।

---

१ आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ कठोपनिषद् १।३।३॥

हृषीकार्था मार्गास्तव विषयिणो ब्रह्म चरमं
महल्लक्ष्यं तस्माद् विरम विरमास्माद् भवभयात् ॥
दि० ल० ८॥

अथर्ववेदोक्त अयोध्यापुरी[1] (शरीर का रूपकात्मक वर्णन) को कवि ने इस श्लोक में वर्णित किया है—

अयोध्या पूः कायः करणनिकरो निर्जरगणस्
त्वमिन्द्रो जीवात्मा हृदयनिलये भासि विभुना।
नवद्वारा सेयं कलयति च चक्राष्टकमलं
प्रभाकोशस्तस्यां कनकरुचिरस्स्वर्ग इव ते ॥
दि० ल० ११॥

[८] काव्य-मय अनुवाद

अब तक जिन काव्य-कृतियों का विचार हुआ वे कवियों की मौलिक कृतियां हैं। आर्यसमाज के काव्यप्रतिभा-सम्पन्न विद्वानों ने विभिन्न कृतियों का काव्यमय अनुवाद भी किया है। किसी कृति का काव्यमय अनुवाद अनुवाद-कर्ता की प्रतिभा की परीक्षा तो है ही, उससे यह भी पता लग सकता है कि मूल रचना के भावों को सुरक्षित रखने का कितना प्रयास अनूदित रचना में किया गया है। यहां कतिपय ऐसी ही कृतियों का विचार किया जायगा।

मेधाव्रताचार्य ने मौलिक काव्य कृतियों के प्रणयन के साथ-साथ ईशोपनिषद् (यजुर्वेद का ४०वां अध्याय)[2] तथा अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त (काण्ड ११ सूक्त ५) का काव्यानुवाद किया।

ईशोपनिषत्काव्य—उपनिषदों में सर्वप्रथम गणनीय ईशोपनिषद् को कवि ने ललित छन्दों में निबद्ध कर उपनिषदों के दार्शनिक चिन्तन को रुचिर और मधुर काव्य का रूप प्रदान किया है। सम्पूर्ण अनुवाद ४० छन्दों में समाप्त हुआ है। मन्त्रों के काव्यानुवाद में मालिनी, स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता, इन्द्रवज्रा, उपजाति, शार्दूलविक्रीडित, वंशस्थ, वसन्ततिलका, इन्द्रवंशा आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं। मन्त्र को पद्य का रूप प्रदान करते हुए इस बात का ध्यान रखा गया है कि मन्त्रगत भाव का स्पष्टीकरण हो सके और पाठक पद्यगान का आनन्द भी उठा सकें। उपनिषद के प्रथम मन्त्र **'ईशा वास्यमिदं सर्वं'** का

---

१. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ अथर्ववेद १०।२।३१॥

२. किंचित् परिवर्तन के साथ।

मन्दाक्रान्ता छन्द में निम्न अनुवाद इस बात को सिद्ध करने लिए द्रष्टव्य है—

ईशा वास्यं जगदिदमहो ! यच्च किञ्चिज्जगत्यां
भुञ्जीथास्त्वं सहवितरणैस्तेन देवेन दत्तम् ।
कस्मिल्लक्ष्मी स्थिरतरपदा त्वन्यतो मा गृधस्तां
भद्रादेशं जयतु वितरन् देवसंदेश इत्थम् ॥१४॥

अनूदित छन्द में मूल मन्त्र के कतिपय पदों का ज्यों-का-त्यों प्रयोग विशेषतया उल्लेखनीय है।

ब्रह्मचर्य-महत्त्व—अथर्ववेदोक्त ब्रह्मचर्य सूक्त के २६ मन्त्रों की यह छन्दोवद्ध व्याख्या है। वेदमन्त्रों का यह काव्यानुवाद कवि की उत्कृष्ट प्रतिभा का परिचायक है। काव्य की भूमिका के रूप में कवि ने दो अनुष्टुप् छन्दों में अपने अभिप्राय का प्रकाशन करते हुए लिखा है—

ब्रह्मणा संप्रणीतानां छन्दसां भावमाहरन् ।
छन्दोभिर्विविधैर्वक्ष्ये लौकिकैरप्यलौकिकम् ॥
कुमारीणां कुमाराणां काव्यं कल्याणकारकम् ।
ब्रह्मचर्य-महत्त्वाख्यं ब्रह्मचारिनिदर्शनम् ॥ ब्र० म० ११२॥

परब्रह्म प्रणीत अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड के पञ्चम सूक्त गत मन्त्रों का अलौकिक भाव ग्रहण करता हुआ मैं जगत् प्रसिद्ध ब्रह्मचारियों के दृष्टान्तों सहित कुमार-कुमारियों के हितार्थ 'ब्रह्मचर्य-महत्त्व' नामक काव्य का भिन्न-भिन्न लौकिक छन्दों में प्रणयन करूंगा।

सम्पूर्ण काव्य में १६४ छन्द हैं। इस काव्य की हिन्दी टीका पं० वेदानन्द वेदवागीश (स्नातक गुरुकुल चित्तौड़गढ़) ने की है तथा यह ग्रन्थ विश्वम्भर वैदिक पुस्तकालय, गुरुकुल झज्जर से २०१२ वि० में प्रकाशित हुआ है।

वेदमन्त्रों को छन्दोवद्ध करने में कवि को अद्भुत सफलता मिली है। निम्न उदाहरण से इस कथन की सिद्धि हो जाएगी। सूक्त के प्रथम मन्त्र का पद्यानुवाद कवि ने इस प्रकार किया है—

मन्त्र—

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे
तस्मिन् देवाः सम्मनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवं च
स आचार्यं तपसा बिभर्ति ॥ अथर्व० ११।५।१॥

इस मन्त्र का मन्दाक्रान्ता छन्द में कवि ने इस प्रकार उपबृंहण किया—

ब्रह्मान्विष्यन् विचरति दिवि ब्रह्मचारी भुवीव
तस्मिन् देवाः समसुमनसः सानुकूला भवन्ति।
प्रज्ञाशक्त्या दिवमथ महीञ्चान्तरिक्षं बिभर्ति
पूज्याचार्यं प्रखरतपसाऽयं प्रदीप्तः पिपर्ति ॥
ब्र० म० ७॥

अनुवाद में कवि ने अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपजाति, वसन्ततिलका, मन्दाक्राता, शार्दूल-विक्रीडित, शालिनी, इन्द्रवंशा, वंशस्थ, मालिनी, सुन्दरी आदि छन्दों का प्रयोग किया है।

काव्य में यत्र-तत्र अनुप्रास, रूपक आदि अलंकारों के प्रयोग से भाषा और भाव-सौन्दर्य में अद्भुत वृद्धि हो गई है जो निम्न उदाहरणों से स्पष्ट है।

निम्न छन्द में अनुप्रास का सुन्दर प्रयोग हुआ है—

विजितरुचिरकामं सत्यकामं प्रकामं
परमपरशुरामं ब्रह्मचर्याभिरामम्।
द्विजसरसिजहंसं विप्रवंशावतंसं
प्रमदनृपतिकालं को न वेदर्षिबालम् ॥
ब्र० म० १३२॥

साङ्गरूपक का निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

ततोऽनिशं वर्षति वर्णिवारिदः
सवेदनादं जनताम्बरे लसन्।
निपीय तद् बोधजलं ह्यलं जनो
विमुच्यते भोगजरोगसंकटात् ॥ ब्र० म० १२५॥

सरस, भावपूर्ण तथा प्रसादगुणोपेता शैली में मन्त्रों का यह काव्यानुवाद कवि की उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभा का द्योतक है। १२५ छन्दों में मन्त्रों की अनुवादयुक्त व्याख्या को समाप्त कर शेष ३९ छन्दों में कवि ने सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन, शंकर, शुक्राचार्य, दत्तात्रेय, शुकदेव, भारद्वाज, हनुमान्, भीष्म, शंकराचार्य, समर्थगुरु रामदास, स्वामी विरजानन्द, स्वामी दयानन्द आदि इतिहास प्रसिद्ध ब्रह्मचारियों तथा आर्यसमाजस्थ स्वामी नित्यानन्द, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, स्वामी आत्मानन्द, स्वामी व्रतानन्द, पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पं० शंकरदेव, आचार्य भगवान्देव तथा राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री आदि नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के प्रोज्ज्वल चरित्र का कीर्तन किया है।

स्वामी दयानन्द रचित 'व्यवहारभानु' का काव्यानुवाद—बालकों में नैतिक तथा सदाचार-मूलक प्रवृत्तियों को जागृत करने की दृष्टि से स्वामी दयानन्द ने **'व्यवहारभानु'** नामक एक हिन्दी ग्रन्थ लिखा था। इसमें अनेक सुन्दर और रोचक दृष्टान्तों द्वारा लेखक ने बालकों को धर्म, सभ्यता, उचित व्यवहार तथा सदाचार, शिष्टाचार और विद्याध्ययन का महत्त्व बतलाया है। इस ग्रन्थ का पद्यानुवाद पं० विद्यानिधि शास्त्री ने किया जो गुरुकुल चित्तौड़गढ़, से १९९९ वि० में प्रकाशित हुआ। सम्पूर्ण ग्रन्थ का काव्यानुवाद कवि ने वंशस्थ, आर्या, अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, विबुधप्रिया, स्रग्धरा, उपजाति, भुजङ्गप्रयात, वैतालीय, शालिनी, शार्दूलविक्रीडित, पुष्पिताग्रा, रथोद्धता, मालिनी, प्रहर्षिणी, शिखरिणी तथा द्रुतविलम्बित छन्दों में किया है। प्रत्येक छन्द का पिंगल-शास्त्र के अनुसार लक्षण नीचे पाद-टिप्पणियों में दिया गया है जो छात्रों के लिए उपयोगी है। साथ ही व्याकरण-विषयक टिप्पणियां भी दी गई हैं। अनुवाद को पढ़ते हुए मौलिक रचना का-सा आनन्द आता है। यह आभास नहीं होता कि हम कोई अनूदित रचना पढ़ रहे हैं। समग्र ग्रन्थ चार मयूखों में समाप्त हुआ है तथा समग्र श्लोक संख्या ९२३ है। काव्य का नमूना लालबुझक्कड़ उपाख्यान के निम्न श्लोक से विदित हो जाएगा—

> कश्चिल्लालबुझक्कड़ः प्रतिवसन्नासीत् क्वचित् खर्बटे
> ग्रामाः पञ्चशतान्यमंसत महामूढं हि यं पण्डितम्।
> सन्दिग्धप्रतिपत्तिषु प्रतिपदं स्थेयं विद्यामादरात्
> सर्वे मन्दधियो गुरुर्गुरुरिति ग्राम्या यमाचिख्यपन्॥
>
> २।२११॥

आर्यसमाज के नियमों का पद्यानुवाद—आर्यसमाज के उद्देश्यों के निर्देशक तथा सिद्धान्तों के प्रतिपादक दस नियमों का भी विभिन्न कवियों द्वारा संस्कृत काव्यानुवाद किया गया है।

'दशनियम-शिखरिणी'[1]—पं० ज्वालादत्त ने दसों नियमों का मनोहर शिखरिणी छन्दों में अनुवाद किया। पद्यानुवाद में नियमगत भावों की रक्षा का पूरा-पूरा प्रयास किया गया है। प्रारम्भ के दो छन्दों में स्वामी दयानन्द द्वारा लोकहितार्थ आर्यसमाज का निर्माण तथा विद्यारसिक जनों के लिए इस आर्यसमाज के नियमों का संस्कृत-गिरा में वर्णन करने का भूमिका के रूप में संकेत दिया गया है—

---

१. वैदिक यन्त्रालय, अजमेर से १९५० वि० में मुद्रित।

प्रपश्यन् देशस्यावनतिमतिदुःखेन मतिमान्
दयानन्दस्वामी सदयहृदयोभूद्यतिवरः।
कथञ्चिद्देशस्योन्नतिरिति विचिन्त्यार्यसमितेः
सदुद्देश्यैर्दशभिर्निजसदुपदेशं द्रुतमदात्॥

देश की दुर्दशा को देखकर सदय-हृदय, बुद्धिमान्, यतिवर दयानन्द सरस्वती ने देशोन्नति का विचार कर आर्यसमाज की स्थापना की तथा उसके दस नियमों का उपदेश दिया।

तदुद्देश्यान् देशोन्नतिसुखकरान् संस्कृतगिरा
ब्रवीम्येतान् विद्यारसिकजनमोदान् सकलान्।
अविद्याजन्यं यद् दुरितमपहन्तुंश्च पठतां
गृहीतॄणां मूलं सततमनुकूलं श्रुतिगिराम्॥

विद्यारसिकों के हितार्थ उन नियमों का संस्कृत वाणी में कथन किया जाता है।

इस अनुवाद का एक उदाहरण द्रष्टव्य है। आर्यसमाज का प्रथम नियम है—"सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।" पं० ज्वालादत्त ने इसका निम्न पद्यानुवाद किया—

प्रतीता या विद्या ऋतमिति समस्ताः परमतः
प्रतीयन्ते ताभिः प्रियतमपदार्था इह च ये।
परं मूलं तेषां प्रथममखिलानामविरतम्।
परेशः सर्वेशः श्रुतिनिकर इत्थं प्रवदति॥

आर्यनियमोदय काव्य—दस नियमों का एक अन्य काव्यानुवाद पं० अखिलानन्द शर्मा लिखित मिलता है। यह लघु काव्य ग्रन्थ स्वामी प्रेस, मेरठ से १९०७ (१९६४ वि०) में प्रकाशित हुआ। कवि ने स्वयं ही इस काव्य पर अपनी 'भारत-प्रदीपिनी' नामक संस्कृत टीका तथा भाषा टीका लिखी है। कवि ने प्रारम्भिक श्लोकों में आर्यसमाज के नियमों के निर्माण की पृष्ठभूमि का विवेचन किया है। मङ्गल श्लोक में ग्रन्थ-रचना का प्रयोजन बताते हुए लिखा गया है—

हृदन्तरे वेदपथप्रवर्तकं
दयामयं कञ्चिदुदारकल्पनम्।

विभावयन्नार्यजनैक हेतवे
विरच्यते यन्मयका तदीक्ष्यताम् ॥
आ० नि० का० १॥

कवि ने नियमों में वर्णित विषय में संदर्भ में कतिपय वेदमन्त्रों को भी उद्धृत किया है। उसके काव्यानुवाद का क्रम इस प्रकार है—पहले नियम की पुष्टि में वेदमन्त्रों, पुनः श्लोकबद्ध अनुवाद, पुनः संस्कृत टीका और अन्त में हिन्दी भाषानुवाद। प्रथम नियम का अनुवाद द्रष्टव्य है—

यदत्र लोके निगमादितत्कृपा-
वशात् पदार्थान्तरसप्यशेषतः।
प्रमीयते तस्य निदानमुत्तमम्
महाशयैरीश्वर एव बुध्यताम् ॥ आ० नि० का० ५॥

आर्यसमाज-नियमानुवाद—आर्यसमाज के नियमों का एक अनुवाद पं० विद्यानिधि शास्त्री ने भी किया है। यह व्यवहारभानु के संस्कृत पद्यानुवाद के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद में कवि ने उपजाति छन्द का प्रयोग किया है। यह श्लोकानुवाद दस पद्यों में समाप्त हुआ है। द्वितीय नियम का अनुवाद द्रष्टव्य है—

ईशश्चिदानन्दमयस्वरूपो-
ऽजन्मा स्वयम्भूरथ निर्विकारः।
आकारहीनोऽनुपमोऽस्त्यनन्तः
स एव सर्वैः समुपासनीयः ॥

प्रकीर्ण काव्यानुवाद—काव्यानुवाद के अन्तर्गत वेदमन्त्रों का संस्कृत भावानुवाद तथा हिन्दी, बंगला, उर्दू आदि भाषाओं की स्फुट कविताओं का संस्कृत रूपान्तर भी विवेचनीय है। गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक तथा गुरुकुल पत्रिका के सम्पादक पं० भगवद्दत्त वेदालंकार ने ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों का संस्कृत पद्यानुवाद किया है। ऋग्वेद प्रथम मण्डल के १२वें अग्नि सूक्त का अनुवाद गुरुकुल पत्रिका के वेदाङ्क (भाद्रपद २०२० वि०) में प्रकाशित हुआ है। इस अनुवाद में मन्त्रोक्त भावों को स्पष्ट करने के लिए जो शैली अपनाई गई है वह वस्तुतः अभिनन्दनीय है। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

मन्त्र—

कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे।
देवममीवचातनम् ॥ ऋ० १।१२।७॥

संस्कृत पद्यानुवाद—

कविं पुराणं स्तुहि देव-देवम्
ऋतात्माकं तं धृतधर्मरूपम् ।
हिंसाविहीनेऽध्वरनामधेये
तं सत्यधर्माणमलङ्कुरुष्व ।।

देवे ह्यसौ शक्तिधरः प्रवृद्धः
रोगांश्चहर्तुं सततं समर्थः ।
रोगास्त्वमीवाः श्रुतिषु प्रसिद्धा
हन्तारमेषां सततं भजस्व ।।

आर्यप्रतिनिधि सभा विहार के व्याकरणाचार्य पं० गङ्गाधर शास्त्री ने ऋग्वेद के प्रसिद्ध मन्त्र—

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ।।[1]

का संस्कृत रूपान्तर करने का सराहनीय प्रयास किया है। मन्त्र का भावार्थ सुरक्षित रखते हुए शास्त्रीजी ने निम्न श्लोकों में मन्त्रार्थ का काव्यमय उपबृंहण किया है—

न त्वं जानासि तं देवं यो विश्वं सृजति प्रभुः ।
नियमे नयते सर्वान् त्वद्भिन्नस्त्वयि तिष्ठति ।।

अज्ञानेनैव मोहेन बुद्धिर्यस्य समावृता ।
तमवाप्तुमयग्योऽसौ नीहारेण वृतो हि सः ।।

यः कुतर्कं समाश्रित्य वाग्जाले निरतः सदा ।
स जल्पी न तमाप्नोति श्रद्धाविरहितो जनः ।।[2]

महाकवि रवीन्द्रनाथ की कतिपय लघु रचनाओं का संस्कृत पद्यानुवाद पं० शंकरदेव विद्यालंकार ने किया है। महाकवि की 'खेया' शीर्षक पुस्तक के एक प्रबन्ध का 'प्रार्थना'[3] शीर्षक गद्यानुवाद तथा उनके 'फ्रूट गैदरिंग' शीर्षक एक अन्य ग्रन्थ का प्रथम प्रबन्ध 'फलसंभार'[4] शीर्षक से अनूदित

---

१. ऋग्वेद १०।८२।७।।

२. आर्यमित्र—८ मार्च १६६४ ई०।

३. गुरुकुल पत्रिका माघ २०१६ वि०।

४. ,, मार्गशीर्ष २०१६ वि०।

होकर गुरुकुल पत्रिका में प्रकाशित हुआ है। पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड ने महाकवि की एक अन्य कविता को पद्यबद्ध किया है। मूल और अनुवाद नीचे दिये जा रहे हैं—

बंगला कविता—

यदि तोमार देखा ना पाइ प्रभु,
ए बार ए जीवने
तबे तोमाय आमि पाइ नियेन से कथा रय मने।
येन भुलेना पाइ, वेदना पाइ शयने स्वपने ॥

अनुवाद—

दर्शनं यदि ते न लब्धं
जीवनं व्यर्थं गतम्।
विस्मरेयं नो कदाचि-
ज्जागृतौ स्वप्नेऽथवा।
वेदनाप्रदमेव सर्वं
हे हरे मे त्वां विना ॥[1]

हिन्दी गीतिका का अनुवाद—आर्यसमाज में पं० लोकनाथ तर्क-वाचस्पति रचित यज्ञविषयक एक हिन्दी गीत 'पूजनीय प्रभो हमारे भाव उज्ज्वल कीजिए' बहुत प्रसिद्ध है। आचार्य सुदर्शनदेव शास्त्री ने इस गीत का संस्कृत पद्यानुवाद किया है। मूल और उसका अनुवाद तुलना की दृष्टि से नीचे दिया जाता है—

हिन्दी गीत—

पूजनीय प्रभो हमारे भाव उज्ज्वल कीजिए।
छोड़ देवें छल-कपट को मानसिक वल दीजिए।
वेद की बोलें ऋचायें सत्य को धारण करें।
हर्ष में हों मग्न सारे शोक सागर से तरें॥

संस्कृत अनुवाद—

पूजनीय प्रभो समेषां भावनमुज्ज्वल्यताम्।
स्याम छलतादिविहीना मानसौजस्तन्यताम् ॥
वेदवारिधौ तरेम धरेम मनसि सत्यताम्।
हर्षवर्षाभिः प्रसन्नाः संहरेम विषादताम् ॥[2]

---

१. गुरुकुल पत्रिका भाद्रपद २०२० वि०।
२. आर्योदय ३० वैशाख २०२० वि० में प्रकाशित।

यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि गीत के संस्कृतानुवाद को भी मूल गीत की ही भांति स्वर और ताल के साथ गाया जा सकता है।

उर्दू कविता का संस्कृत पद्यानुवाद—गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के मुख्याध्यापक पं० भीमसेन शर्मा (आगरा वाले) ने उर्दू के सुप्रसिद्ध कवि मौलाना अल्ताफ हुसैन हाली रचित **'मुनाजाते बेवा'** शीर्षक एक लम्बी उर्दू कविता का **'विधवाभिविनयः'** शीर्षक सरस शब्दानुवाद किया। इसका कुछ अंश (४८ पद्य) परोपकारी मासिक-पत्र के आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद १९६५ के अंकों तथा आश्विन, कार्तिक व मार्गशीर्ष सं० १९६५ वि० के संयुक्तांक में प्रकाशित हुआ था। इस अनुवाद को पढ़कर मूल उर्दू काव्य के लेखक मौलाना हाली बड़े प्रसन्न हुए थे तथा हिन्दी के सुप्रसिद्ध समालोचक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को तो अनुवाद मूल से भी अधिक पसन्द आया था। खेद है कि सम्पूर्ण अनुवाद पुस्तकाकार नहीं छप सका। अनुवादकर्ता ने उर्दू की मूल कविता को किस प्रकार याथातथ्य रूप से रूपान्तरित किया है, यह निम्न उदाहरणों से स्पष्ट है—

मूल—

शाद हो उस रहगीर का क्या दिल,
मरके कटेगी जिसकी मंजिल।
उन बिछुड़ों का क्या है ठिकाना,
जिनको न मिलने देगा जमाना॥

अनुवाद—

पथिकचित्तमुपैति मुदं किमु
भवति या सरणिर्मरणाद्वरे।
हृद्गतिः परिशान्तिमियात्कुतः
स्वजननावधियद्गृहशून्यता॥३७॥

मूल—

आईं बहुत दुनिया में बहारें,
ऐश की घर-घर पड़ीं पुकारें।
पड़े बहुत बागों में झूले,
ढाक बहुत जंगल में फूले॥

अनुवाद—

बहुविचित्रपरिच्छदनागता
प्रतिगृहं शुभमाह्वयतेस्म ना।

उपवने रचिता बहुदोलिकाः
प्रतिवनं तरवश्च सुपुष्पिताः ॥३६॥

उपर्युक्त उदाहरणों से आर्यसमाज के कवि प्रतिभा-सम्पन्न विद्वानों की काव्यानुवाद विषयक क्षमता भली-भांति प्रकट होती है।

[६] स्फुट-काव्य

अब तक हमने आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा प्रणीत उन काव्यों का विचार किया जो पुस्तकाकार लिखे गए या प्रकाशित हो चुके हैं। परन्तु ऐसी रचनाओं की भी कमी नहीं है जो स्फुट रूप से पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। इन सभी रचनाओं का समग्र और संश्लिष्ट विश्लेषण यद्यपि सम्भव नहीं है तथापि, निम्न पंक्तियों में इनका यत्किञ्चित् परिचय दिया जा रहा है। आर्यसमाज ने यों तो संस्कृत भाषा को अनेक कवि प्रदान किये हैं, परन्तु उनमें अखिलानन्द शर्मा तथा पं० मेधाव्रताचार्य का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन दोनों महाकवियों की दयानन्द-दिग्विजय शीर्षक महाकाव्य नामक रचनाओं का अनुशीलन किया जा चुका है। यहां उनके स्फुट काव्यों का नामोल्लेखपूर्वक निर्देश किया जाएगा—

पं० अखिलानन्द शर्मा के स्फुट काव्य[1]—'दयानन्द-दिग्विजय' के ग्रन्थकार परिचय प्रकरण में कवि द्वारा रचित ३७ ग्रन्थों का नाम निर्देश किया गया है। इन ग्रन्थों में काव्य, नाटक, चम्पू आदि सभी प्रकार की रचनायें सन्निविष्ट हैं। 'दयानन्द-दिग्विजय' में दी गई इस सूची में निम्न काव्यों का उल्लेख हुआ है—(१) विरजानन्द-चरितम्, (२) भामिनीभूषण-काव्य, (३) ईश्वर-स्तुति-काव्य, (४) धर्मलक्षणवर्णन-काव्य, (५) गुरुकुलोदय-काव्य, (६) विद्या-विनोद-काव्य, (७) उपनयनवर्णन-काव्य, (८) विवाहोत्सववर्णन-काव्य (९) आर्यवृत्तेन्द्र-चन्द्रिका, (१०) परोपकार-कल्पद्रुम, (११) रमामहर्षि-संवाद-काव्य, (१२) दशावतारखण्डन-काव्य, (१३) दैवोपालम्भ-काव्य, (१४) आर्य-संस्कृतगीतयः काव्य, (१५) द्विजराजविजयपताका-काव्य, (१६) भारतमहिमावर्णन-काव्य, (१७) आर्यविनोद-काव्य, (१८) संस्कृत-विद्यामन्दिर-काव्य, (१९) आर्यसुताशिक्षासागर-काव्य, (२०) महर्षि-चरितादर्श-काव्य, (२१) आर्यशिरोभूषण-काव्य, (२२) शोकसम्मूर्छन-काव्य। अखिलानन्द शर्मा रचित समस्त काव्यों की समग्र श्लोक संख्या ९५००० बताई गई है।

---

१. द्रष्टव्य—नया केटोलोगस कैटोलागोरम पृ० १५-१६।

उपरिनिर्दिष्ट काव्य-कृतियों में अधिकांश लघुकाव्य ही थे। ऐसा अनुमान है कि ये छोटी-छोटी पद्य-रचनायें आर्यसमाज की तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। 'आर्यशिरोभूषण-काव्य' (उपर्युक्त सूची में २१) स्वामी दयानन्द रचित एक लघु-पुस्तक 'आर्योद्देश्य-रत्नमाला' का संस्कृत रूपान्तर था। इसका संकेत 'दयानन्द-दिग्विजय' के निम्न पद्य से मिलता है—

जननमरणविद्याप्रार्थनातीर्थनिन्दा-
नरकविलयधर्माधर्मसत्सङ्गजीवैः।
सगुणविगुणसत्यासत्यवर्णादिरत्नैर्-
इयमतिललिताङ्गी निर्मिता देवदेवैः ॥८।८२॥

अर्थात् जन्म-मरण, विद्या, प्रार्थना, तीर्थ, निन्दा, नरक, प्रलय, धर्म-अधर्म, सत्संग, जीव, सगुण-निर्गुण, सत्य, असत्य, वर्ण आदि सिद्धान्तविषयक तत्त्वों का विचार कवि ने अपने 'आर्यशिरोभूषण' काव्य में पृथक् रीत्या किया है। इस काव्य में १२२ श्लोक हैं, तथा यह वसन्ततिलका वृत्त में लिखा गया है।

शोकसम्मूर्छन-काव्य—आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० तुलसीराम स्वामी के देहावसान पर लिखी गई एक शोक-गीतिका (clegy) है जो वेद-प्रकाश (मेरठ) के जनवरी १९१६ के अंक में प्रकाशित हुई थी। कवि ने २१ मधु-माधवी छन्दों में अपने स्वर्गवासी मित्र के प्रति शोकाञ्जलि अर्पित की है—

शोकान्मया यदुदितं मधुमाधवीयैः
पद्यैः स्वमित्रचरितं मनसाऽऽकुलेन।
तद्वीक्ष्यतामितरसभ्यजनैः परस्तात्
संदीयतां स्वहृदयं जगतः शिवाय ॥ शो० सं० २१॥

कवि की दृष्टि में गणपति शर्मा के निधन के पश्चात् पं० तुलसीराम स्वामी का स्वर्गवास मानो विधाता द्वारा कालरूपी यज्ञकुण्ड में दी गई अन्तिम आहुति है—

दैवेन यत्र हवने दुरदृष्टयोगाद्
दत्ताऽऽहुतिर्गणपतेः प्रथमा बलेन।
मन्ये भवन्तमपि तत्र निपात्य तेन
पूर्णाध्वरेण विहिताऽवरमाऽऽहुतिस्ते ॥ शो० सं० ७॥

कवि को चरितनायक के गुणों का स्मरण होता है तब वह शोकाकुल भाव से कह उठता है—

तद्भाषणं स च रहस्यकथाविनोदः
सा चातुरी सकलकर्मसु तच्च गीतम् ।
तद्गर्जनं बहुमहेषु समाधिभूत्यै
कुत्राद्य दृष्टिपथमेष्यति नैव जाने ।। शो० सं० १२।।

शोकगीत के रूप में लिखा गया यह काव्य करुणरस का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

पं० अखिलानन्द शर्मा के ईश्वर-स्तुति काव्य, धर्मलक्षण-वर्णन काव्य, सत्य-वर्णन काव्य तथा गप्प वर्णन काव्य इन चार लघु काव्यों का संग्रह 'लघु काव्य संग्रह' शीर्षक से मूल तथा भाषा टीका सहित पृथक् प्रकाशित हुआ था। अखिलानन्द शर्मा का यह संग्रह काव्य वाङ्मय अन्वेषणीय तथा विवेचनीय है।

पं० मेधाव्रताचार्य के स्फुट काव्य—आचार्य मेधाव्रत रचित महत्त्व-पूर्ण काव्य ग्रन्थों की विस्तृत समीक्षा ऊपर की जा चुकी है। इन उल्लेखनीय काव्य ग्रन्थों के अतिरिक्त भी उन्होंने अनेक फुटकर काव्य रचनायें की हैं। इनमें से अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। कई काव्य ऐसे भी हैं जो प्रकाशित नहीं हो सके। इन स्फुट रचनाओं का विवरण इस प्रकार है—

(१) देशाभ्युदय काव्य—४५ श्लोकों का यह काव्य गुरुकुल वृन्दावन के 'गुरुकुल-वृत्तान्त' में प्रकाशित हुआ था।

(२) यतीन्द्र नित्यानन्द शतक—स्वामी नित्यानन्द की जन्म शताब्दी के अवसर पर लिखा गया, यह काव्य परोपकारी मासिक-पत्र के 'नित्यानन्द जन्म शताब्दी अंक' (श्रावण-भाद्रपद २०१७ वि०) में प्रकाशित हुआ। १०० पद्यों में रचित इस काव्य में कवि ने आर्यसमाज के महान् प्रचारक संन्यासी स्वामी नित्यानन्द के जीवन की घटनाओं का ललित छन्दों में वर्णन किया है।

(३) सर्वदानन्दयतीन्द्र-चरित—५५ पद्यों का यह काव्य आर्य-समाज के सुप्रसिद्ध सन्त वीतराग स्वामी सर्वदानन्द के चरित के वर्णन में लिखा गया है। इसका प्रकाशन परोपकारी मासिक के सर्वदानन्द विशेषांक (कार्तिक २०१८) में हुआ।

(४) विश्वकर्माद्भुत-चरित—अर्थात् 'उपकुलपति डा० श्री भाई-

लाल कर्म कौशल-शतकम्'—१२२ छन्दों में समाप्त यह काव्य गुरुकुल-पत्रिका के जुलाई तथा अगस्त १९६३ के अंकों में प्रकाशित हुआ है।

(५) **सुखानन्दगिरि-दर्शन**—सुखानन्द-पर्वत, मेवाड़ के सुरम्यतम स्थानों में से एक है। कवि ने चित्तौड़गढ़ गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के साथ इस पर्वत की यात्रा की थी। इस गिरि-यात्रा का वर्णन कवि ने ५२ ललित वृत्तों में किया है। यह लघुकाव्य प्राकृतिक, आरण्यक तथा पार्वत्य प्रदेश की मनोरम झांकी प्रस्तुत करता है। काव्य की भाषा प्राञ्जल और उदात्त है। वसन्त-तिलका, इन्द्रवज्रा, मालिनी, शालिनी, उपजाति, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता तथा अनुष्टुप् छन्दों में निर्मित यह काव्य प्रकृति-पर्यवेक्षण का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। अनुप्रास युक्त शब्दावली ने काव्य सौन्दर्य को बढ़ाया ही है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

ग्रामस्तुरंगैर्विपिनेकुरङ्गैः
शाखाप्लवङ्गैः कुसुमानि भृङ्गैः।
तूर्णं पतङ्गैर्गगनं विहङ्गैर्
नदी तरङ्गैस्सुकविस्सुभङ्गैः॥ सु० द० ३१॥

(६) **दिव्यकुञ्जयोगाश्रम-वर्णन**—इस काव्य में कवि ने नासिक मण्डलान्तर्गत येवलानगरवर्ती कुसूरग्रामस्थ अपने आश्रम का वर्णन किया है जहां रहकर कवि ने अपने अनुज पं० सत्यव्रत के साथ मुनि-जीवन व्यतीत किया था। इस वर्णन को पढ़कर रामायण, महाभारतादि आर्ष-काव्यों में वर्णित ऋषि-मुनियों के आश्रम चर्मचक्षुओं के समक्ष उपस्थित हो जाते हैं। काव्य के उत्तरार्द्ध में कवि ने स्वचरित का किञ्चित् उल्लेख किया है। प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण की दृष्टि से २७ पद्यों का यह लघुकाव्य विशेष महत्त्व-पूर्ण है।

(७) **सत्यार्थप्रकाश-महिमा**—१५ पद्यों के इस लघुकाव्य की रचना २००० वि० की महाशिवरात्रि के पर्व के दिन हुई। इसमें कवि ने स्वामी दयानन्द के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश की प्रशस्ति लिखी है। सत्यार्थ-प्रकाश की महिमा का वर्णन करते हुए कवि लिखता है—

अद्वैतद्विपमर्दने मृगपतिर्वेदाब्धिमन्थोद्धृतं
पीयूषं भवरोगिणां भयहरं यो मोक्षलक्ष्मीप्रदः।
चातुर्वर्ण्यसुधर्मवर्णनचणः संसारतापान्तकृद्
यः सत्यार्थप्रकाश आर्यरुचिरो ग्रन्थोत्तमो राजते॥
स० म० १३॥

दयानन्दरूपी चन्द्रमा की सत्यार्थप्रकाश-रूपी कौमुदी का सत्पुरुषों-रूपी चकोरों द्वारा पान किया जाता है। इस साङ्ग-रूपक की योजना कवि ने निम्न पद्य में की है—

सत्यार्थकौमुदी रम्या दयानन्दसुधांशुना।
वसुधायां तता स्निग्धैः पीयतां सच्चकोरकैः॥

स० म० १५॥

उपर्युक्त तीनों काव्य मेधाव्रताचार्य रचित 'दिव्यानन्दलहरी' के परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित हुए हैं।

मेधाव्रताचार्य की स्फुट संस्कृत काव्य रचनाओं की संख्या लगभग ४०० है। ये प्रकीर्ण संस्कृत कवितायें शारदा (प्रयाग), वेदप्रकाश (मेरठ), आर्यप्रकाश (बड़ौदा), आर्यमित्र (लखनऊ) तथा गुरुकुल-पत्रिका (कांगड़ी) आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। **पद्यतरङ्गिणी, ज्ञानेन्द्र-चरित** तथा **चारु-चरितामृत** उनकी अद्यतन अप्रकाशित रचनायें हैं। **'वैदिकराष्ट्र-काव्य'** लिखा गया, परन्तु लुप्त हो गया।

[१०] प्रकीर्ण काव्य

महाकाव्य आदि पद्य की शास्त्रमान्य विधाओं के विवेचन के अनन्तर उस स्फुट संस्कृत-काव्य का अध्ययन आवश्यक है जो मुक्तकरूप में लिखा गया तथा यत्र-तत्र पत्र-पत्रिकाओं में तथा अन्यत्र प्रकाशित हुआ। विभिन्न विषयों और विभिन्न शैलियों को लेकर जो प्रकीर्ण कवितायें लिखी गई हैं उनका समग्र-रूपेण विवेचन कठिन अवश्य है परन्तु उनका यत्किञ्चित् समीक्षण भी इस बात को सिद्ध करके लिए पर्याप्त है कि आर्यसमाज के संस्कृत काव्य निर्मातिओं ने अपनी कवि-प्रतिभा तथा अद्भुत कल्पना-शक्ति का आश्रय लेकर जिस आलौकिक भावलोक का निर्माण किया है वह काव्यरसिकों के लिए सर्वथा स्तुत्य और श्लाघनीय है।

दयानन्दप्रशस्ति-काव्य—प्रकीर्ण काव्य के अन्तर्गत हम सर्वप्रथम श्रद्धाञ्जलि परक प्रशस्ति-काव्य का उल्लेख करेंगे। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द के प्रति श्रद्धाञ्जलि और अपनी भक्ति एवं श्रद्धा-युक्त काव्याञ्जलि अर्पित करते हुए अनेक कवितायें लिखी गई हैं, जिनमें निम्न महत्त्वपूर्ण हैं—

स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात् शोकोद्गार प्रकट करते हुए अनेक स्फुट संस्कृत कवितायें प्रकाशित हुईं। वैदिक यन्त्रालय, प्रयाग के पं० ज्वाला-

दत्त शर्मा ने, जो स्वामी दयानन्द के निकट रहकर लेखक का कार्य करते थे, ३१ श्लोकों में महर्षि के दिवंगत होने पर अपना शोक व्यक्त किया। कवि ने महर्षि के प्रादुर्भाव का उल्लेख करते हुए लिखा—

क्षोणीभाहीन्दुभिरभियुते वैक्रमे वत्सरे यः
प्रादुर्भूतो द्विजवरकुले दक्षिणे देशवर्ये।
मूलेनासौ जननविषये शंकरेणापरेणा-
ख्यातिं प्रापत्प्रथमवयसि प्रीतिदां सज्जनानाम् ॥[1]

वही महापुरुष जो दक्षिण देश (गुजरात) में उत्पन्न हुआ और जिसका बाल्यकाल का नाम मूलशंकर था, जो सज्जनों को प्रीतिदायक था वह वि० सं० १९४० को कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन दिवंगत हो गया—

सोऽयं व्योमाम्बुधिनिधिविधौ वैक्रमे वत्सरेऽस्मिन्
प्राप्ते चन्द्रक्षयतिथिकुजे कार्तिके कृष्णपक्षे।
सायंकाले सकलजनतासौख्यमापूरयन्तं
देहं त्यक्त्वा श्रुतिपदमयं ब्रह्मनिर्वाणमापत् ॥[1]

केम्ब्रिज विश्वविद्यालयस्थ बैरिस्टर रामदास छबीलदास वर्मा, बी० ए०, एल० एल० बी०, एम० आर० ए० एस० ने २० छन्दों में स्वामी दयानन्द के प्रति अपनी शोकाञ्जलि व्यक्त करते हुए लिखा—

अहो नितान्तं हृदयं विदूयते
निशम्य लोकान्तरमुन्नताशयम्।
सम्प्रस्थितं वेदविदामनुत्तमं
श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीं कविम् ॥[2]

अन्त में चित्र-काव्य की अन्तर्लापिका शैली का प्रयोग करते हुए लिखा—

कः पद्मिनीनां वद तिग्मदीधितिर्
धर्मः परः कः कविवाचि कः स्थितः।
का कण्ठभूषा न यमाद् बिभेति कः
स्वामी दयानन्दसरस्वती यमी ॥[2]

प्रथम तीन पंक्तियों में पांच प्रश्न पूछे गए हैं और अन्तिम पंक्ति उनका उत्तर है—स्वामी दया आनन्द (दयानन्द) सरस्वती यमी।

१. दयानन्ददिग्विजयार्क—तृतीय खण्ड मयूख ६ में संकलित।

२. दयानन्ददिग्विजयार्क—तृतीय खण्ड के ६वें 'घोराक्रन्दन' शीर्षक मयूख में उद्धृत।

पं० सत्यव्रत शर्मा द्विवेदी ने स्वामी दयानन्द की प्रशस्ति में आठ छन्दों का एक **विनयाष्टक**[1] लिखा। प्रत्येक छन्द की द्वितीय (अन्तिम) पंक्ति में **'श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीनां जयन्तु वाचो नितरां यतीनाम्'** (श्रीमद्दयानन्द सरस्वती के वचन अतिशय जय को प्राप्त हों) शब्द समानरूप से प्रयुक्त हुए हैं।

महर्षिदयानन्दगुण-गौरव[2]—मैसूर निवासी पं० विश्वामित्र ने इस नाम से ८५ छन्दों का एक लघु-काव्य लिखा है। इसमें उपजाति, वंशस्थ, दण्डक, अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, शिखरिणी, वैतालीय, अश्वललित, विबुधप्रिया, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता, आर्या, मालिनी, द्रुतविलम्बित, भुजंगप्रयात आदि छन्दों में स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व में सन्निविष्ट २१ गुणों का संकीर्तन किया है। प्रत्येक छन्द का अन्वय और हिन्दी भाषार्थ स्वयं कवि द्वारा ही प्रस्तुत कर दिया गया है। काव्य की भाषा सरल और प्रसादगुणोपेता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

यथैव मित्रो भुवनस्य चक्षुः
स्वतेजसा दर्शयतीह विश्वम्।
ततान वेदेन तथा महर्षिस्
तप्त्वा दयानन्दयतिः सुधर्मम्॥

इसी प्रकार की अन्य कविताओं में प्राध्यापक हरिश्चन्द्र रेणापुरकर की **'धन्यो धन्यः श्रीदयानन्द वर्यः'** तथा **'दयानन्द-गाथा'**, ब्रह्मचारी योगेन्द्रार्य की **'वन्दे दयानन्दमहामुनीन्द्रम्'**, जगन्नाथ शास्त्री की **'श्री गुरुपादोदकम्'**, प्रशस्यमित्र शास्त्री की **'भारतमहादीपकः-भूसुरो दयानन्दः'**, पं० मेधाव्रताचार्य की **'जगन्नभसि दयानन्दचन्द्रः'** आदि उल्लेखनीय हैं। पं० मेधाव्रत ने मन्दाक्रान्ता छन्द में रूपकालंकार के द्वारा दयानन्द-रूपी चन्द्र का इस प्रकार वर्णन किया है—

आशामैन्द्रीमरुणकिरणैः रञ्जयन्तं समीक्ष्य
भौमाकाशं निगमतरणिं काशयिष्यन्तमग्रे।
निश्चित्यासौ चरमसुगिरेस्तुङ्गशृङ्गावलम्बी
यातोऽस्तं नु प्रकृतिरुचिरः श्रीदयानन्दचन्द्रः॥[3]

---

१ महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित सत्यव्रत शर्मा द्विवेदी लिखित पृ० ३४१।

२. टंकारा-पत्रिका के नवम्बर-दिसम्बर १९६५ तथा जनवरी १९६६ के अंकों में प्रकाशित।

३. गुरुकुल पत्रिका—मार्गशीर्ष २०२० वि०।

स्वामी दयानन्द की जन्मशताब्दी के अवसर पर आर्यसमाज के प्रमुख साप्ताहिक-पत्र आर्यमित्र का ऋष्यंक (विशेषांक) प्रकाशित हुआ। इसमें पं० हरिदत्त शास्त्री की **'यतिपञ्चकम्'** तथा उपाध्याय दिलीपदत्त शर्मा की **'श्रीमद्दयानन्दाष्टकम्'** शीर्षक कवितायें प्रकाशित हुईं। ये कवितायें समस्या-पूर्ति शैली में लिखी गई हैं, जिनमें क्रमशः **'दयानन्दो भानुर्भजतु भुवने भूय उदयम्'** तथा **'दयानन्दः स्वामी निगमपथगामी विजयते'** वाक्यों की आवृत्ति हुई है। दोनों कविताओं का उदाहरण क्रमशः द्रष्टव्य है—

तिरस्कर्ता नानामततिमिरराशेः द्रुततरम्
परिष्कर्ता वेदस्मृतिविहितमार्गस्य मतिमान्।
सुसंस्कर्ता चेतश्चरितजलसेकाञ्जलिमताम्
दयानन्दो भानुर्भजतु भुवने भूय उदयम्॥[1]

परेशस्य ध्याता कुमतविसरध्वान्तखमणिः
सुवर्णी संसारोद्धृतिकृतिकृतो धर्मनिरतिः।
अनुष्ठाता नानोत्तमतरविधीनां शुभमतिः
दयानन्दः स्वामी निगमपथगामी विजयते॥[2]

पं० त्रिलोकचन्द्र शास्त्री की आर्यजगत् के शिवरात्रि तथा दीपावली पर प्रकाशित होने वाले विशेषांकों में स्वामी दयानन्द के प्रति श्रद्धाञ्जलि परक अनेक कवितायें प्रकाशित हुई हैं। इन कविताओं में **देवदयानन्दचरम-परमादेशः**[3], **शंकरः शंकरो मे**[4] तथा **मुनिवर-प्रशस्तिः** आदि उल्लेखनीय हैं। अन्तिम कविता द्रुतविलम्बित छन्द में लिखी गई है। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियां इस प्रकार हैं—

श्रुतिपरो भवनाथपरायणो
द्युतिभरो जनतापहरो वरः।
शुभविचारधरो विजितेन्द्रियो
जयति दिव्यनरो बुधवन्दितः॥

पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड ने सरल एवं प्रसादगुण-युक्त भाषा में महर्षि का गुणानुवाद करते हुए लिखा—

---

१. आर्यमित्र—शताब्दी अंक पृ० १८।
२. „ „ „ पृ० ११०।
३. आर्यजगत—दीपावली २०२१ वि०।
४ आर्यजगत—शिवरात्रि २०२१ वि०।

निखिलनिगमवेत्ता पापतापापनेता,
रिपुनिचयविजेता, सर्वपाखण्डभेत्ता ।
अतिमहिततपस्वी सत्यवादी मनस्वी,
जयति स समदर्शी वन्दनीयो महर्षिः ॥[1]

महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनि विरचित दयानन्द सरस्वती के प्रति अर्पित श्रद्धाञ्जलि युक्त निम्न पद्य अवलोकनीय हैं—

वेदाभ्यासपरायणो मुनिवरो वेदैकमार्गे रतो
नाम्ना यस्य दया विभाति निखिला तत्रैव यो मोदते ।
येनाम्नायपयोनिधेर्मथनतः सत्यं परं दर्शितं
लब्धं तत्पदपङ्कयुग्ममनघं पुण्यैरनन्तैर्मया ॥

निगमस्य येन कथितं मिथ्यावचः खण्डितम्
सत्यासत्यवचोविरोधहनने यस्य प्रमाणं वचः ।
सर्वं वेदवचो विचार्य्य मननं यस्मिन्मते दृश्यते
तं वन्दे गुरुवैदिकं मुनिमहं श्रौतप्रमाणप्रियम् ॥

पं० जयदत्त शास्त्री, व्याकरणाचार्य ने 'जिज्ञासुर्मूलशंकरः' शीर्षक एक लघु कविता में स्वामी दयानन्द की मूर्तिपूजा के प्रति विरक्ति उत्पन्न होने की घटना को काव्यवद्ध किया है । श्री नलिन रचित **'श्रीमद्दयानन्द-पञ्चकम्'** शीर्षक पांच पद्य अत्यन्त प्रासादिक शब्दावली में स्वामीजी के गुणों का कीर्तन करते हैं । एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

मनस्वी मेधावी श्रुतिवचनभाषी प्रभुरतस्
तथैवात्मज्ञो वै यमनियमचारी व्रतधरः ।
विरक्तो वैराग्ये जगति भयतापं शमयितुं,
दयानन्दः स्वामी सकलजनवन्द्यो विजयताम् ॥

दयानन्द कालेज, कानपुर के संस्कृत प्राध्यापक पं० जनमेजय विद्यालंकार ने शिखरिणी छन्द में 'दयानन्द-स्त्रोतम्'[2] लिखा है। इसका एक पद्य अवलोकनार्थ प्रस्तुत है—

महात्मानं लोकत्रयविदितकीर्ति यतिवरं
निधानं विद्यानामखिलतपसामालयमिव ।

---

१. आर्यजगत्—२१ जुलाई १९६८ ई० ।
२. आर्योदय, १६ मार्गशीर्ष २०२० वि० ।

श्रुतीनामावासं गुरुवरमिवाशेषजगतां
दयानन्दं वन्दे क्षितितलनिलीनेन शिरसा ।।

ब्रह्मानन्द शास्त्री, साहित्याचार्य ने 'महर्षिचरितामृतम्'[1] शीर्षक लघु काव्य में स्वामी दयानन्द का चरित संक्षिप्त रूप से निबद्ध किया है। स्वामीजी के आविर्भाव का वर्णन करते हुए कवि लिखता है—

पाखण्डिनां मानविमर्दनाय,
वेदोक्तधर्मस्य च रक्षणाय ।
क्षितावतीर्णः समुदारमूर्तिः,
स्वामी दयानन्दयतीन्द्रवर्यः ।।

पं० प्रशस्यमित्र ने स्वामी दयानन्द की महिमा का गायन करते हुए एक लघु कविता लिखी है। सुबोध एवं सरल शैली में लिखी गई इस कवि-कृति की निम्न पंक्तियां उल्लेखनीय हैं—

सुगीता येन स्यादिह जगति वेदमहिमा
तथामूर्तेर्पूजा घटयति प्रमाणेन निगमात् ।
सदा वेदात्सिद्धो प्रकटयति चेद्वैदिकमतम्
दयानन्दस्वामी नयनपथगामी भवतु नः ।।[2]

पं० मेधाव्रताचार्य ने स्वामी दयानन्द के आविर्भाव के समय तथा उनके उदय के अनन्तर देश की दशा का वर्णन करते हुए कतिपय छन्द लिखे। सामासिक शब्दावली का प्रयोग करते हुए कवि ने दयानन्द-पूर्व की दशा का वर्णन किया—

न देशाभिमानो न वा राजभक्तिर्
न शक्तिः प्रसक्तिर्विलासे यतः ।
यदाऽऽसीद्दशेयं स्वदेशस्य शोच्या
तदा भारतालंकृताऽलंकृतम् ।।[3]

महापुरुष-प्रशस्ति—महापुरुषों का पुण्य-स्मरण तथा उनकी विमल कीर्ति का काव्यमय वर्णन आर्यसामाजिक कवियों का प्रिय कर्म रहा है। गुरुकुल कांगड़ी के भूतपूर्व अध्यापक पं० शालग्राम शास्त्री ने महाराष्ट्र केसरी छत्रपति शिवाजी महाराज की अमल-धवल-यशोगाथा का गायन करते हुए आठ

---

१. टंकारा पत्रिका, मई १९९१ ई० ।
२. परोपकारी, माघ २०२० वि० ।
३. परोपकारी, माघ २०१८ वि० ।

पद्य लिखे जो परोपकारी (जेष्ठ १९६५ वि०) में प्रकाशित हुए थे। ओजपूर्ण शैली में लिखी गई यह कविता अपनी निजी विशिष्टता रखती है। एक उदाहरण नीचे उद्धृत किया जाता है—

यः कालचक्रपरिवृत्तिकरः कृपालुः
क्रूरश्च दुष्टदुरदृष्टनिकृष्टजन्तौ।
आपत्सु धीरबहुनीरगभीरसिन्धुर्
वीरः शिवः कथय कस्य न माननीयः॥

गुरुकुल काँगड़ी के छात्र ब्रह्मचारी इन्द्र (पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति) ने **'राम-स्मरणम्'** नामक एक कविता लिखी। यह २९ आश्विन, १९६५ वि० के सद्धर्मप्रचारक में प्रकाशित हुई। इस कविता को वेदप्रकाश के कार्तिक १९६५ के अङ्क में उद्धृत करते हुए सम्पादक पं० तुलसीराम स्वामी ने निम्न टिप्पणी लिखी है—"यदि इस कविता को अन्यों की सहायता न लेकर लिखा गया है तो मैं कह सकता हूं कि गुरुकुल कांगड़ी ने संस्कृत-साहित्य में उतनी उन्नति की है, जितनी कि उससे इतने समय में आशा थी।"

आलोच्य कविता में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के स्मरण से जो शिक्षा मिलती है, उसका दिग्दर्शन बड़े गम्भीर-भाव से कराया गया है। कविता का निम्नोद्धृत उदाहरण द्रष्टव्य है—

वयं रामपुण्यप्रतापाश्रयामः
भवन्तं गुणांस्ते सदा वाचयामः।
त्वमेवैत्य वंश्यान्निजान्साधु साम
विनिद्रान्विधेहीत्यहो प्रार्थयामः॥

आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध संस्कृत कवि मेधाव्रत अपने छात्र-जीवन में ही काव्यरचना करने लगे थे। जब वे गुरुकुल वृन्दावन में सप्तम श्रेणी के विद्यार्थी थे, उस समय उनकी एक कविता **'श्रीकृष्णस्तुति-पञ्चक'**[1] प्रकाशित हुई। कृष्ण के लोकपावन एवं उदात्त चरित्र का कीर्तन करते हुए कवि लिखता है—

धर्मात्मा विदुषां वरो नृपमणिः कृष्णोऽभवन्नीतिमान्
नानाशास्त्रविशारदोऽवनितले जातस्स एकस्तदा।
येनेदं वसुधातलं मुरजिता कृत्स्नं पवित्रं कृतं
तस्यैवाद्य दिने जनैस्सुमहिमा जेगीयते संमृतौ॥

---

१ वृन्दावन गुरुकुल में कृष्ण जन्माष्टमी के उत्सव पर पठित तथा वेद-प्रकाश—सितम्बर १९१२ में प्रकाशित।

'श्रीरामचन्द्र-प्रशंसा'[1]—शीर्षक उनकी एक अन्य कविता भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। राम के गुणों का वर्णन करते हुए कवि लिखता है—

महाबली चापभृतां पुरस्सरो
दिगन्तविश्रान्तयशःपरस्परः।
जितेन्द्रियो बुद्धिमतामिहाग्रणीर्
बभूव रामो नृपतिः प्रतापवान्॥

'रामचरितामृत'[2]—शीर्षक एक अन्य कविता भी मेधाव्रताचार्य ने लिखी है। उपजाति वृत्त में रचित यह कृति कवि की उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभा की द्योतक है। कवि का संस्कृत-भाषा पर असाधारण अधिकार इस कविता के निम्न उदाहरण से ज्ञात होता है—

श्रीरामचन्द्रो जगदेकचन्द्रो
राजा विराजां विरराज वर्य्यः।
आह्लादयंल्लोककुलं कुलीनः
कुलीनमिक्ष्वाकुकुलावतंसः॥

आचार्य मेधाव्रत रचित 'श्रीरामचन्द्र-नुति'[3] एक गीतिका है। इसकी प्रथम पंक्ति 'नमामि साभ्युदयं नृचन्द्रं दशरथनृपहृदयम्' कृति की गेयता सूचित करती है।

आर्यसमाज के वीतराग संन्यासी स्वामी सर्वदानन्दजी का पुण्यस्मरण करते हुए पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड ने 'यतिस्वामिसर्वदानन्द-स्मरणम्' तथा पं० विश्वबन्धु शास्त्री ने 'वीतराग-प्रशंसा' शीर्षक सुन्दर श्रद्धाञ्जलि परक कवितायें लिखी हैं। इनका प्रकाशन परोपकारी के श्री सर्वदानन्द विशेषांक (कार्तिक २०१८ वि०) में हुआ है। आर्यसमाज के पुराने मासिक-पत्र वेदप्रकाश में भी यदा-कदा इस प्रकार की श्रद्धाञ्जलि-विषयक संस्कृतक वितायें प्रकाशित होती थीं। उत्तरप्रदेश आर्य-प्रतिनिधिसभा के प्रधान पं० भगवानदीन की मृत्यु पर पं० बाबूराम शर्मा ने 'शोक-दशक'[4] शीर्षक शोक काव्य लिखा। करुणरस से परिपूर्ण इस रचना में दिवंगत महापुरुष के गुणों का कीर्तन करते हुए कहा गया है—

---

१. वेदप्रकाश—कार्तिक १९९९ वि०।
२. परोपकारी—फाल्गुन २०२० वि०।
३. परोपकारी—ज्येष्ठ २०१९ वि०।
४. वेदप्रकाश—जून १९१२ ई०।

समाजरत्नं निजदेशरत्नं
स्ववंशरत्नं निजजातिरत्नम् ।
स्वमान्यवेदादिषु दत्तचित्तो
हा ! हा ! क्व यातो भगवानदीनः ।।

गुरुकुल ज्वालापुर के अध्यापक पं० दिलीपदत्त शर्मा ने सम्राट् सप्तम एडवर्ड के देहान्त पर 'शोकाष्ट' शीर्षक आठ पद्य लिखे जो वेदप्रकाश जून, १९१० ई० में प्रकाशित हुए ।

श्रद्धाञ्जलि-परक अन्य कविताओं को द्विविध प्रकार से विभक्त किया जा सकता है । प्रथम कोटि में वे कवितायें आती हैं जिनमें आर्यसामाजिक पुरुषों के दिवंगत होने पर आर्यसमाजी कवियों ने उन्हें अपनी भावाञ्जलि अर्पित की । द्वितीय प्रकार की कवितायें स्वदेशस्थ अन्य महापुरुषों के स्वर्गगमन को उपलक्ष्य कर लिखी गई हैं । सर्वप्रथम हम प्रथम-कोटि की कविताओं का विवेचन करेंगे—पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड ने 'गुरुदेव-पुण्यस्मरण'[1] गुरुकुल कागड़ी के संस्थापक आचार्य स्वामी श्रद्धानन्द के विषय में लिखी । इसी प्रकार आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री[2] तथा पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु[3] के निधन पर भी पं० धर्मदेव ने अपनी शोकाञ्जलि अर्पित की है । प्राध्यापक हरिश्चन्द्र रेणापुरकर ने 'श्रीनारायणस्वामि-पुण्यस्मरण' शीर्षक कविता लिखी जो अमृतलता में प्रकाशित हुई । प्राध्यापक रेणापुरकर ने ही आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ-महारथी पं० रामचन्द्र देहलवी के देहावसान पर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए ६ पद्य लिखे जो साप्ताहिक सार्वदेशिक के ७ जुलाई १९६८ के अंक में प्रकाशित हुए । देहलवीजी के अप्रतिम व्यक्तित्व को स्मरण करता हुआ कवि लिखता है—

यः शास्त्रार्थमहारथी निरुपमो यस्तर्कपञ्चाननो
यो नैयायिकतल्लजोऽप्रतिरथो यो वाग्मिवीराग्रणिः ।
स्थातुं यस्य पुरो न शेकुररयः शास्त्रार्थवाक्संगरे
प्रत्युत्पन्नमतिर्गतो नरवरः श्रीरामचन्द्रः सुधीः ।।

उनकी अन्य श्रद्धाञ्जलिपरक रचनाओं में 'श्रीध्रुवानन्दयोगी ध्रुवंधाम यातः', 'ब्रह्मदत्तजिज्ञासुमहोदयेभ्यः श्रद्धाञ्जलिः', 'श्रीमेधाव्रत-कविरत्नाय श्रद्धाञ्जलिः', 'हा हन्त ! हन्त ! गतवान् हरिशंकरोऽपि'

१. गुरुकुल पत्रिका पौष २०१९ वि० ।
२. ,, आषाढ़ २०२० वि० ।
३. ,, पौष २०२१ वि० ।

आदि उल्लेखनीय हैं। गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के आचार्य पं० गंगादत्त शास्त्री (स्वामी शुद्धबोध तीर्थ) के स्वर्गवास पर कतिपय-शोक गीतिकायें लिखी गईं। जिनमें हरिदत्त शास्त्री रचित, **श्रीशुद्धबोधाष्टकम्** तथा **शोक-षोडशी**, दिलीपदत्त शर्मा रचित **श्री शुद्धबोध-प्रशस्ति-दशकम्** उल्लेखनीय हैं।[1]

आर्यसमाजेतर महापुरुषों के प्रति अर्पित श्रद्धाञ्जलियों में प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री और विद्वान् डा० रघुवीर[2] तथा भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद[3], के प्रति अर्पित पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड की श्रद्धा-सुमनाञ्जलि युक्त कवितायें उल्लेखनीय हैं। पं० जवाहरलाल नेहरू के निधन की शोकजनक घटना ने आर्यसमाजस्थ संस्कृत-कवियों को सर्वाधिक विचलित किया प्रतीत होता है। नेहरूजी के महाप्रयाण पर कवियों ने अपने शोकावेग को कविताओं के माध्यम से व्यक्त किया। ऐसी कविताओं में रामचन्द्र शास्त्री, विद्यालंकार लिखित **'हा-दैवदुर्विलसितम्'**[4], पं० जगन्नाथ वेदालंकार लिखित **'श्रीनेहरूमहा-प्रयाण-प्रसंगे'**[5], विद्यानिधि शास्त्री रचित वियोगिनी वृत्त में **'प्रधानमन्त्रिणः पं० जवाहरलालनेहरूमहोदयस्य महाप्रयाणमुपलक्ष्य श्रद्धाञ्जलिः'**[6], मेधाव्रताचार्य रचित **'अनभ्रवज्रपातः'**[7] धर्मदेव वि० मा० रचित **श्रीनेहरू-महोदयस्य महाप्रयाणम्'**[8] तथा वसन्ततिलका वृत्त में प्राध्यापक हरिश्चन्द्र रेणापुरकर लिखित **'जवाहरलालनेहरू'**[9] तथा **'श्रीनेहरूनिर्याणम्'**[10] महत्त्वपूर्ण हैं। दिवंगत राष्ट्रपुरुष के व्यक्तित्व और चरित्र का उदात्तरूपेण आकलन करते हुए कवियों ने अपनी भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है।

---

१. ये तथा शोकपंचकम् (काशिनाथ शर्मा) शिष्य-प्रलापः (प्रेमचन्द काव्य-तीर्थ), श्रीगुरुचरणाः (लक्ष्मीनारायण शर्मा), वियोगजोद्गाराः (पद्मनाभ) आदि कवितायें 'सचित्र शुद्धबोध' (सम्पादक नरदेव शास्त्री) में संगृहीत हैं।

२. 'दिवं गतो हा रघुवीरशास्त्री'. गुरुकुल पत्रिका, जेष्ठ २०२० वि०।

३. 'दिवं गतोऽजातशत्रू राजेन्द्रप्रसादमहोदयः' गुरुकुल पत्रिका, फाल्गुन २०१९ वि०।

४. गुरुकुल पत्रिका आश्विन २०२१ वि०।

५. ,, श्रावण २०२१ वि०।

६. ,, आषाढ़ २०२१ वि०।

७. ,, आषाढ़ २०२१ वि०।

८. ,, ज्येष्ठ २०२१ वि०।

९. ,, पौष २०२० वि०।

१०. संस्कृतप्रतिभा, साहित्य एकेडमी की पत्रिका में प्रकाशित।

प्राध्यापक रेणापुरकर ने **शास्त्रिशोक-लहरी**[1] लिखकर स्व० प्रधान-मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री को अपनी शोकाञ्जलि अर्पित की। वीर सावरकर की मृत्यु पर भी उनकी **'श्रद्धाञ्जलिः'**[2] तथा **'वीराय तस्मै नमः'** शीर्षक दो शोकोद्गारपरक कवितायें प्रकाशित हुईं। सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि मैथिलीशरण गुप्त[3] तथा संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् डा० श्रीपाद कृष्ण वेल्वेलकर के देहान्त पर भी उनकी स्मृति में रेणापुरकर ने अपनी श्रद्धाञ्जलि-सूचक कवितायें लिखीं। अमेरिका के स्वर्गीय राष्ट्रपति जान कैनेडी के प्रति लिखी गई उनकी शोकसूचक कविता[4] भी अत्यन्त मार्मिक है।

अभिनन्दन-काव्य—श्रद्धाञ्जलि और शोकोद्गारपरक कविताओं की ही भांति अभिनन्दन और प्रशस्तिपरक रचनाओं का भी उल्लेख किया जा सकता है। पं० विद्यानिधि शास्त्री ने तोटक वृत्त में महात्मा गांधी के अभि-नन्दन में **'श्रीगान्धिमहोदयजन्माभिनन्दनम्'**[5] शीर्षक कविता लिखी। गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी के भूतपूर्व उपकुलपति श्री सत्यव्रत सिद्धान्ता-लंकार के राज्यसभा के सदस्य मनोनीत होने पर रत्नाकर शास्त्री ने **'अभि-नन्दन'**[6] शीर्षक कविता लिखी। इसी प्रकार पं० जनमेजय विद्यालंकार ने सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के जन्म-दिवस पर **'नमो नमः सातवलेकराय'**[7] शीर्षक कविता की रचना की।

प्राध्यापक हरिश्चन्द्र रेणापुरकर लिखित अभिनन्दन तथा प्रशस्तिपरक कवितायें भी महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी महात्मा गांधी के जन्म-दिन पर लिखित **'श्रीमहात्मगांधिमहोदयेभ्यः श्रद्धाञ्जलिः'**, पं० नेहरू के जन्मदिन पर लिखित **'जीवेच्चिरं जवाहरलालभास्वान्'**, पं० सातवलेकर के जन्मदिन के उपलक्ष्य में रचित **'जीवेच्चिरं सातवलेकरार्यः'** तथा भारतीय गणतन्त्र-दिवस के उपलक्ष्य में उपजाति वृत्त में रचित **'जीवेच्चिरं भारतलोक-राज्यम्'**[7] आदि कवितायें प्रमुख हैं। उन्होंने **'धन्यो-धन्यः कालिदासः**

---

१. अमृतलता (स्वाध्यायमण्डल की त्रैमासिक संस्कृत पत्रिका)।

२. अमृतलता में प्रकाशित।

३. अमृतलता में प्रकाशित।

४. 'हा हन्त! हन्त! गतवान् कनाडिर्दिवं सः।

५. गुरुकुल पत्रिका मार्ग शीर्ष २०२० वि०।

६. ,, माघ २०२१ वि०।

७. ,, भाद्रपद २०२१ वि०।

कवीन्द्रः'[1] शीर्षक एक अन्य कविता भी लिखी है जिसमें महाकवि कालिदास के काल, जीवन तथा कवि की रचना-शैली पर प्रकाश डाला है। महाकवि के गुणों की परिगणना करते हुए प्राध्यापक रेणापुरकर लिखते हैं—

भास्वद्रत्नं प्रगुणसदसो विक्रमादित्यशास्तुर्
नक्षत्रं च प्रखरतमभा विश्वसाहित्यव्योम्नः।
मूर्तो नूनं व्यरचि विधिना मानदण्डः कवीनां
धन्यो धन्यः कविकुलगुरुः कालिदासः कवीन्द्रः॥

इसी प्रसंग में पं० शंकरानन्द शास्त्री लिखित **'परोपकारी विजयः'**[2] तथा बड़ौदा नरेश स्व० सयाजीराव गायकवाड़ के अभिनन्दन में लिखित **'विजयतां नृपशिरोमणिः सयाजीरावः'**[3] शीर्षक कवितायें भी उल्लेखनीय हैं।

वीर-रसात्मक कवितायें—१९६२ के अक्टूबर मास में चीन द्वारा भारत की उत्तरी सीमा के अतिक्रमण तथा दुर्दान्त आक्रमण ने संस्कृत कवियों की सरस्वती को भी स्फूर्त किया। इन कवियों ने चीन के दानव शासकों को ललकारा तथा भारत के रणबांकुरे सैनिकों की विजय-कामना करते हुए उनका अभिनन्दन किया। नरसिंह शास्त्री ने **'रणघोषः'** शीर्षक कविता लिखी। इस रचना में ओजगुण मानो साकार हो गया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

श्रुत्वा शत्रुगणस्य सङ्गररवं शस्त्रास्त्रविस्फोटजं
शार्दूलायितभारतीयपुरुषाश्चीनीयवन्यान् मृगान्।
हत्वा शोणितवाहिनीं हिमगिरौ संवाहयन्ति क्रुधा
एतत् पश्यत धीरभारत-महाशार्दूलविक्रीडितम्॥[4]

इसी कवि ने एक अन्य कविता में शत्रु को ललकारते हुए लिखा—

रे रे कम्युनिज्ममतान्धपशवश्चीनीयदुर्जन्तवः
युष्माभिः सुविशालभारतभुवः सीमाप्रदेशो महान्।
चौर्येणापहृतः स सर्वविदितः शौर्येण नो सर्वथा
तं प्राप्तुं समराङ्गणे न हि वयं भीता भवामः क्वचित्॥[5]

---

१. अमृतलता में प्रकाशित।

२. परोपकारी चैत्र १९९९ वि०।

३. वेदप्रकाश—आषाढ़ १९९८ वि० के अंक में प्रो० जे० सी० स्वामीनारायण की कविता।

४. गुरुकुल पत्रिका ज्येष्ठ २०२० वि०।

५. ,, माघ २०१९ वि०।

पं० वासुदेव द्विवेदी, साहित्याचार्य ने 'कदम-कदम बढ़ाये जा' इस गीत की शैली में एक युद्ध-प्रयाण गीत लिखा—

सादरं समीयताम्,
वन्दना विधीयताम् ।
श्रद्धया स्वमातृभू-
समर्चना विधीयताम् ॥[१]

इसी कवि ने अतुकान्त मुक्त छन्द शैली में शत्रु देश को आह्वान करते हुए अपनी 'चपेटिका' शीर्षक कविता में लिखा—

अरे चीन !
दुर्गर्वपीन !
रे मर्यादाविश्वासहीन !
वद
कुत्र गता ते लज्जा ?
छलबलयुक्ता
अद्य दानवी
एषा ते रणसज्जा ![२]

इसी प्रसंग की अन्य कविताओं में व्रजनाथ झा लिखित 'चीनपाकौ यतेते',[३] तथा डा० हरिदत्त पालीवाल रचित 'सुराणां हिमालयोऽयम्'[४] शीर्षक कवितायें भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्राध्यापक हरिश्चन्द्र रेणापुरकर ने भी 'भोः चीनभू-शासकाः !!' तथा 'भोः पाकभू-शासकाः' जैसी कवितायें लिखी हैं। ये कवितायें भारत–चीन तथा भारत–पाकिस्तान के युद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखी गई हैं। इनमें वीररस का अत्यन्त ओजस्वितापूर्ण शैली में चित्रण हुआ है। भारत के सत्पक्ष तथा शत्रु देशों के छल-छद्म का काव्यात्मक विवेचन इन कविताओं की मुख्य विशेषता है। पाकिस्तान के युद्धलिप्सु, समरोन्मादग्रस्त धर्मान्ध शासकों को ललकारते हुए कवि कहता है—

युद्धोन्मादवशाद्विवेकविधुरा भोः पाकभूशासकाः
असमच्छान्तिसहिष्णुतादिकगुणाः क्लैब्यं भवद्भिर्मताः ।

---

१. गुरुकुल पत्रिका फाल्गुन २०१९ वि० ।
२. „ फाल्गुन २०१९ वि० ।
३. „ श्रावण २०२१ वि० ।
४. „ माघ २०१९ वि० ।

सौहार्दं सहजं विलुप्तमतिभिर्दैन्यं नु संतर्कितं
दुष्टानां दलने वयं तु विकटाः काला विज्ञानन्तु भोः ॥[1]

भारत के आन्तरिक विग्रहों तथा देश की राष्ट्रीय-एकता को दुर्बल बनाने वाले प्रान्तीय सीमा-विवाद एवं भाषा-विवाद पर भी प्राध्यापक रेणापुरकर का ध्यान गया है। उनकी **'भो देशभक्तोत्तमाः'** शीर्षक कविता देश के इसी सर्वनाशोन्मुखी कलह का वास्तविक एवं यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करती है। कवि भारतवासियों को सम्बोधित करता हुआ कहता है--

भो भो! भारतवासिबान्धवजना! भो देशभक्तोत्तमाः!
यूयं किं मतिविभ्रमेण गदिता किं वा मदोन्मादिताः ।
उद्भ्रान्ता अथवा विमूढमतयो जाता नु किं वातुलाः
यस्माद् भोः ! कलहंमिथो विदधतो नाशोन्मुखं धावथ ॥[2]

सामयिक राजनैतिक तथा राष्ट्रिय समस्याओं की ओर ध्यान आकृष्ट होना इन कवियों की दूरदर्शिता तथा सामाजिक जीवन के प्रति उनकी उत्तर-दायित्वपूर्ण भावना व्यञ्जित करता है।

आध्यात्मिक तथा दार्शनिक कवितायें--आध्यात्मिक तथा दार्शनिक विषयों से सम्बद्ध संस्कृत कवितायें भी लिखी गईं। ऐसी कविताओं में प्राध्यापक हरिश्चन्द्र रेणापुरकर रचित **'सुखस्यैकमूलं भवत्यात्मतत्त्वम्'**[3] उल्लेखनीय है। इसमें मानव के वर्तमान दुःख की मीमांसा करते हुए जड़ प्रकृति की उपासना तथा आत्मा को विस्तृत कर देना ही मनुष्य के दुःख का कारण बताया गया है। ज्ञान और विज्ञान के शिखर पर पहुंच कर भी प्राचीन भारत दुःखी नहीं था, इसका एकमात्र कारण उसका आत्म-विमुख न होना था। धर्म और विज्ञान के साहचर्य और सह-अस्तित्व के बिना संसार को स्वर्ग नहीं बनाया जा सकता, इसका युक्तिपूर्ण समर्थन इस कविता में है। **'वाञ्छसि बन्धो ! प्रेम यदि त्वम्'** शीर्षक कविता में प्रेम की व्याख्या करते हुए किस प्रकार त्याग और तप से ही वास्तविक प्रेम की प्राप्ति हो सकती है, इसे सृष्टिक्रम और नियम के संदर्भ में स्पष्ट किया है। **'रे मूढ मानव'** एक भक्ति प्रधान रचना है। जड़ और चेतन सम्पूर्ण सृष्टि जब रात-दिन उस विधाता का गुण-गान कर रही है, तब उसकी सर्वोत्तम-कृति मानव ही क्यों चुप है, इसका वर्णन करते हुए किस प्रकार विधाता की रचना का एक-एक कण भी मानव के

---

१. गुरुकुल पत्रिका चैत्र २०२२ वि०।
२. ,, वैशाख २०२४ वि०।
३. भुजंगप्रयात वृत्त में लिखित तथा गुरुकुल पत्रिका में प्रकाशित।

विज्ञान-गर्व को चूर्ण करने में समर्थ है, इसी बात का मनोरम विवेचन इस कविता की विशेषता है। **'देवाधिदेवपरमः मनुजैः समर्च्यः'** शीर्षक कविता में किस प्रकार जड़ मूर्ति-पूजा को छोड़कर सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त सृष्टि-कर्ता प्रभु की ही भक्ति करनी चाहिए, इसका वर्णन किया गया है। इसी प्रकार का वर्णन **'सोऽयं विधत्तां शिवम्'** इन आशीर्वादात्मक श्लोकों में किया गया है। **'न भोगाय बन्धो! शरीरं तवेदम्'** भी एक ऐसी ही आध्यात्मिक रचना है।

इसी प्रकार की अन्य कविताओं में पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड की **'विष्णु-महिमा'**[1] तथा बुद्धदेव शास्त्री की **'ईशकरुणात्मवीणावन्दनम्'**[2] आदि कवितायें भी उल्लेखनीय हैं। पं० सत्यभूषण वेदालंकार की **ओंकार-स्तुतिः**[3] तथा पं० प्रशस्यमित्र की **विनतिः**[3] शीर्षक कृतियां भी इसी शीर्षक के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। श्री चैतन्य रचित **'प्रणव-स्तुतिः'**[4] एक भक्ति प्रधान स्तोत्र काव्य है।

वेद-प्रशस्ति—आर्यसामाजिक कवियों के लिए वेद की प्रशस्ति में काव्य-रचना करना स्वाभाविक ही है। विद्यानिधि शास्त्री ने वेद की प्रशंसा में शिखरिणी वृत्त में **'वेदपुरुष-स्तुतिः'** शीर्षक एक सुन्दर स्तोत्र लिखा है। इसका निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

> **स्फुटं सृष्टेरादौ प्रकटतममाधौतकलुषं**
> **समाबिभ्रत् संज्ञा भगवदुदितं ज्ञानममलम्।**
> **अनिन्द्यः सम्बन्ध्यः सततमभिनन्द्यः कृतधियां**
> **महोच्चैः शोभावान् जयति भगवान् वेदपुरुषः॥**[5]

इसी प्रकार धर्मदेव विद्यामार्तण्ड रचित **'श्रुति-प्रशस्ति'** भी अपने काव्योचित गुणों तथा प्रसादगुण-युक्त भाषा के कारण उल्लेखनीय है। वेदमाता की स्तुति करता हुआ कवि लिखता है—

> **कल्याणी जगदीश्वरस्य सुखदा वाणी परानन्ददा,**
> **विज्ञानं विविधं जगद्धितकरं या बोधयत्यादिमा।**

---

१. गुरुकुल पत्रिका भाद्रपद २०२१ वि०।
२. ,, भाद्रपद २०२२ वि०।
३. परोपकारी—कार्तिक २०२१ वि०।
४. गुरुकुल पत्रिका मार्गशीर्ष २०२३ वि०।
५. ,, भाद्रपद २०२२ वि०।

जाड्यं या निखिलं निहन्ति वरदा संपालयन्ती सुतान्
स नः पातु सरस्वती सकलभृद् या वेदमाताऽमरा ॥[1]

शिखरिणी वृत्त में ही प्राध्यापक हरिश्चन्द्र रेणापुरकर ने 'वेद-लहरी' शीर्षक से १६ पद्यों की एक लघु कविता लिखी है। सृष्टि के आरम्भ में मानव जाति के हितार्थ, परम कारुणिक परमात्मा की जो अमर वेदवाणी आद्य मुनियों के विमल हृदयों में प्रकट हुई उसकी स्तुति करते हुए कवि लिखता है—

विसर्गादौ लीलाजनितजगदाधारविधिना
जगत्कल्याणार्थं परमकरुणापूर्णमतिना।
मुनीनामाद्यानां विमलहृदयेषु प्रकटितं
श्रुतेर्नाम्ना ख्यातं जयति भुवने ज्ञानममरम् ॥[2]

इ० वर्णी-कृत 'निगम-स्तुतिः'[3] के १४ श्लोक भी शिखरिणी छन्द के अत्युत्तम उदाहरण हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

भवन्तश्चत्वारोऽप्यहह बहुसंख्यार्थवचनाः,
स्वयञ्जोतीरूपा अपि परमहो लब्धरचनाः।
सदैवाभूतार्था अपि सकलभूतार्थकथना,
अवन्तु त्वां वेदास्तृषितजनखेदापगमनाः ॥

रामगढ़ (शेखावाटी) निवासी पं० बालचन्द्र शास्त्री, विद्यावाचस्पति ने 'वेद-स्तवनम्'[4] शीर्षक एक संस्कृत गीतिका लिखी थी। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियां इस प्रकार हैं—

विधिशम्भुसनन्मुनिवृन्दधृताम्
अघपर्वतदारणवज्रनिभाम्।
भवरोगविधूननशक्तिमरे
श्रुतिनावमिमां भज मूढमते ॥

प्रकृति वर्णन प्रधान संस्कृत कवितायें—आर्यसमाजी कवियों ने प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण करते हुए स्फुट संस्कृत कवितायें लिखी हैं। स्वामी

१. गुरुकुल पत्रिका भाद्रपद २०२३ वि०।
२. " भाद्रपद आश्विन २०२४ वि०।
३. परोकारी ज्येष्ठ १९६५ वि०।
४. वेदप्रकाश आषाढ १९६६ वि०।

शंकरानन्द शास्त्री ने 'वसन्त-वर्णनम्'[१] शीर्षक ४० पद्यों की एक लम्बी कविता लिखी। सामासिक शब्दावलीयुक्त इस कविता में अलंकारों का चमत्कार दर्शनीय है। निम्न पद्य में यमकालंकार की योजना द्रष्टव्य है—

बहुपलाशपलाशजलाशयप्रकरशीकरशीतलमारुतः।
सुरभिपुष्पसुसौरभसारभाग् जनमनोनसनः सुरभिस्फुटम् ॥

बालचन्द्र शास्त्री (उपनाम बालेन्द्र शास्त्री) कृत 'वासन्ती-कविता'[२] भी ऋतुराज वसन्त के अन्तर्गत आने वाले होली त्योहार का यथार्थ-चित्रण उपस्थित करती है। इस पर्व की वर्तमान विकृत रूढ़ियों की चर्चा करता हुआ कवि लिखता है—

गुलालस्य निक्षेपणे भस्म खारी
सुरङ्गस्य संरेचने कर्दमाम्भः।
सुवाचां समुच्चारणे गालिदानम्
अहो रे वसन्तः कथं रे वसन्तः ॥

डा० ज्ञानचन्द्र त्यागी ने गंगा का अपह्नुति अलंकार के द्वारा वर्णन किया है—

जलं नैतच्छुभ्रं जगशिशुकृतेऽयं स्तनरसस्
तटे नैते किन्तु प्रकृतिरमणीयं भुजयुगम्।
दुकूलं शीतांशुद्युतिधवलमेतन्न पुलिनं
हरेणोढा गङ्गा भुवनजननीयं न हि नदी ॥[३]

पं० धर्मदेव वेदवाचस्पति ने 'तारकितं नभः'[४] शीर्षक कविता लिख कर प्रकृति के अनिन्द्य सौन्दर्य के प्रति अपनी कमनीय रुचि का परिचय दिया है। शब्द-सौष्ठव और कल्पना-वैभव की दृष्टि से यह लघु कविता विशेष रूप से उल्लेखनीय है—

प्रफुल्लमेतत् कुमुदैः सरो वा
कार्पासकेदारमिदं नु जिष्णोः।
सहस्रचक्षुः किमयं बिडौजाः
किं वा समुद्गीर्णमणिः समुद्रः ॥

---

१. परोपकारी ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण १९९६ वि०।
२. वेदप्रकाश माघ १९९५ वि०।
३. गुरुकुल पत्रिका फाल्गुन-चैत्र २०२० वि०।
४. ,, मार्गशीर्ष २०१९ वि०।

सनाथिता वा बकुलैर्नदी स्यात्
चित्राम्बरागुण्ठितसुन्दरी वा।
किमत्र हंहो विविधैर्विकल्पैः
सुधांशुमत्तारकितं नभः स्यात्॥

प्रकृति के पुण्य-क्रोड़ में बसा गुरुकुल कांगड़ी अपने एक स्नातक कवि के हृदय में श्रद्धा और भक्ति के पूत भावों का संचार करता है। तभी तो जनमेजय विद्यालंकार ने 'गुरुकुलमातुः स्मरणम्'[1] लिख कर अपने गुरुकुल निवासकाल के विगत दिनों का ही पुनः स्मरण किया है—

पुण्यान् प्रभातान् विमलाश्च संध्याः
दिशः प्रसन्ना विदिशाश्च रम्याः।
तांस्तांश्च मुग्धान् महतः प्रमोदान्
शक्नोमि विस्मर्तुमहं न किंचित्॥

धर्मदेव विद्यामार्तण्ड ने भी 'वन्देऽहं कुलमातरम्'[2] शीर्षक कविता द्वारा 'गुरुकुल-माता' के प्रति अपनी भक्ति-प्रणत श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है।

आचार्य मेधाव्रत ने सुप्रसिद्ध चित्तौड़ दुर्ग का वर्णन ओजस्वी शैली में किया है। राजपूती शौर्य और पराक्रम के मूर्तिमान् प्रतीक चित्तौड़गढ़ की गौरवपूर्ण परम्परा का वर्णन करते हुए कवि लिखता है—

बाप्पा श्रीरावलाख्यं नरपतिमणिमारभ्य सूर्यान्वयास्ते
कुम्भा श्रीवीरसाङ्गावधिरिपुगजसंहारसिंहा बलीन्द्राः।
प्राणान् पाणौ गृहीत्वा तृणमिव गणयन्तो रणाग्नावहौषुस्-
त्राणार्थं यस्य शत्रोर्विलसति स पुरा भव्यचित्तौड़दुर्गः॥[3]

स्फुट विषयों पर लिखी गई कविताओं का समग्र-रूपेण विवेचन सम्भव नहीं है। पर्व और उत्सव आर्य जाति के सामूहिक हास और उल्लास को व्यक्त करने वाले समष्टिगत आयोजन हैं। आर्यसमाजी कवियों ने अपनी काव्य-कृतियों में इन त्यौहारों का प्रेरणाप्रद वर्णन किया है। दीपावली का आर्यसमाज में विशेष महत्त्व है क्योंकि इसी दिन दयानन्द सरस्वती ने निर्वाण प्राप्त किया था। शालिग्राम शास्त्री ने 'दीपमालोपदेशः'[4] शीर्षक कविता में महर्षि के परलोक-प्रस्थान का वर्णन करते हुए लिखा है—

---

१. गुरुकुल पत्रिका फाल्गुन-चैत्र २०२० वि०।
२. ,, चैत्र २०१९ वि०।
३. परोपकारी भाद्रपद २०२० वि०।
४. परोपकारी मार्गशीर्ष १९९५ वि०।

परितमसि पतन्तो दीपमालाकुलेऽपि
च्छलमपि कलयन्तो मोदमन्तर्वहन्ति ।
इति विकलितचेताः स्वर्गसोपानदर्शी
शिव ! शिव !! स महर्षिर्नु नमन्तर्हितोऽभूत् ॥

पं० प्रशस्यमित्र ने वेद के स्वाध्याय की प्रेरणा देने वाले श्रावणी पर्व का वर्णन अत्यन्त उदात्त शैली में किया है। उनके अनुसार—

निखिलशास्त्रपुराणसुसंगतिम्
उपदिशत्युररी करणाय या ।
जगति चात्र हि सा त्वघहारिणी
विजयताम्परितः किल श्रावणी ॥[1]

समस्यापूर्ति—समस्यापूर्ति की शैली भी संस्कृत कवियों द्वारा यदा-कदा अपनाई जाती रही है। आर्यसमाजी कवियों की प्रवृत्ति इस शैली की काव्य-रचना की ओर भी रही है। आर्यसमाज के महाकवि मेधाव्रताचार्य ने अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन के चित्तौड़गढ़ में हुए २५वें अधिवेशन के अवसर पर संस्कृत कवि सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए **'तद्भारतं-वैभवम्'** समस्या की पूर्ति करते हुए जो कविता पढ़ी थी उसमें उपनिषद् के सुप्रसिद्ध अश्वपति-उपाख्यान का संदर्भ नियोजित किया गया था—

स्तेनो न कदर्यो ना जनपदे नानाहिताग्निर्जनो-
ऽविद्वान्न च मद्यपोऽस्ति मुनयः स्वैरी क्व न स्वैरिणी ।
सम्राडश्वपतिर्जगाद सुमतिप्राप्तानृषीन्द्रानिति
प्राक्पुण्यक्षितिभृत्प्रजाहितकरं तद्भारतं वैभवम् ॥[2]

समस्यापूर्ति का ही एक अन्य उदाहरण कुमारी सुशीला आर्या की **कथं वयं विद्यार्थिनः ?'**[3] शीर्षक कविता है। कवियित्री ने इस कविता में वर्तमान युग के छात्रों में छात्रोचित गुणों के अभाव का उल्लेख करते हुए लिखा—

सदाचारेण न संयुक्ता न चापि गुणग्राहकाः ।
विनयेन भूषिताश्चेनन्न कथं वयं विद्यार्थिनः ॥

विद्यावाचस्पति पं० बालेन्दु शास्त्री ने 'भजन' शैली में एक संस्कृत लघु-गीतिका की रचना की जिसकी प्रथम पंक्ति थी—**'विधेहि ब्रह्मचर्यमुन्नतिं**

१. परोपकारी श्रावण २०२२ वि०।
२. ,, भाद्रपद २०२१ वि०।
३. गुरुकुल पत्रिका आश्विन २०२१ वि०।

यदीच्छसि'। यह कविता वेदप्रकाश (श्रावण१९६५वि०) में प्रकाशित हुई थी। इसी कवि बालचन्द्र शास्त्री ने 'भङ्गनिषेधः' शीर्षक २० श्लोकों का एक लघु काव्य लिखा था जिसमें भंगपान के दोष दर्शाए गये थे। इस लघु काव्य ग्रन्थ का उल्लेख वेदप्रकाश के माघ १९६५ वि० के अंक में समालोचना शीर्षक स्तम्भ के अन्तर्गत हुआ है।

व्यंग्य विनोदपूर्ण कथा शैली में भी कतिपय पद्य लिखे गये हैं। छुट्टनलाल स्वामी ने 'नारद-यात्रा'[1] शीर्षक उपाख्यान के अन्तर्गत नारद की भारत-यात्रा का हास्यपूर्ण वर्णन किया है। पाश्चात्य सभ्यताभिमुखी भारतवासियों को देखकर देवर्षि का आश्चर्य चकित हो जाना स्वाभाविक ही था—

एकदा नारदो योगी लोकानुग्रहकाङ्क्षया।
पर्यटन् विविधान लोकान् हिन्दुस्ताने समागतः॥

तत्र दृष्ट्वा नरान् सर्वान् प्लेगरोगेण पीडितान्।
नानावस्त्रपरिच्छन्नान् बूटकोटैश्च मण्डितान्॥

जुराबगेटिस संयुक्तान् सिगरिटधूमेन धूपितान्।
भयक्लेशसमायुक्तान् धावमानानितस्ततः॥

शोकसंतप्तहृदयान् कम्पमानान् पुनः पुनः।
केनोपायेन चैतेषां दुःखनाशो भवेद् ध्रुवम्॥

इति संचिन्त्य मनसा पंचलोकं गतस्तदा।
तत्र दृष्टः पञ्चदेवः प्रपञ्चानन्दकारकः॥

पुराणों की सरल, प्रसादपूर्ण अनुष्टुप् छन्द शैली में लिखी गई यह 'नारद-यात्रा' पर्याप्त मनोरञ्जक है।

प्राध्यापक हरिश्चन्द्र रेणापुरकर ने अन्य स्फुट विषयों पर भी भावपूर्ण कवितायें लिखी हैं। उनकी 'वाञ्छसि बन्धो? प्रेम यदि त्वम्'[2] एक नैतिक उपदेश प्रधान रचना है। स्वाध्यायमण्डल (पारड़ी) की त्रैमासिक संस्कृत पत्रिका अमृतलता में प्रकाशित 'आंग्लीधुरं क्षिपत सत्वरमात्मकण्ठात्' में विदेशी भाषा अंग्रेजी भारतीयों द्वारा त्याज्य है, इसका युक्ति एवं प्रमाणपूर्वक विवेचन किया गया है। 'अयत विश्वशुभंकरं संस्कृतम्' शीर्षक कविता में संस्कृत भाषा पढ़ने के पक्ष में युक्ति और प्रमाण एकत्रित किये गए हैं। प्राध्यापक रेणापुरकर की प्रकीर्ण संस्कृत कवितायें गुरुकुल-पत्रिका, अमृतलता,

१. वेदप्रकाश श्रावण १९६८ वि०।
२. विश्वसंस्कृतम् में प्रकाशित।

विश्व–संस्कृतम्, संस्कृत–प्रतिभा, भारत-वाणी (पूना), शारदा (पूना), मधुर-वाणी आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं।

अन्य आर्यसामाजिक पत्र-पत्रिकाओं में भी यदा-कदा आर्यसमाजी संस्कृत कवियों की कृतियां प्रकाशित होती रहती हैं। परोपकारी (कार्तिक २०१८ वि०) में सत्यव्रत स्नातक की **नववर्ष-प्रार्थना** तथा पं० प्रशस्यमित्र की एक अन्य कविता **सन्निबोधन** (परोपकारी ज्येष्ठ २०२२ वि०) उल्लेखनीय हैं। गुरुकुल पत्रिका में प्रकाशित विश्वनाथ केशव छत्रे लिखित **शिक्षा-समस्या** (फाल्गुन चैत्र २०२० वि०), वासुदेव द्विवेदी रचित **सुरभारती-सन्देशः** (फाल्गुन चैत्र २०२० वि०), स्वामिनाथ पाण्डेय कृत **पुरुषार्थ-प्रभेदाः** (मार्गशीर्ष २०२१ वि०) तथा धर्मदेव विद्यामार्तण्ड की **शिवरात्रेः सुसन्देशः** (माघ २०१६ वि०) आदि रचनायें भी सरस तथा काव्यरस पूर्ण हैं। गुरुकुल वृन्दावन के वार्षिकोत्सव पर आयोजित सरस्वती सम्मेलन के अवसर पर पठित आचार्य विशुद्धानन्द शास्त्री रचित **'पञ्चदशी'**[1] तथा गुरुकुल महाविद्यालय अयोध्या के पं० तेजोमित्र शास्त्री रचित **'यज्ञोपवीतव्रतपञ्चकम्'**[2] भी उल्लेखनीय काव्य रचनायें हैं। स्फुट संस्कृत कविताओं का समग्र विवेचन अशक्य है। यहां स्थालीपुलाक न्याय से ही उपर्युक्त विवेचन किया गया है।

संस्कृत गद्य-लेखन—

अब तक हमने आर्यसमाजी लेखकों द्वारा लिखित संस्कृत पद्य-काव्य का विचार किया। साहित्य-शास्त्रियों के मतानुसार गद्य की भी काव्य संज्ञा है। संस्कृत में **'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'** की उक्ति प्रसिद्ध है जिसके अनुसार गद्य को कवियों की कसोटी माना गया है। संस्कृत–साहित्य में पद्यबद्ध महाकाव्यों तथा अन्य प्रकार के खण्ड-काव्य, मुक्तक-काव्य आदि का अभाव नहीं है परन्तु गद्य-काव्य संख्या में विरल ही हैं। प्राचीन संस्कृत गद्य-रचनाओं में सुबन्धु की वासवदत्ता, बाणभट्ट की कादम्बरी और हर्षचरित तथा दण्डी का दशकुमारचरित उल्लेखनीय है। यों गद्य का प्रयोग कथाओं और आख्यायिकाओं के अतिरिक्त धर्म, दर्शन, साहित्य तथा अन्यान्य शास्त्रों के विवेचनात्मक ग्रन्थों के प्रणयन में भी हुआ है। इन ग्रन्थों से संस्कृत गद्य की शक्तिमत्ता तथा उसका अभिव्यञ्जना-कौशल विदित होता है।

---

१. आर्यमित्र ३ फरवरी १९६४ ई०।

२. ,, २३ फरवरी १९६४ ई०।

आर्यसमाजी विद्वानों ने संस्कृत गद्य को भी अपनी रचनाओं से समृद्ध किया है। उपन्यास जैसी नूतन साहित्यिक विधा में भी कतिपय प्रयोग किये गए हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत में निबन्ध रचना का भी सराहनीय प्रयास किया गया। आर्यसमाज ने शास्त्रार्थों में संस्कृत गद्य का प्रयोग कर उसे अधिक परिष्कृत, प्राञ्जल, युक्ति-तर्क-सम्पन्न तथा विदग्धतापूर्ण बनाने की चेष्टा की है। यहां हम आर्यसमाजी लेखकों द्वारा लिखित गद्य-रचनाओं का अध्ययन करेंगे। हमारा यह अध्ययन उपन्यास, निबन्ध और शास्त्रार्थ इन भागों में विभक्त होगा।

संस्कृत उपन्यास—उपन्यास साहित्य की अधुनातन विधा है। यद्यपि संस्कृत की कादम्बरी, दशकुमारचरित आदि रचनाओं को उपन्यास के समकक्ष माना जा सकता है, परन्तु यह निश्चित है कि आधुनिक भाषाओं में 'उपन्यास' नामक जिस साहित्याङ्ग का विकास हुआ है उसके लिए वर्तमान-काल का जटिलतायुक्त जीवन, मानव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित चरित्र और युगीन समस्याएं अधिक उत्तरदायी हैं। सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी लेखक मेधाव्रताचार्य ने 'कुमुदिनीचन्द्र' नामक उपन्यास लिखा। इसे संस्कृत गद्य की मध्यमस्थानी रचना माना जा सकता है। हितोपदेश और पञ्चतन्त्र के प्रारम्भिक सरल गद्य के पश्चात् पाठक के लिए कुमुदिनीचन्द्र का अध्ययन संस्कृत-गद्य के उच्चतम सौध पर चढ़ने के लिए सोपान का कार्य करता है। यों पं० अम्बिकादत्त व्यास के 'शिवराज-विजय' को भी मध्यमस्थानी गद्य कहा गया है, परन्तु वह कहीं-कहीं अत्यन्त दुरूह हो गया है तथा उसमें सरसता का भी क्वचिद् अभाव है।

'कुमुदिनीचन्द्र' के कथानक का आधार कोई गुजराती कथा है।[1] इसका प्रथम संस्करण १९७६ वि० में प्रकाशित हुआ। आलोच्य उपन्यास की कथा हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' के कथानक से मिलती-जुलती है यद्यपि इसमें न तो ऐयारी के करतब ही दिखाए गए हैं और न तिलिस्मी जादूगरी के करिश्मे ही चमत्कार उत्पन्न करते हैं। उपन्यास का घटनाचक्र दो राज-परिवारों की कथा तक सीमित है। उपन्यास का नायक अजितगढ़ दुर्ग के स्वामी केसरिसिंह का पुत्र चन्द्रसिंह है। विजयनगर के राजा विजयसिंह की पुत्री कुमुदिनी उपन्यास की नायिका है। नायक और नायिका की मुख्य कथा

---

१. साहित्यामृतसरोवरविहारिणा सूक्तिमौक्तिकाभ्यवहारिणा श्रीलश्रीमेधाव्रतकविहंसेन गुर्जरदेशभाषारचिताश्चर्यकथामाश्रयीकृत्य 'कुमुदिनीचन्द्रो' नामोपन्यासो व्यरचि सरलललितवाचा।

के साथ-साथ नायक के अनुज रणवीरसिंह और अमरकण्टक राज्य की राज-कन्या रत्नप्रभा की कथा भी चलती है। सूर्यपुर के पदच्युत राजा का पुत्र क्रूरसिंह उपन्यास का खलनायक है। उपन्यास का कथानक संक्षेप में इस प्रकार है।

राजकुमारी कुमुदिनी को क्रूरसिंह के अत्याचारों से बचाते हुए चन्द्रसिंह उससे प्रेम करने लगता है। क्रूरसिंह 'यथा नाम तथा गुणः' ही है। उसमें क्रूरता, दुरभिसन्धि, छल-कपट, प्रपञ्च तथा षडयन्त्रकारी प्रवृत्तियां कूट-कूट कर भरी हैं। वह छल, बल, कौशल से नायिका कुमुदिनी का अपहरण कर बलात्कार पूर्वक उससे विवाह करना चाहता है। इसी ध्येय की पूर्ति के लिए वह अनेक प्रयत्न करता है, परन्तु राजकुमार चन्द्रसिंह की वीरता, पराक्रम तथा चातुरी के कारण वह अपने लक्ष्य को पूरा करने में असफल रहता है।

चन्द्रसिंह का अनुज रणवीरसिंह अपने भाई का सहायक और अनुगामी है। उसका विवाह एक आकस्मिक घटनावश अमरकण्टक राज्य की राजकन्या रत्नप्रभा से हो जाता है। अनेक प्रकार के दांव-पेंच, कूटनीतिक चातुरी तथा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष संघर्षों के पश्चात् चन्द्रसिंह क्रूरसिंह को परास्त करने में समर्थ होता है। इस कार्य में उसे अपने पिता की भी सहायता मिलती है जो एक योगी के वेश में यत्र-तत्र विचरण करते हुए अपने पुत्र के योग-क्षेम का चिन्तन करते हैं तथा समय-समय पर चामत्कारिक रूप से उसकी सहायता भी करते हैं। क्रूरसिंह की अन्तिम पराजय तथा अपने पापों के फलस्वरूप उसको शूली का दण्ड सत्य की असत्य पर तथा न्याय की अन्याय पर विजय[1] का सूचक है। नायक को नायिका प्राप्त होती है। यही उपन्यास का फलागम है।

इस सीधे-सादे मध्यकालीन सामन्ती-जीवन से सम्बद्ध कथानक के आधार पर लेखक ने अपने उपन्यास का भवन खड़ा किया है। सत् और असत् का द्वन्द्व नायक और खलनायक के घात-प्रतिघात की पृष्ठभूमि में उभरता है और अन्त में सत्पक्ष की विजय होती है। रूढ़ कथानक की भांति ही पात्रों का चरित्र-चित्रण भी गतानुगतिक शैली का ही अनुसरण करता है। कुमुदिनीचन्द्र के पात्र टाइप शैली के हैं। चन्द्रसिंह, रणवीरसिंह, कुमुदिनी, रत्नप्रभा, योगीन्द्र आदि पात्र सत्त्वगुणसम्पन्न, शील गुण और सदाचार के भण्डार आदि से अन्त तक अपरिवर्तित रहते हैं। उनमें विनय, शील, सौजन्य आदि गुण अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचे हुए हैं। असत्य, अन्याय, दुराचार आदि दुर्गुणों का कल्मष उनके चरित्र के दिव्य-दुकूल का स्पर्श भी नहीं कर पाता। इसी प्रकार

1. Poetic Justice.

क्रूरसिंह को छली, कपटी, धूर्त, दुराचारी और परस्त्री लम्पट के रूप में चित्रित किया गया है। वह भी आदि से अन्त तक अपरिवर्तित रहता है। यह अवश्य है कि अपनी आसन्न-मृत्यु से भयभीत होकर अपने जीवन के सन्ध्याकाल में वह पश्चाताप की भावनाओं से यत्किञ्चित् अभिभूत हो जाता है, यतः अपने दुष्कृत्यों का चिन्तन करते हुए मृत्यु का प्रसन्नतापूर्वक आलिङ्गन करने में उसे तनिक भी संकोच नहीं होता है।

पात्रों के कथोपकथन अत्यन्त मार्मिक, पात्रानुकूल तथा उपन्यास की रोचकता में वृद्धि करने वाले हैं। देश, काल और वातावरण के चित्रण की दृष्टि से भी लेखक को इस उपन्यास में पूर्ण सफलता मिली है। वह सामन्त-कालीन समाज का यथार्थ चित्रण करने में सफल हुआ है। मध्यकालीन राजपूत संस्कृति के प्रतीक नगर, दुर्ग, उद्यान और अट्टालिकायें अपने सम्पूर्ण सामन्तकालीन वैभव का वहन करते हुए चित्रित किये गए हैं।

सम्पूर्ण उपन्यास षोडश कलाओं में विभक्त है जो उपन्यास के नाम—'कुमुदिनीचन्द्र' की सार्थकता का सूचक है। प्रत्येक कला के आरम्भ में लेखक ने तत्-तत् अध्याय में वर्णित विषय के संदर्भ में कथा के प्रति संकेत देने वाले संस्कृत ग्रन्थों के विविध वाक्यों और सूक्तियों को उद्धृत किया है। ऐसे सूक्ति वाक्य हितोपदेश, पञ्चतन्त्र, उत्तररामचरित, नलचम्पू, मेघदूत, रघुवंश, विक्रमोर्वशी, अभिज्ञान-शाकुन्तलम् आदि विविध ग्रन्थों से लिये गये हैं। अध्याय के आरम्भ में सूक्तियों को रखने वाली यह शैली हिन्दी के भारतेन्दु कालीन उपन्यासों में भी मिलती है।

कुमुदिनीचन्द्र का महत्त्व उसकी कथावस्तु की अपेक्षा उसके भाषा-वैभव, संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण तथा रोचक वर्णन-शैली के कारण है। प्रकृति-चित्रण में लेखक ने प्राचीन संस्कृत गद्यकारों का ही अनुकरण किया है परन्तु ऐसा करने में उसकी शैली समास-बहुला होते हुए भी न तो सुबन्धु की भाषा की तरह प्रत्यक्षर श्लेष युक्त ही हो गई है और न बाण की भांति परिसंख्या आदि चमत्कारमूलक अलंकारों से लद कर क्लिष्ट हुई है। मेधाव्रत के संस्कृत गद्य में सर्वत्र सरसता तथा प्रासादिकता के साथ ओज और तेजस्विता के भी दर्शन होते हैं। भाषा पर असाधारण अधिकार लेखक की अद्वितीय लेखन-प्रतिभा तथा उसकी दीर्घकालीन सारस्वत-साधना का द्योतक है।

कुमुदिनीचन्द्र में ऋतुवर्णन के प्रसंग अत्यन्त सुन्दर ढंग से चित्रित हुए हैं। वसन्त वर्णन का एक चित्र द्रष्टव्य है—

"अथ माकन्दमञ्जरीमकरन्दविन्दुवृन्दानि स्वादं-स्वादं सानन्दं मञ्जुल-मालपन्तीनां कोकिलानां काकलीकलकलेन दिङ्मण्डलं मुखरयन्, चन्दनपरिमल-भृता मलयानिलेन रसालतिलकचम्पकादिमहीरुहालिङ्गनजनितानन्देनेव कोर-किताम्ङ्गयष्टिकामुद्वहन्तीनां वासन्तीनां ललितलतानामुत्तमाङ्गानि मन्दमन्द-मान्दोल्याङ्गहारं शिक्षयन्निव, इन्दिरासुन्दरेन्दीवरमरन्दतुन्दिलानां जालानां मञ्जलगुञ्जनैर्निकुञ्जपुञ्जेषु विश्रान्तिसुखार्थं निषण्णानां पान्थजनानां मोहनिद्रां जनयन् वनविहाराय रसिकजनमनांसि समुत्साहयन् पुष्पमयः समुपतस्थे ।"[1]

इस वसन्त-चित्रण में भाषा की अनुप्रास प्रधानता विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है ।

वर्षा वर्णन में लेखक की भाषा अधिक समास बहुला हो गई है । यथा—

"ऋतुरेष निराकृतदिवाकरत्विषः समेधितभेककुलहृषः प्रशमितचातककदस्व-तृषः संपतदम्बुधरोदरनिर्मलनीरविप्रुषः प्रावृषः । उत्तुङ्गशैलमालाकारविडम्बि-भिर्नलिनीलैर्गजेन्द्रमञ्जुलैरभिनवजलगम्भीरगर्भनिर्घोषनिरन्तरैश्चञ्चचामीकररु-चिरकान्तिजित्वरचञ्चलाचमत्कृतिमनोहरैः प्रकटितपुरन्दरकार्मुकसुन्दरैरधोगामि-वलाकापङ्क्तिचन्द्रिरैर्मनोरमेन्दिरामन्दिरैरम्भोधराडम्बरैराच्छादितमखिलमम्बर-तलम् ।"[2]

प्रकृति वर्णन के अन्यान्य उदाहरण भी कुमुदिनीचन्द्र के भाषा सौष्ठव और वर्णन-चातुर्य की साक्षी के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं । नदी के वर्णन में कवि ने जिस शब्दावली का प्रयोग किया है उसे पढ़ कर लगता है मानो सचमुच कल्लोलिनी का प्रवाह ही पाठक के सम्मुख उपस्थित हो गया है । उदाहरणार्थ—

"कियद् दूरममुत उत्तराहि तरलतररिङ्गत्तुङ्गतरङ्गभङ्गप्रसंगसङ्गतशिला-शकलशालिनी ललितलवङ्गैलादिलतालिङ्गितवकुलतिलकरसालचम्पकप्रमुखतरु-वररुचिरोद्यानमालिनी शीतलतरतरङ्गानिलामन्दानन्ददायिनी मन्दगामिनी विमलजलवती चन्द्रवती नाम्नी तरङ्गिणी प्रवहति ।"[3]

यहां भी अनुप्रास का सौन्दर्य दर्शनीय है ।

छोटे-छोटे वाक्यों में लेखक द्वारा किया हुआ प्रातःकाल का वर्णन भी अतीव रुचिकर है—

---

१. कुमुदनीचन्द्र द्वितीय संस्करण पृ० ११ ।
२. „ द्वितीय संस्करण पृ० १५३ ।
१. कुमुदिनीचन्द्र द्वितीय संस्करण पृ० १६ ।

"संजातप्रायोऽयं प्रातःसमयः । विलीनमुडुमण्डलम् । तनूभूतं तमः । अरुणाम्बरशालिनी विराजते पुरन्दरदिगङ्गना । विहंगमकल-कलमुखरं विपिनतरुकुलम् । कुसुमसौरभसुरभिः संसरति संध्यासमयसमीरः । नाधुनापि भगवानम्बरमणिरुदयाचलशिखरमौलिमण्डनभावंभङ्गीकुरुते ।"[१]

इसी प्रकार रात्रि का वर्णन भी वातावरण के यथार्थ चित्रण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है—

"विराजते निविडान्धकारमयी झिल्लीभङ्कृतरवनिरन्तरा भयंकरी महारण्ये निशा देवी । ततोऽपि नवाम्बुजालपूर्णनीलमहाम्बुवाहमालया परिवेल्लितं सकलमम्बरतलमिति किमिव वर्णनीया भयंकरता विभावर्याः ।"[२]

उषा का सुन्दरी नायिका के रूप में रूपकात्मक वर्णन लेखक के अलंकार विधान-कौशल का एक उत्कृष्ट उदाहरण है—

"साम्प्रतमरुणरागरञ्जिता पुरन्दरदिक्सुन्दरी प्रफुल्लपुष्पस्तबकसुन्दरहस्तारविन्दा विहङ्गममञ्जुलगानमुखरमुखाम्बुजा रुचिरारुणाम्बरधारिणीमनोहारिणीयमुषा देवी सतीं राजमातृदेवीमर्चयितुमिव पुरन्दरहरिति विरेजे ।"[३]

इसी प्रकार उद्यान-वर्णन भी दर्शनीय है—

अथ नयनगोचरमुपेतममुष्यातिरमणीयानेकानोकहविवहपरिवलयितं मन्दमन्दानिलान्दोलितललितलताप्रफुल्लपुष्पवलयलालितं चलन्मरुल्लोललहरीरुचिरसरोवरविराजितं महीरुहतलोल्लसल्लास्यकलोदञ्चितचारुचन्द्रकशालिकलापिकुलसुन्दरमन्वमरावतीतीरमतिरुचिरमेकमतिविशालमुद्यानम् ।"[४]

इन उद्धरणों के देने का प्रयोजन यह बताना ही है कि संस्कृत-भाषा कितनी समास बहुला हो सकती है तथा भाषा सौन्दर्य की दृष्टि से उसमें कितनी सम्भावना छिपी है ।

'कुमुदिनीचन्द्र' वस्तुतः संस्कृत उपन्यासकला की चरम उपलब्धि है । उसके द्वारा लेखक ने भाषा-सौष्ठव, वर्णन-चमत्कार तथा कथा योजना विषयक अपनी उपलब्धियों की निर्विवाद घोषणा की है ।

आचार्य मेधाव्रत 'शुद्धिगङ्गावतार' नामक एक अन्य संस्कृत उपन्यास भी लिख रहे थे जो अपूर्ण और अप्रकाशित रह गया ।

---

१. कुमुदिनीचन्द्र द्वितीय संस्करण पृ० ६६
२. ,, ,, पृ० ७३
३. ,, ,, पृ० ९०
४. ,, ,, पृ० ११७

कुसुम-लक्ष्मी—गुरुकुल कांगड़ी के एक स्नातक आनन्दवर्धन विद्यालंकार ने 'कुसुम-लक्ष्मी' नामक एक उपन्यास संस्कृत-भाषा में लिखा है जो १९६१ ई० में प्रकाशित हुआ। इसे एक प्रणयकथा की संज्ञा दी जा सकती है। उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। विकासजनार्दन पण्डित उपन्यास का नायक है जो अपने बैंगलोर प्रवासकाल में नायिका कुसुम-लक्ष्मी से मिलता है और उससे प्रेम करने लगता है। कथा संगठन और चरित्र विश्लेषण में लेखक को अधिक सफलता नहीं मिली है। जहां तक उपन्यास की भाषा का सम्बन्ध है, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि लेखक का शब्द-वैभव प्रशंसनीय है तथा भाषा पर उसका असाधारण अधिकार है। यत्र-तत्र लेखक ने हिन्दी के ध्वनिगर्भित शब्दों को संस्कृत में रूपान्तरित करने का सराहनीय प्रयास किया है। उदाहरणार्थ सन-सन करने के लिए 'सनसनायमानया प्रबलविद्युद्धारया', दरवाजा खटखटाने के लिए 'परं कपाटं नाम यत्सत्यं धडधडायेते इति', चिलचिलाती धूप के लिए 'चिलचिलायमाने प्रखरसूर्यातपे' आदि। इसी प्रकार लेखक ने कतिपय प्रचलित शब्दों का संस्कृत रूपान्तर कर यह सिद्ध कर दिया है कि यद्यपि संस्कृत इस देश की प्राचीनतम भाषा है तथापि उसमें यदि आधुनिक जीवन को चित्रित करने वाला कथा साहित्य लिखा जाय तो शब्द-भण्डार का यत्किञ्चित भी अभाव नहीं रहेगा। लेखक ने ऐसे जिन नये शब्दों का प्रयोग किया है उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—पत्तल के लिए **पत्रावली,** बटुआ के लिए **द्रव्योपहस्तिका,** बेंच के लिए **काष्ठ-शिला,** आलमारी के लिए **कपाटिका,** दरी के लिए **स्तर्या,** चाय के लिए **कामरूपिकाकषाय,** काफी के लिए **ब्रह्मकषाय** सामान्य बोलचाल में प्रचलित अंग्रेजी शब्दों के संस्कृत पर्याय भी निर्धारित किये गए हैं। यथा Mess के लिए **महानस,** Pot के लिए **पुटग्रीव,** Currency Note के लिए **कागलमुद्रा,** Waiter के लिए **वण्डचेटक,** Face Cream के लिए **मुखधूसिका** आदि। कतिपय अंग्रेजी और हिन्दी मुहाविरों का भी संस्कृत रूपान्तर किया गया है जैसे Something Private के लिए **'किमप्यौपह्वरिकम्',** 'हाय राम' के लिए **'अहो नु खलु भोः,** 'दूध का जला छाछ को भी फूंक-फूंक कर पीता है' इस हिन्दी की लोकोक्ति का संस्कृत रूप **'पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति'** भी विशेष रूप से द्रष्टव्य है। उपन्यास में आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशनों का यथातथ्य चित्रण विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

संस्कृत निबन्ध रचना–

आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा रचित संस्कृत उपन्यासों पर विचार करने के पश्चात् हम उन संस्कृत निबन्धों पर विचार करें जो आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा लिखे गए हैं। ललित निबन्ध को साहित्य की एक अत्याधुनिक विधा समझा जाता है। यद्यपि संस्कृत में भी पुराकाल में दर्शन, धर्म, साहित्य, काव्य, अलंकार, ज्योतिष तथा आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयों पर निबन्ध लिखे गए, परन्तु आधुनिक अर्थ में उन्हें निबन्ध (Essay) न कह कर प्रबन्ध (Tretise) कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। समाचार पत्रों के विकास के साथ-साथ निबन्ध कला भी विकसित हुई और आज स्थिति यह है कि प्रत्येक पत्र-पत्रिका में अन्य रचनाओं की अपेक्षा स्फुट विषयों पर लिखे गए निबन्धों का ही बाहुल्य होता है। किसी भी विषय के सामान्य निरूपण को निबन्ध की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

आर्यसमाज द्वारा प्रकाशित विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में धार्मिक, दार्शनिक तथा नैतिक उपदेश प्रधान निबन्ध छपते रहे हैं। उदाहरण के रूप में यहां ऐसे निबन्धों का नामोल्लेख मात्र ही करना पर्याप्त होगा, जो यह सिद्ध कर देंगे कि आर्यसमाजी विद्वानों का संस्कृत निबन्ध साहित्य की अभिवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

आर्यसमाज के आद्य पण्डित भीमसेन शर्मा ने आषाढ़ १९४४ वि० से आर्यसिद्धान्त मासिक-पत्र का प्रकाशन प्रयाग से आरम्भ किया। इसमें उनके अनेक धार्मिक विषयों से सम्बद्ध संस्कृत निबन्ध प्रकाशित हुए। ऐसे निबन्धों में **महामोहविद्रावण का उत्तर**[1]—(स्वामी दयानन्द कृत ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के वेदसंज्ञा विचार प्रकरण के खण्डन में राममोहन शर्मा लिखित संस्कृत पुस्तक का खण्डन), **मतत्रय समीक्षा**[2], **मांसभोजन विचार का उत्तर**[3] (पं० लालचन्द्र विद्याभास्कर लिखित आमिष समीक्षा का खण्डन), **ब्रह्मचर्य का व्याख्यान**[4], **'गङ्गादितीर्थत्व विवेचन'**[5] आदि मुख्य हैं। इन निबन्धों में से अधिकांश पं० भीमसेन शर्मा के द्वारा ही लिखे गए हैं,

---

१. आर्यसिद्धान्त भाग १ अंक १ से लगाकर कई अंकों में धारावाही रूप में छपा।

२. आर्यसिद्धान्त भाग १ अंक ६ (कृष्णराम इच्छाराम, उपदेशक लिखित)

३. ,, भाग ८ अंक ५, ६ (माघ १८९७ ई०)

४. ,, भाग ८ अंक ११ (कार्तिक १९५४ वि०)

५. ,, भाग ९ अंक १२ (मार्गशीर्ष १९५५ वि०)

यद्यपि कई अन्य निवन्ध उनके सहयोगी पण्डितों ने भी लिखे जिनमें पं० वलदेव शर्मा[1], पं० ज्वालादत्त शर्मा[2], पं० वद्रीदत्त शर्मा[3], पं० क्षेत्रपाल शर्मा[4], पं० तुलसीराम स्वामी[5] तथा पं० रुद्रदत्त शर्मा[6] के नाम उल्लेखनीय हैं। पं० भीमसेन शर्मा के संस्कृत निवन्ध लेखन की एक विशिष्ट शैली है। पहले वे संस्कृत में निवन्ध लिखते, पुनः संस्कृत न जानने वाले पाठकों के हितार्थ उसका हिन्दी भाषानुवाद भी कर देते। आर्यसिद्धान्त में मूल संस्कृत निवन्ध तथा उसका हिन्दी अनुवाद दोनों ही छपते।

पं० भीमसेन का युग आर्यसमाज में खण्डन-मण्डन का युग था। सनातन-धर्मी क्षेत्र से आर्यसमाज के मन्तव्यों और सिद्धान्तों पर आक्षेप किये जाते। इन आक्षेपों का विद्वत्तापूर्ण समाधान करना पं० भीमसेन का ही कार्य था। सनातन-धर्म तथा अन्य मतों द्वारा प्रकाशित आर्यसमाज की आलोचना विषयक पुस्तकों का संस्कृत माध्यम से उत्तर देने में पं० भीमसेन अत्यन्त व्युत्पन्न थे। उनके द्वारा लिखे गए अन्य संस्कृत निवन्धों में **'अथ पुराणाभास-समीक्षणम्[7], स्थावर में जीव विचार[8], त्रयी विद्या का व्याख्यान[9]** (पं० सत्यव्रत सामश्रमी के 'त्रयी-परिचय' ग्रन्थ के आधार पर सामश्रमी के मत की समीक्षा) **संस्कार, पुनर्जन्म-विचार, गोमेध-अश्वमेध-विचार** आदि उल्लेखनीय हैं।

---

१. वृन्दावन निवासी मधुसूदनदास गोस्वामी लिखित 'आर्यसमाजीय रहस्य' का प्रत्युत्तर पं० बलदेव शर्मा ने आर्यसिद्धान्त (पौष १९४४ वि०) में लिखा।

२. सनातनधर्म सभा फर्रुखाबाद की मुखपत्रिका में प्रकाशित आर्य-समाज के सिद्धान्तों की समीक्षा का उत्तर आर्यसिद्धान्त (जेष्ठ १९४५) में दिया।

३. मुन्शी इन्द्रमणि कृत आर्यसमाज के दस नियमों की आलोचना का उत्तर आर्यसिद्धान्त (आषाढ़, १९४५ वि०) में दिया।

४. 'रामानुजीय मत समीक्षा' शीर्षक लेख श्रावण १९४५ के आर्य-सिद्धान्त में प्रकाशित हुआ। ये क्षेत्रपाल शर्मा मथुरा की सुखसंचारक कम्पनी के प्रतिष्ठापक एवं सुधासिन्धु के आविष्कारक हैं।

५. संस्कृत माध्यम से अनेक लिखित शास्त्रार्थ किए।

६. हरिशंकर शास्त्री कृत 'सद्धर्मदूषणोद्धार' का उत्तर आर्यसिद्धान्त (आश्विन १९४६ वि०) में 'सद्धर्म-भास्कर' शीर्षक से लिखा गया।

७. आर्यसिद्धान्त (फरवरी १८९२ तथा आगे के अंकों में धारावाही छपा)

८. आर्यसिद्धान्त—भाग ६ अंक ३, ४ में प्रकाशित।

९. आर्यसिद्धान्त—भाग ६ अंक ७, ८ तथा आगे भी प्रकाशित।

पं० भीमसेन आर्यसमाज के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उठाये जाने वाले सैद्धान्तिक प्रश्नों का शास्त्रीय समाधान अपने पत्र आर्यसिद्धान्त में प्रकाशित करते थे। प्रायः प्रश्नकर्ता संस्कृत माध्यम से ही प्रश्न पूछते और उनका उत्तर भी संस्कृत माध्यम से ही दिया जाता। ऐसे प्रश्नोत्तरों में लाहौर निवासी पं० चन्द्रदत्त शर्मा द्वारा प्रस्तुत 'जीव का विभुत्व', 'मुक्ति से पुनरावृत्ति' तथा वेदों के ईश्वर के निःश्वास होने के सम्बन्ध में तीन संस्कृत प्रश्न[1] तथा पं० भीमसेन द्वारा प्रदत्त उनका समाधान तथा नाहन निवासी पं० नाथूराम शर्मा द्वारा पूछे गए 'मुक्ति से पुनरावृत्ति' विषयक प्रश्न[2] तथा उसका उत्तर उल्लेखनीय हैं। पं० भीमसेन शर्मा की गद्य शैली सरल एवं प्रसादगुण युक्त है। उनमें शास्त्रीय रहस्यों के गूढ़ विवेचन की अद्भुत शक्ति लक्षित होती है। वे अपने मन्तव्यों की पुष्टि वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों के आधार पर करते हैं।

आर्यसिद्धान्त की ही भांति पं० तुलसीराम स्वामी द्वारा सम्पादित तथा मेरठ से प्रकाशित आर्यसमाज के प्रमुख पत्र वेदप्रकाश में भी संस्कृत निबन्धों का प्रकाशन होता था। इस समय पं० भीमसेन शर्मा आर्यसमाज का परित्याग कर सनातनधर्मी बन चुके थे। अब वे इटावा से 'ब्राह्मणसर्वस्व' नामक मासिक-पत्र प्रकाशित कर आर्यसमाज के सिद्धान्तों का खण्डन करने लगे थे। 'वेदप्रकाश' ने 'ब्राह्मणसर्वस्व' के विरोध में अच्छा मोर्चा जमा रखा था। दोनों पत्रों में अच्छी सैद्धान्तिक नोक-झोंक होती। खण्डन-मण्डन के लेखक संस्कृत भाषा में लिखे जाते और छपते। ऐसे निबन्धों में नाहन निवासी पं० नाथूराम शर्मा का 'जीवन-रक्षा' शीर्षक[3] ब्राह्मणसर्वस्व के लेख की समालोचना में लिखा गया निबन्ध, पं० बालचन्द्र शर्मा का समीक्षात्मक लेख[4], इसी लेखक का दानधर्म-समीक्षा[5] विषयक आलोचनात्मक लेख तथा पं० बालचन्द्र शास्त्री लिखित पं० भीमसेन कृत **'मुखायते पशुपते'** आदि मन्त्रों के अर्थों की आलोचना[6] विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

केवल धार्मिक तथा खण्डन-मण्डन विषयक निबन्ध ही नहीं, वेदप्रकाश में सामयिक समस्याओं का विवेचन प्रस्तुत करने वाले विचारोत्तेजक निबन्ध भी

---

१. आर्यसिद्धान्त—मार्गशीर्ष १९४६ वि०।
२. ,, द्वितीय भाद्रपद १९४७ वि०।
३. वेदप्रकाश—कार्तिक १९६२ वि०।
४. ,, आश्विन १९६५ वि०।
५. ,, कार्तिक १९६५ वि०।
६. ,, मार्गशीर्ष १९६५ वि०।

प्रकाशित होते थे। ऐसे ही निबन्धों में आर्य हाई स्कूल अम्बाला सिटी के मुख्याध्यापक पं० रामचन्द्र शर्मा का **संग्रामः**[१] शीर्षक निबन्ध है। जिस समय यह निबन्ध लिखा गया, उस समय यूरोप के रणक्षेत्र में प्रथम महायुद्ध की दावाग्नि प्रज्वलित थी। युद्धाक्रान्त भयत्रस्त मानवता का संग्राम के तत्त्वदर्शन की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। लेखक ने आलोच्य निबन्ध में युद्ध विषयक इसी तत्त्वचिन्तन को अपने विवेचन का विषय बनाया है। आरम्भ में विषय की स्थापना करता हुआ लेखक लिखता है—

"साम्प्रतं यूरोपदेशीयो घोरः संग्रामः समाचारपत्रेषु विविधभावैर्विविधरूपेषु च समालोच्यते। 'अहो! प्रवृत्तो एव घोरः संग्रामो यः प्रसारिताननो दानव इव सकल प्राणिजातमाचामितुं प्रभवति' इत्यस्ति काचिज्जनोक्तिः। अहमप्यद्य अस्मिन् विषये स्वविचारान् प्रेक्षावतां सज्जनानां पुरतः स्थापयितुं समुदितोऽस्मि।"

आर्यसमाज की वर्तमान संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं में गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी की मुख पत्रिका 'गुरुकुल पत्रिका' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस पत्रिका में आर्यसमाजी विद्वानों के विविध विषयों के निरूपक निबन्ध प्रकाशित होते रहते हैं। प्रतिपाद्य विषयों की विविधता को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि साहित्य, शिक्षा, धर्म, दर्शन, भाषा-समस्या आदि बहुविध विषयों पर युक्तिपूर्ण एवं सोद्देश्य निबन्ध लिखकर निश्चय ही आर्यसमाज के संस्कृत लेखकों ने संस्कृत भाषा के व्यावहारिक गद्य को एक विकसित शैली प्रदान की है - गुरुकुल पत्रिका में **संस्मरणात्मक, साहित्यालोचन-विषयक, संस्कृत भाषा के प्रचार व प्रसार विषयक, संस्कृत व्याकरण** तथा **वेदविषयक, दर्शन, आयुर्वेद** तथा अन्य विभिन्न विषयों पर शतशः निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। इन सबका नामोल्लेख तथा विस्तृत विवेचन इस शोध ग्रन्थ की सीमा रेखा में प्रस्तुत किया जाना अशक्य एवं असम्भव है।

आर्यसमाजी लेखकों ने पत्र-पत्रिकाओं में सामान्य लोकोपयोगी निबन्ध लिखने के अतिरिक्त कतिपय ऐसे सुगम्भीर निबन्ध भी लिखें हैं जो विषय और विवेचन दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं तथा जिनका अध्ययन और मनन अपेक्षाकृत उच्च बौद्धिक पृष्ठभूमि की अपेक्षा रखता है। ऐसे निबन्ध आकार में भी पत्रों में प्रकाशित होने वाले निबन्धों की तुलना में विशाल हैं तथा उनका विषय-प्रतिपादन एवं विचाराभिव्यक्ति भी उत्कृष्टतर है।

---

१. वेदप्रकाश नवम्बर १९१६ ई०।

स्वामी अमृतानन्द सरस्वती ने **'ओंकार-दर्शनम्'** शीर्षक एक वृहत् निवन्ध लिखा है। ग्रन्थान्त के श्लोक के अनुसार इसका निर्माण २००८ वि० में हुआ। लेखक ने ओंकार की शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। वेद, उपनिषद्, दर्शन, गीता, सूत्र, ब्राह्मण आदि शास्त्रों के आधार पर ओंकार के माहात्म्य को सिद्ध करते हुए व्याकरण, गणित, निरुक्त, कर्मकाण्ड तथा इसी प्रकार के अन्यान्य दृष्टिकोणों से 'ओंकार' पर विचार किया गया है। लेखक की भाषा न तो अत्यधिक सरल है और न अत्यधिक क्लिष्ट। शास्त्रीय विषय होने के कारण भाषा का स्तर सर्वत्र उच्च रहा है, परन्तु उसकी प्रासादिकता में कमी नहीं आई है। भाषा का उदाहरण द्रष्टव्य है—

ओमिति सर्वोत्तमं मुख्यतमं पवित्रञ्च परमात्माभिधानं वेदादि-सच्छास्त्रनिष्पन्नम्, ऋषीणां विदुषाञ्चानुभवसिद्धम्, उपनिषत्सु चेदं चारुरीत्या व्याख्यातम्, युक्तार्थसंपादकायुक्तार्थनिवारकदर्शनग्रन्थेषु चैनं द्वारीकृत्योपासना विधीयते, वेदेष्वनेनैव स्मरणविधेरादेशोऽस्ति, ओम्पदवाच्यपरमात्मनः साक्षात्कार एवापवर्गनिदानमित्यत एव सर्वत्रास्य भूरिमहिमा जेगीयते।"[1]

परोपकारिणी सभा के सदस्य सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् डा० मङ्गलदेव शास्त्री के **प्रबन्ध प्रकाश** (२ भाग) शीर्षक निवन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें इनके द्वारा रचित संस्कृत निवन्ध तथा विभिन्न दीक्षान्त भाषण तथा अन्य व्याख्यान संगृहीत हैं। पं० नरदेव शास्त्री लिखित **'यज्ञे पशुबधो वेदविरुद्धः,'** 'शास्त्रीय विषयक पर लिखित संस्कृत निवन्ध है।[2]

शास्त्रीय विषयों को लेकर संस्कृत में लिखे गए निवन्धों में पं० युधिष्ठिर मीमांसक के निम्न कतिपय निबन्ध विशेष उपयोगी हैं—

ऋग्वेदस्य ऋक्संख्या[3], **यजुषां शौक्ल्यकार्ष्ण्य-विवेकः**[4], **छन्दः संकलनम्**[5], **भारतीयं भाषाविज्ञानम्**[6] **आदिभाषायां प्रयुज्यमानानाम्**

---

१. ओंकारदर्शनम् पृ० १। घासीराम प्रकाशन विभाग आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश।

२. प्रकाशकः श्री नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ, ज्वालापुर—द्वितीय संस्करण वैशाखी पूर्णिमा १९९३ वि०।

३. सरस्वती सुषमा, वाराणसी, वर्ष ९ अंक ३, ४ तथा वर्ष १० अंक १-४, सन् १९५५।

४. सरस्वती सुषमा, वाराणसी वर्ष ११, अंक १२, सन् १९५६।

५. ,, ,, ,, वर्ष ९ अंक १,२ सन् १९५४।

६. गुरुकुल पत्रिका मई, जून, जुलाई, सन् १९६१ के अङ्कों में।

अपाणिनीय प्रयोगाणां साधुत्व-विवेचनम्[1], **संस्कृत भाषाया राष्ट्रभाषात्वम्**[2], **वेदानां महत्त्वं तत्प्रचारोपायश्च**[3] । इनमें से 'भारतीयभाषा-विज्ञानम्' बड़ौदा की संस्कृतविद्वत्सभा में पढ़ा गया था और अन्तिम निवन्ध राजस्थान संस्कृत सम्मेलन भीलवाड़ा (सन् १९६६) के अवसर पर वेद परिषद् के अध्यक्षीयभाषण के रूप में पढ़ा गया था । यह निवन्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मननीय है ।

आर्यसमाजी विद्वानों ने न केवल मौलिक संस्कृत निबन्धों की रचना ही की अपितु अन्य प्रसिद्ध संस्कृत विद्वानों द्वारा लिखे गये निबन्धों के उद्धार और प्रकाशन की भी व्यवस्था की है । वंगदेशीय संस्कृत विद्वान् पं हृषीकेश भट्टाचार्य ने पंजाब के गवर्नमेंट ओरियण्टल कालेज लाहौर के प्रिन्सिपल डा० लाइटनर की प्रेरणा से **'विद्योदय'** संस्कृत मासिक पत्रिका का वर्षों तक सम्पादन किया था । इस पत्रिका का भट्टाचार्य महोदय अपने पुरुषार्थ से ही निरन्तर ४४ वर्षों तक सम्पादन और प्रकाशन करते रहे थे । भट्टाचार्य महाशय ने अपने साहित्य-सर्जनकाल में कतिपय श्रेष्ठ निवन्ध लिखे जो भाषा और शैली की दृष्टि से वाण की तुलना में रखे जा सकते हैं ।

सुप्रसिद्ध हिन्दी साहित्यकार और आर्यसमाज के गण्यमान विद्वान् पं० पद्मसिंह शर्मा अपनी छात्रावस्था से ही भट्टाचार्य महाशय के इन निबन्धों के प्रति आकृष्ट हुए और उन्होंने यह निश्चय किया कि समय आने पर वे इन निबन्धों को सम्पादित कर पुनः प्रकाशित करेंगे ।[4] उनकी यह इच्छा १९८६ वि० में पूर्ण हुई, जब वे **प्रबन्ध-मञ्जरी**[5] शीर्षक से भट्टाचार्य महाशय के

---

१. वेदवाणी, वाराणसी, वर्ष १४ अंक १, २, ४, ५, सन् १९६१, ६२ ।

२. राजस्थान संस्कृत सम्मेलन भीलवाड़ा (सन् १९६६) के अवसर पर प्रकाशित स्मरिका में तथा गुरुकुल पत्रिका अगस्त, सितम्बर अक्टूबर सन् १९६६ के अंकों में ।

३. गुरुकुल पत्रिका तथा संस्कृत रत्नाकर में (सन् १९६६) ।

४. "पञ्चत्रिंशत्समाः समयः समतीयाय, छात्रावस्थायामधीयानस्य 'विद्योदयं' मम हृदये समुन्मिमेषैषा संकल्प-कलिका, 'सति-समये विद्योदयात् संगृह्य ते ते प्रबन्धा अवश्यं प्रकाशनीयाः, यानधीत्याहमिवान्येपि संस्कृताध्येतारो विद्यार्थिनः समुपकृताः संजायेरन्निति ।' तदानीमेव विद्योदयस्य ग्राहकत्वं प्राप्तवता मया १८९० खृष्टाब्दादारभ्य मुद्रिता विद्योदयस्य दुरवापाः समस्ताः संख्याः (या इदानीं सवत्राप्यलभ्याः सन्ति) सुमहता यत्नेन सञ्चित्य सञ्चित्य संरक्षिता। सम्पादकीयं वक्तव्यम् पृ० २४ ।

५. प्रकाशक—श्री काशीनाथ शर्मा काव्यतीर्थ-काव्यकुटीर कार्यालय नायक नगला डा०—चांदपुर (बिजनौर) १९८६ विक्रमाब्दः ।

कतिपय निबन्धों को प्रकाशित करने का अवसर प्राप्त कर सके। इस निबन्ध संग्रह में **विबुधामामन्त्रणम्, उद्भिज्ज-परिषत्, महारण्यपर्यवेक्षणम्, प्राप्तपत्रम्, चण्डीदासस्य,** तथा **यमं प्रति सम्भाषणम्** शीर्षक ६ निबन्धों को संगृहीत किया गया है। परिशिष्ट रूप में भट्टाचार्य जी की कतिपय स्फुट रचनायें भी एकत्रित की गई हैं।

पं० पद्मसिंह शर्मा स्वयं भी संस्कृत गद्य के एक सुलेखक थे। जिस प्रकार हिन्दी गद्य को उन्होंने एक विशिष्ट शैली प्रदान की, उसी प्रकार संस्कृत में भी उन्होंने प्रौढ़, प्रसन्न, गम्भीर गद्य लिखा। प्रबन्ध-मञ्जरी का 'सम्पादकीयं वक्तव्यम्' उनके द्वारा रचित एक सुन्दर निबन्ध है। आधुनिक काल में संस्कृत पठन-पाठन किस प्रकार एक उपहासनीय विषय बन गया है, इसका हास्यपूर्ण शैली में उल्लेख करते हुए शर्माजी उक्त निबन्ध में लिखते हैं—

"**प्रबलेऽस्मिन् कलिकाले, ह्रसति संस्कृतसम्प्रदाये, दिवं गतायां देववाण्यां, म्लेच्छतामापन्ने भूदेवकुले 'ब्राह्मणेन निष्कारणमिंग्लश-भाषाऽध्येया ज्ञेया चेति' नवीनं शासनं स्वीकृत्य सर्वात्मना श्रुतिमिव राजभाषामभ्यस्यति द्विजवर्णे**······आदि।"[1]

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के वार्षिकोत्सवों पर सरस्वती सम्मेलन आयोजित किये जाते थे। गुरुकुलीय साहित्य परिषद् के तत्त्वावधान में निष्पन्न होने वाले इन सरस्वती सम्मेलनों में विविध विद्वानों को संस्कृत पाठ के लिए आमन्त्रित किया जाता रहा है। कालान्तर में ये निबन्ध पुस्तकाकार प्रकाशित किये जाते थे। ऐसे निबन्धों में अखिलानन्द शर्मा रचित **'संस्कृतसाहित्यस्य वर्तमानदशा,'** पं० शिवशंकर शर्मा लिखित **'षड्दर्शनविरोधाविरोध-विचारः,'** इन्द्रचन्द्र वेदालंकार लिखित **'षड्दर्शनी धर्मपदयोग्या न वा,'** जयचन्द्र विद्यालंकार कृत **यास्कीयाः सिद्धान्ता आर्यमतानुकूला न वा,'** श्रीपाद दामोदर सातवलेकर रचित **'प्रतिदिनस्य वैदिकी शैली,'** हरिश्चन्द्र विद्यालंकार लिखित **'साहित्य-विमर्शः,'** ब्रह्मचारी ब्रह्मदत्त कृत **'आर्याणां-सभ्यता'** तथा केशवदेव शास्त्री लिखित **'ब्राह्मणालोचनम्'** आदि विशेषतया उल्लेखनीय हैं। सरस्वती सम्मेलनों का सभापतित्व करने के लिए देश के सम्मान्य संस्कृत विद्वानों को आहूत किया जाता था। इनके द्वारा लिखित संस्कृत अभिभाषण भी संस्कृत निबन्ध साहित्य की स्थायी निधि हैं। महामहो-पाध्याय पं० विधुशेखर भट्टाचार्य तथा प्रो० सत्येन्द्रनाथ सेन प्रदत्त भाषण

---

१. प्रबन्ध-मञ्जरी-सम्पादकीयं वक्तव्यम्, पृ० २५।

प्रकाशित हो चुके हैं। आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा रचित इन निबन्धों ने संस्कृत गद्य को परिष्कृत और परिमार्जित करने में अपूर्व योगदान दिया है।

संस्कृत भाषा के माध्यम से शास्त्रार्थ—

आर्यसमाज ने धार्मिक प्रश्नों पर विचार करने के लिए वाद-विवाद और शास्त्रार्थ की परिपाटी को प्रोत्साहित किया। भारत के धार्मिक और दार्शनिक जगत् में शास्त्रार्थ प्रणाली विचार-विमर्श की एक सर्वमान्य पद्धति रही है। उपनिषत्कालीन गार्गी और याज्ञवल्क्य के आध्यात्मिक संवाद तथा शंकर और मण्डन मिश्र का जगत्प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हमारी दार्शनिक चिन्ता के प्रोज्ज्वल प्रतीक हैं। स्वामी दयानन्द ने अपने जीवनकाल में विभिन्न मतों और सम्प्रदायों के अनुयायियों से शास्त्रार्थ किये। स्वामी दयानन्द के ये शास्त्रार्थ केवल सनातनधर्मावलम्बियों तक ही सीमित न रह कर जैन, इस्लाम तथा ईसाइयत के धर्माचार्यों से भी हुए हैं।

यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि धर्म विषयक आन्दोलन भी भाषा की प्रगति और विकास में बहुत कुछ सहायक होते हैं। संस्कृत भाषा और साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि संस्कृत की उन्नति और प्रगति में जितना वैदिक ब्राह्मण धर्मानुयायियों का हाथ रहा, उससे किसी भी प्रकार न्यून बौद्ध और जैनमतावलम्बियों का संस्कृत विषयक योगदान भी नहीं रहा। यही कारण है कि संस्कृत भाषा का पठन-पाठन और उसमें धर्म-ग्रन्थों का प्रणयन वैदिकेतर—बौद्ध और जैन सम्प्रदायों की भी एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है। बौद्ध और जैन चिन्तन-धाराओं का मूल उत्स भी भारत ही था। अतः भारतीय साहित्यिक परम्परायें इन मतों को भी दाय के रूप में प्राप्त हुईं। फलतः बौद्ध, जैन और वैदिक—सभी संस्कृत भाषा और उसके वाङ्मय को अपनी अमूल्य निधि समझते रहे। ये सभी विभिन्न धर्मानुयायी अपने धर्म-ग्रन्थों का निर्माण, दर्शन, धर्म और आध्यात्मिक विषयों के अध्ययन तथा शास्त्रीय विचार-विमर्श के लिए संस्कृत भाषा को एक सशक्त और सजीव माध्यम के रूप में स्वीकार करते आए हैं।

इस विवेचन की आवश्यकता इसलिए हुई क्योंकि हम यह दिखलाना चाहते हैं कि आर्यसमाज ने भी धार्मिक वाद-विवाद में जो शास्त्रार्थ की प्रणाली अपनाई, उससे संस्कृत भाषा के प्रचार में सहायता मिली तथा उससे इस तथ्य की पुष्टि हुई कि संस्कृत एक मृत भाषा न होकर लोगों के भाव-प्रकाशन का एक सशक्त और जीवन्त माध्यम है। जिस प्रकार शताब्दियों

पूर्व के धर्म-जिज्ञासु और दार्शनिक-चिन्तक अपने वाद-विवाद और शास्त्रीय ऊहापोह के लिए संस्कृत माध्यम को चुनते थे, उसी प्रकार आज भी पारस्परिक शास्त्रार्थों और धार्मिक विचार-विमर्श में संस्कृत की सहायता ली जाती है।

यद्यपि यह सत्य है कि सामान्य जनता उसी बात को समझती है जो जन-सामान्य में प्रचलित भाषा में कही जाय। इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर आर्य-समाजी विद्वानों के जो शास्त्रार्थ परमतावलम्वी लोगों से हुए उनमें से अधिकांश का माध्यम हिन्दी ही था। फिर भी परम्परा -पालन की दृष्टि से कतिपय महत्वपूर्ण शास्त्रार्थ संस्कृत में भी हुए। इस बात का पता लगाना अत्यन्त कठिन है कि कितने शास्त्रार्थ संस्कृत में हुए और कितने हिन्दी में, क्योंकि अधिकांश शास्त्रार्थ मौखिक ही होते थे और उन्हें लिपिबद्ध करने का अवसर बहुत कम आता था। फिर भी अनेक लिपिबद्ध शास्त्रार्थ भी होते थे, जिनका विस्तृत विवरण कालान्तर में पुस्तकाकार प्रकाशित हो जाता था। इन प्रकाशित शास्त्रार्थों के आधार पर हम यह विचार कर सकते हैं कि शास्त्रार्थों में प्रयुक्त संस्कृत भाषा का क्या रूप रहा होगा तथा उससे संस्कृत भाषा की भावाभिव्यञ्जन शक्ति को किस प्रकार बल मिला होगा।

इन शास्त्रार्थों में जो भाषा शैली प्रयुक्त होती थी, उसमें निम्न विशेषतायें रहती थीं— संस्कृत के माध्यम से होने वाले ये शास्त्रार्थ भाषा की वाद-विवाद विषयक शक्ति को प्रकट करते हैं। शास्त्रार्थों में स्वमत के पोषण की अपेक्षा प्रतिपक्षी को शीघ्रातिशीघ्र-निग्रह स्थान पर पहुँचाने की चेष्टा की जाती थी। अधिकांश में विषय-प्रतिपादन की अपेक्षा वाग्विलास को ही महत्त्व दिया जाता था। व्यंग्य, वक्रोक्ति, वैदग्ध्य आदि भाषा के गुण समझे जाते थे। व्याकरण विषयक सूक्ष्म त्रुटियों और स्खलनों का उल्लेख करते हुए प्रतिपक्षी के भाषा-ज्ञान का उपहास किया जाता था तथा कभी-कभी न्याय शास्त्रानुमोदित वाद प्रणाली को छोड़ कर जल्प, वितण्डा और हेत्वाभासों का सहारा लेते हुए प्रतिपक्षी को परास्त करने का यत्न किया जाता था। शास्त्रार्थों की भाषा में लौकिक न्याय, लोकोक्तियों, आभाणकों तथा मुहावरों का प्रयोग होता था।

जो शास्त्रार्थ लिखित रूप में होते थे उनकी भाषा में एक निराली कसावट-सामासिकता-अल्पाक्षरों में बहुत कुछ कह देने की प्रवृत्ति पाई जाती है। मूलतः विचारणीय और पारस्परिक विवाद के विषय पर उक्ति प्रत्युक्ति करने की अपेक्षा शास्त्रार्थ करने वाले अपने प्रतिपक्ष के लेख अथवा वक्तव्य में व्याकरण विषयक अपप्रयोगों पर जो आक्षेप करते थे उन्हें समझना या उन पर

निर्णय देना चाहे सामान्य लोगों के वश के बाहर हो, परन्तु इससे शास्त्रार्थी पण्डितों का मनोविनोद तथा मनस्तुष्टि अवश्य हो जाती थी। कभी-कभी भाषा में भावुकता का पुट तथा जनता की भावनाओं को उभारने का प्रयास भी रहता था। इस शैली को प्रलाप-शैली के नाम से आलोचकों ने अभिहित किया है। अस्तु।

शास्त्रार्थों की भाषा विषयक सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने के पश्चात् हम आर्यसमाज के उन प्रकाशित संस्कृत शास्त्रार्थ-ग्रन्थों पर विचार करते हैं जिनसे उपरि निर्दिष्ट तथ्यों की पुष्टि होती है। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द का काशी के विद्वत्-समाज से (वि० सं० १९२६ में) जो प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ था, उसका संस्कृत विवरण प्रकाशित हो चुका है। इसे पढ़कर यह जाना जा सकता है कि यद्यपि शास्त्रार्थ का मूल विषय मूर्तिपूजा की वैदिकता ही था, तथापि शास्त्रार्थी उभय पक्ष किस प्रकार विवाद के मुख्य विषय को छोड़कर व्याकरण की जटिलताओं में फंस गये थे।[1] स्वामीजी का पं० ताराचन्द तर्करत्न से मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ भी संस्कृत ही में हुआ था।[2]

शास्त्रार्थ-फिरोजाबाद—संस्कृत भाषा के माध्यम से एक अन्य शास्त्रार्थ फिरोजाबाद में आर्यसमाज और जैनमतालम्बियों के मध्य मार्च १८८८ ई में पत्र-व्यवहार के माध्यम से हुआ। आर्यसमाज के पक्ष-पोषक स्वामी दयानन्द के साक्षात् शिष्य पं० भीमसेन शर्मा और पं० देवदत्त शर्मा थे। जैन पक्ष का पोषण पं० पन्नालाल और पं० छेदालाल ने किया। वास्तविक शास्त्रार्थ से पूर्व दोनों पक्षों की ओर से शास्त्रार्थ-विषयक नियमों के निर्धारण तथा विचारणीय विषयों की तालिका बनाने के सम्बन्ध में संस्कृत में पत्र-व्यवहार हुआ। शास्त्रार्थ का सम्पूर्ण विवरण प्रकाशित हो चुका है।[3] लौकिक न्यायों तथा दृष्टान्तों द्वारा अपनी बात को पुष्ट करने का आग्रह शास्त्रार्थों में विशेष

---

१. "तदा स्वामिनोक्तम्—इदानीं व्याकरणे कल्मसंज्ञा क्वापि लिखिता नवेति ? तदा बालशास्त्रिणोक्तमेकस्मिन् सूत्रे संज्ञा तु न कृता परन्तु महाभाष्यकारेणोपहासः कृत इति। तदा स्वामिनोक्तम् कस्य सूत्रस्य महाभाष्ये संज्ञा तु न कृतोपहासश्चेत्युदाहरणप्रत्युदाहरणपूर्वकं समाधानं वदेति ? बालशास्त्रिणा किमपि नोक्तमन्येनापि चेति"। काशी-शास्त्रार्थ पृ० ७।

२. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य—हुगली-शास्त्रार्थ प्रकरण (दयानन्द ग्रन्थ संग्रह) पं० जगत्कुमार शास्त्री द्वारा सम्पादित। यह शास्त्रार्थ चैत्र शु० ११ सं० १९३० को हुआ।

३. वैदिक यन्त्रालय, अजमेर से प्रकाशित।

रूप से रहता था। उदाहरणार्थ उपर्युक्त फीरोजाबाद के शास्त्रार्थ में आर्य-समाज की ओर से जो पत्र भेजा गया है उसमें लिखा है—

"यच्चोक्तं शास्त्रार्थकाल एव विषयो निर्णेय इति तन्न कुतः सति कुड्ये चित्रं भवतीतिवत् पूर्वमेव विषयो निर्णेतव्यः ॥"[1]

जो आपने कहा कि शास्त्रार्थ के समय ही विषय का निर्णय हो जायेगा, सो ठीक नहीं, क्योंकि भित्ति होने पर ही चित्र अंकित किया जा सकता है, अतः पूर्व से ही विषय का निर्धारण हो जाना चाहिये। इसमें **'सति कुड्ये चित्रं भवति'** दृष्टान्त महत्त्वपूर्ण है।

जैन पक्ष के प्रथम पत्र के उत्तर में आर्यसमाज की ओर से जो द्वितीय पत्र प्रेषित किया गया उसके आरम्भ में ही विपक्ष के व्याकरण विषयक स्खलन पर आक्षेप करते हुए लिखा गया है—

"अपदं न प्रयुञ्जीत इति शब्दशास्त्र-नियमात्, अपदत्वं च विभक्तिरहितत्वं सुप्तिङन्तं पदमिति शासनात् प्रथम प्रश्न इति लेखोऽपभाषणम्।"[2]

इसी प्रकार जैन पक्ष की ओर से जो उत्तर आर्य समाज को दिया गया, उसमें खपुष्प के तुल्य असम्भव,[3] इस उपमा तथा **'आम्राणां प्रश्ने कोविदारमाचष्टे,'**[4] जैसे आभाणक का प्रयोग हुआ है।

बूंदी-शास्त्रार्थ—माघ संवत् १९४५ वि० में आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध संन्यासीयुगल स्वामी विश्वेश्वरानन्द और ब्रह्मचारी नित्यानन्द का बूंदी राज्य के राजपण्डितों के साथ **वेदसंज्ञा विचार** (क्या ब्राह्मण ग्रन्थों की वेद संज्ञा है?) विषय पर पत्र-व्यवहार के माध्यम से संस्कृत में लिखित शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ का सम्पूर्ण विवरण छप चुका है।[5] दोनों पक्षों की ओर से कुल ११ पत्रों का आदान-प्रदान हुआ। भाषा की दृष्टि से जब हम इस शास्त्रार्थ पर विचार करते हैं तो हमें विदित होता है कि दोनों पक्ष अत्यन्त प्रगल्भता के साथ स्वमत की पुष्टि तथा परपक्ष के निराकरण में तत्पर हैं। बूंदी के राज-पण्डित अपने पत्रों में कहीं तो आर्यसमाज के पक्ष-पोषकों के कथन को 'कहे

---

१. शास्त्रार्थ फीरोजाबाद, पृ० ७, वैदिक यन्त्रालय का चतुर्थ संस्करण।

२. शास्त्रार्थ फीरोजाबाद, पृ० २१।

३. "तदपि चित्रं खपुष्पमितिवत् प्रतीयमानत्वात्" पृ० ३१।

४. "आम्राणां प्रश्ने कोविदारमाचष्ट इतिवत् प्रमाणनिरूपणावसरे भिन्नजिनजैनादिनां विषयविषयित्ववर्णनात्।"

५. मन्त्री, आर्यप्रतिनिधि सभा, राजस्थान द्वारा प्रकाशित।

खेत की सुने खलिहान की' इस कहावत का पूरक बताते हैं[१] तो कभी उनके कथन में अर्धजरतीय[२] दोष देखते हैं। आर्यसमाज के संन्यासीगण भी राज-पण्डितों के कथन को गगन कुसुम[३] के तुल्य असम्भव और असंगत बताते हुए कभी उनके लिखित वक्तव्य को भूसे में लट्ठ मारने के तुल्य कहते हैं[४] तो कभी उन्हें विपक्षियों का कथन साहसमात्र प्रतीत होता है।[५] शेष बातों को वे अप्रासंगिक[६] कह कर ठुकराने में भी संकोच नहीं करते। बूंदीस्थ पण्डितों को आर्यसमाजी स्वामियों का पत्र लेखन व्यर्थ पत्र-लेप (पन्ने काले करना) ही प्रतीत होता है।[७]

अपने अन्तिम उत्तर में स्वामी विश्वेश्वरानन्द तथा ब्रह्मचारी नित्यानन्द ने बूंदी के पण्डितों की लीला की ओर आर्य, धार्मिक, रागद्वेष-शून्य और नीतिज्ञ विद्वानों का ध्यान आकर्षित करते हुए भावुकतापूर्ण भाषा में 'स्वार्थी-व्यक्ति स्वदोष को नहीं देखता' इस न्याय की दुहाई देते हुए विपक्ष की दुर्बलता की ओर संकेत किया है।[८] अपने इस उत्तर में सन्यासियों ने कहीं तो विपक्ष के मत में आत्माश्रय[९] दोष देखा है और कहीं उसे अन्योन्याश्रय दोष[१०] से दूषित पाया है। अन्त में वे विपक्षियों को प्रतिज्ञा-हानि करने के कारण निग्रह-स्थान में पहुँचा हुआ देखते हैं।[११]

---

१. 'अहो आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे इत्युक्तन्यायमनुसृत्य व्यवहारः प्रवर्त्तितः'। पृ० ३।

२. 'अर्धजरतीयस्य सर्वाऽसम्मतत्वात्'। पृ० ४। अर्धं जरत्याः कामयन्तेऽर्धं न, मुखमस्या न कामयन्तेऽङ्गान्तरं तु कामयन्ते इत्यर्धजरतीयन्यायस्वरूपं द्रष्टव्यम्।

३. 'भवद्भिर्यदुक्तम् तत्तु गगनकुसुमायते'। पृ० ५।

४. 'वेदस्वत' इत्यारभ्य 'शक्य' मित्यन्तं यदुल्लिखितं तत्तु केवलं बुसताडनमेवास्तीति। पृ० ३५।

५. 'तथा च किञ्च' इत्यादि यदुक्तम् तदपि साहसमात्रम्। पृ० ३५।

६. अन्यदप्रासङ्गिकमिति। पृ० ३५।

७. 'वृथा पत्र-लेपो न कार्यः। पृ० ३६।

८. अहो! बून्दीस्थपण्डितानां लीला सर्वैः शिष्टैरार्यैर्धार्मिकै रागद्वेषशून्यैर्नीतिज्ञैर्विद्वद्भिरवलोकनीया। यत 'अर्थी दोषं न पश्यतीति न्याया-मनुसृत्य आदि। पृ० ३८।

९. भवतां एव प्रत्युतात्माश्रय दोषेण कलङ्कितत्वात्। पृ० ४०।

१०. तथैवान्योन्याश्रयोऽपि भवन्मते। पृ० ४०।

११. 'अत एव प्रतिज्ञा-हानत्वेन भवतां निग्रह-स्थानम्'। पृ० ४५।

'वेदसंज्ञा-विचार' विषय पर ही एक अन्य लिखित शास्त्रार्थ शाहपुरा के राजपण्डित षट्शास्त्री यमुनादत्त शर्मा और करौली के राजपण्डित चन्द्रशेखर शर्मा के बीच १९५५ वि० में हुआ था। इसमें शाहपुरा के पण्डित यमुनादत्त शर्मा का मन्तव्य आर्यसमाज के मत के अनुकूल था। यह लेख बद्ध शास्त्रार्थ १९५६ वि० में काशी के हितचिन्तक यन्त्रालय से प्रकाशित हो चुका है।

कभी-कभी इस प्रकार के शास्त्रार्थों की वास्तविक विवादास्पद विषयों पर विचार करने से पूर्व ही नियम आदि के निर्माण के सम्बन्ध में होने वाले दोनों पक्षों के पत्र-व्यवहार के साथ-साथ समाप्ति हो जाती थी। इसी प्रकार का संस्कृत पत्र-व्यवहार भारतधर्म महामण्डल के मंत्री व्याख्यान वाचस्पति पं० दीनदयालु शर्मा और आर्यसमाज कानपुर के मंत्री के बीच हुआ था।[1]

शास्त्रार्थों में न्याय-शास्त्र स्वीकृत पञ्चावयवी तार्किक वाक्यों को प्रयोग में लाना कभी-कभी आवश्यक समझा जाता था। आर्यसमाज डीडवाना (राजस्थान) के तत्त्वावधान में जो शास्त्रार्थ नवम्बर १९५३ में आर्यसमाज और सनातनधर्म के बीच हुआ उसमें सनातनी पक्ष के पण्डितों ने यदा-कदा अपने मत की पुष्टि में पञ्चावयवी वाक्यों को प्रस्तुत किया है[2] तथा आर्य-समाज ने अपना उत्तर पक्ष प्रस्तुत करते हुए पूर्वपक्ष में न्यायकथित सत्प्रतिपक्ष-हेत्वाभास[3] को देखा है।

नियोग की शास्त्रीयता पर पत्र-व्यवहार के माध्यम से एक शास्त्रार्थ आर्यसमाज परीक्षितगढ़ के उपदेशक पं० तुलसीराम शर्मा (स्वामी) तथा धर्मसभा के उपदेशक पं० हीरालाल के मध्य आषाढ़ शुक्ला १२, सं० १९४६ से प्रारम्भ होकर एक पक्ष पर्यन्त हुआ।[4] इस पत्र-व्यवहार में दोनों पक्षों ने क्लिष्ट संस्कृत-भाषा के माध्यम से अपने विचारों का आदान-प्रदान किया। इसी प्रकार 'आरा-वृत्तान्त'[5] शीर्षक संस्कृत लेखबद्ध शास्त्रार्थ पं० तुलसीराम

---

१. कानपुर वृत्तान्त—सरस्वती यन्त्रालय, प्रयाग में मुद्रित १९४८ वि०।

२. मृतकानां श्राद्धं वैदिकम्।
वेदशास्त्रेषु तथाविधप्रमाणदर्शनात्।
यद्यद् वेदानुमोदितं तत्तद् वैदिकम्।
यथा सन्ध्योपासनादिकम्। (यन्नैवं तन्नैवं—यथा सुवर्णस्तेयादिकम्)
तस्माद् मृतकानां श्राद्धं वैदिकम्। अपूर्व शास्त्रार्थ। पृ० ७२।

३. भवदुपन्यस्तमनुमानमसिद्धं सत्प्रतिपक्षत्वात्। अपूर्व शास्त्रार्थ पृ० ७२

४. आर्यसिद्धान्त—मार्गशीर्ष १९४६ वि०।

५. " जनवरी १८९२ ई०।

स्वामी तथा पौराणिक-मतावलम्बी पण्डितों के बीच जुलाई १८९१ में हुआ। यह जानना अतीव मनोरञ्जक होगा कि शास्त्रार्थ में न केवल संस्कृत-गद्य अपितु अनुष्टुप् (श्लोक) छन्दोयुक्त भाषा को भी दोनों पक्षों ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। सिकन्दराबाद (उत्तरप्रदेश) में हुए एक अन्य शास्त्रार्थ[1] का विवरण उपलब्ध होता है जो गुरुकुल सिकन्दराबाद के अध्यापक पं० श्यामलाल शर्मा तथा पं० शिवदत्त के बीच संस्कृत माध्यम से हुआ। संस्कृत माध्यम से होने वाले ये शास्त्रार्थ निश्चय ही संस्कृत-गद्य को परिष्कृत एवं परिमार्जित करने में सहायक हुए हैं।

यहां तक हमने आर्यसमाज की संस्कृत-गद्यविषयक देन का विचार किया। आर्यसमाजी संस्कृत गद्य-लेखकों ने उपन्यास, निबन्ध तथा शास्त्रार्थ जैसी विधाओं में संस्कृत का जो गद्य प्रयुक्त किया है वह कितना प्राञ्जल और परिमार्जित है, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। यहां तक तो मौलिक गद्य-लेखन की बात हुई।

संस्कृत-गद्यानुवाद—इस क्षेत्र में भी आर्य विद्वानों द्वारा उल्लेखनीय कार्य हुआ है। स्वामी दयानन्द के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश का संस्कृत अनुवाद पं० शंकरदेव पाठक ने किया जो सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधिसभा द्वारा ऋषि दयानन्द की जन्म-शताब्दी के अवसर पर १९२५ ई० में प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद-कार्य में पाठकजी को आचार्य मेधाव्रत का भी सहयोग मिला था। पं० मेधाव्रत ने इस ग्रन्थ के ५, १० व ११वें समुल्लास का अनुवाद किया। शेष ग्रन्थ पाठकजी द्वारा अनूदित हुआ। अनुवाद की भाषा सरल है और मूल ग्रन्थ के भावों को सुरक्षित रखने की पूर्ण चेष्टा की गई है। सत्यार्थप्रकाश जैसे वृहत्काय दार्शनिक ग्रन्थ का अविकल संस्कृतानुवाद अपने आप में एक उपलब्धि है। सत्यार्थप्रकाश का एक अन्य अनुवाद कविरत्न पं० अखिलानन्द शर्मा ने भी किया था, ऐसा उल्लेख मिलता है।[2] श्री अरविन्द रचित **'देवतास्वरूप मीमांसा'** शीर्षक वैदिक ग्रन्थ का संस्कृतानुवाद श्री पं० जगन्नाथ वेदालंकार ने किया, जो गुरुकुल पत्रिका में धारावाही प्रकाशित हुआ है।

चम्पू काव्य विवेचन—

गद्य और पद्य के मिश्रित काव्य को चम्पू की संज्ञा प्रदान की गई है—**'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पू इत्यभिधीयते।'** आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा लिखे गए संस्कृत-साहित्य में दिलीपदत्त शर्मोपाध्याय लिखित 'श्रीप्रतापचम्पू-काव्य'

---

१. वेदप्रकाश—वैशाख १९९६ वि०।
२. अखिलानन्द शर्मा रचित दयानन्द दिग्विजय की भूमिका।

उल्लेखनीय है । इसका रचनाकाल १८९६ वि० है जैसा कि ग्रन्थान्त की पुष्पिका के श्लोकों से ज्ञात होता है—

माघे गुरौ शुदि दले तिथिपूर्णिमायां
संवत्सरे रसवसुग्रहचन्द्र (१९८६) संख्ये ।
श्रीमत्प्रतापनृपतेर्विजयस्वरूपा
चम्पूः समाप्तिमगमद् भगवत्प्रसादात् ।।

यह काव्य १९९० वि० में प्रकाशित हुआ ।

समस्त काव्य दस निःश्वासों में पूर्ण हुआ है । ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण के अनन्तर कवि ने अपने गुरुद्वय श्री काशिनाथ शास्त्री तथा स्वामी भास्करानन्द (पं० भीमसेन शर्मा) की वन्दना की है । कवि की धारणा है कि श्रेष्ठनायक युक्त कविता, कामिनी तथा माला सुशोभित होती हैं—

सन्नायकवती माला कामिनी कविता तथा ।
शोभते कुरुते चापि कमप्यानन्दनन्दनम् ।।१।६।।

प्रसन्न वर्णों (अक्षरों) से युक्त, गुणयुक्त, सुन्दरवृत्त (छन्द) युक्त, गम्भीर तथा सन्ताप को दूर करने वाली कवि की कृति सत्पुष्पमाला के तुल्य ही श्रेष्ठ पुरुषों के गले में सुशोभित होकर उनके गौरव की वृद्धि करती है—

प्रसन्नवर्णा सुगुणा सुवृत्ता
सन्तापहन्त्री सरसा गभीरा ।
सत्पुष्पमाला भणितिः कवेश्च
कण्ठे सतां गौरवमादधाति ।।१।७।।

शास्त्रीय परम्परा के निर्वाह की दृष्टि से प्रारम्भ में कवि ने दुर्जन-निन्दा करते हुए लिखा—

ये कौशिका इव सदा विविधप्रलापा
दोषोत्सवा विषमदृष्टिजुषोऽत्र केचित् ।
ते दुर्जनाः परकृतिप्रतिबोधयोधाः
किं नो विभो नवविभूतिभुजो भवन्ति ।।१।८।।

अपने काव्य के गुण और सौष्ठव के विषय में कवि ने स्वयं कुछ न कह कर अत्यन्त विनम्रतापूर्वक निवेदन किया है कि पाठक ही इसके गुणावगुणों की परीक्षा करें—

काव्यं मदीयं सरसं न वेति
न साम्प्रतं वक्तुमिदं मयैव ।
सर्वैः परीक्ष्ये विषयेऽत्र किं नो
विनिर्णयो मे विदुषां हसाय ॥१।१६॥

लोग दुराग्रह वश अपने असुन्दर काव्य को भी सुन्दर कहते हैं । अतः उसका वास्तविक स्वरूप महानुभावों द्वारा विचारा जाना चाहिए—

असुन्दरं चाऽपि निजं सुसुन्दरं
पदं समाख्याति जनो हठेन ।
अतः परीक्ष्यैव महानुभावैर्
विभावनीयं खलु तत्स्वरूपम् ॥१।२०॥

चम्पू की रचना करने से गद्य और पद्य दोनों में रुचि रखने वाले सहृदय पाठकों का मनःप्रसादन हो जाता है, इसी दृष्टि को अपने समक्ष रखते हुए कवि लिखता है—

गद्ये रुचिं कश्चन नाम धत्ते
पद्येऽनवद्ये वाऽथ परः सुहृद्ये ।
तयोर्द्वयोस्तोषकृते कृतोऽयं
चम्पूकृतौ तन्मयका प्रयत्नाः ॥१।२२॥

प्रथम निःश्वास में कवि ने चरितनायक के पूर्वज महाराणा संग्रामसिंह (सांगा)[1] का चरित निबद्ध किया है । शेष निःश्वासों में चित्तौड़ पर अल्लाऊद्दीनखिलजी का आक्रमण तथा पद्मिनी का जौहर-व्रत, प्रताप की स्वातन्त्र्य-रक्षा-विषयक प्रतिज्ञा, आमेर के राजा मानसिंह का उदयपुर आगमन, आतिथ्य-स्वीकार तथा पुनः महाराणा द्वारा अपमानित होकर लौटना, युद्ध की तैयारियां, युद्ध-वर्णन, हल्दीघाटी के रणाङ्गण में प्रताप और उनके अनुज शक्तिसिंह का मिलन, पुनः हल्दीघाटी के युद्ध का वर्णन, भामाशाह द्वारा राणा को महान् द्रव्यराशि का दान, महाराणा का विजय-वर्णन तथा अन्त में चरित-नायक के जीवन के संध्याकाल का वर्णन हुआ है ।

काव्य शैली की दृष्टि से इस चम्पू का अध्ययन करना आवश्यक है । संस्कृत में प्रचलित उक्ति के अनुसार गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया है ।[1] पद्य-रचना की अपेक्षा गद्य-काव्य की रचना को अधिक कठिन माना गया है । यही कारण है कि संस्कृत गद्यकार सुबन्धु, बाण और दण्डी अपनी विशिष्ट

---

१. गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति ।

शैली के कारण आदृत हुए हैं। प्रताप-चम्पू के रचयिता ने भी यत्र-तत्र बाण आदि ख्याति-प्राप्त गद्य-शैली निर्माताओं का अनुकरण किया है। इस दृष्टि से निम्न उद्धरणों का तुलनात्मक अध्ययन समीचीन होगा। कवि ने भारतवर्ष का वर्णन करते हुए लिखा है—

"यत्र सदागमा इव सुकृतप्रसूतयः अवरोधभूमय इव महर्षीविभूतयः, संगीतशाला इव सगन्धर्वमालाः, यज्ञभूमय इव समहावीराः, वनराजय इव सनागाः, सांख्या इव प्रधानपुरुषोपेताः, वैनाशिका इव अदैवमातृकाः, आरामा इव सुमनोभूयिष्ठाः, शैवा इव धृतविभूतयः, वैष्णवा इव प्रतिपन्नहरिभूमयः, महानसा इव विविधसुरभिपाकसंवलिताः, अमृतदीधितय इव लोचनलोभनीयाः शान्त-विग्रहाश्च।"

अन्यत्र भी कादम्बरीकार की शैली का अनुकरण किया किया है। यथा—

"यश्च दुर्गासक्तोऽपि कुमारजनकोऽपि वामलोचनोऽपि विजयाचितोऽपि न खण्डपशुः, भानुवंशोत्पन्नोऽपि सुमित्रानन्दनोऽपि मेघनादशत्रुनाशनोऽपि न लक्ष्मणः", आदि।

महाभारत के पात्रों के आधार पर भी इसी प्रकार के चमत्कार की योजना की गई है। यथा—

"तत्र विचित्रवीर्य इव विचित्रवीर्यः, विजय इव विजयः, दुर्योधन इव दुर्योधनः, शतधृतिरिव शतधृतिः, शतमन्युरिव शतमन्युः, उत्तमौजा इव उत्तमौजाः, दुःशासन इव दुःशासनः, चित्ररथ इव चित्ररथः, दिल्लीश्वरस्य सेनायाः सेनानीरिव सेनानीः श्रीमान् मानसिंहः।" (चतुर्थ निःश्वास पृ० ४१)

प्रतापचम्पू में अलंकार-योजना—अलंकार काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि के हेतु माने गए हैं। अलोच्य चम्पू में भी अलंकारों का सुन्दर प्रयोग किया गया है। यथा—अनुप्रास का उदाहरण—

उद्दण्डदण्ड्योद्यतबाहुदण्डं
वैतण्डिकारातिकुलप्रचण्डम्।
तं दैत्यवैतण्डविमर्दसिंहं
संग्रामसिंहं कवयो वदन्ति ॥१।४३॥

यमक का उदाहरण—

मानस्य मानसंमर्दः कर्त्तव्यो मानरक्षिभिः ॥५।४७॥

परिसंख्या का उदाहरण—"तदानीं च तत्र वर्णसांकर्यं चित्रेषु, कुटिलताऽलकेषु, द्विजिह्वता भुजङ्गमेषु, निबिडबन्धः काव्येषु, विग्रहः समस्त-

वाक्येषु, गुणवृद्धिनिषेधप्रसङ्गो व्याकृतिग्रन्थेषु, जडता जलेषु, स्नेहहीनता सिकतादिषु, प्रकम्पो वाद्येषु, उत्पाताः पतत्रिषु, अधःपात उदञ्चनेषु, शृङ्खलायोगः कवाटेषु, विषमता पर्वतेषु।" आदि।

आलोच्य चम्पू में युद्ध-वर्णन, वर्षा-वर्णन, प्रकृति-सौन्दर्य-वर्णन, पाककला-कौशल-वर्णन आदि के द्वारा लेखक ने अपने वर्णन-कौशल का परिचय दिया हैं। अनूठी शब्द-योजना, संश्लिष्ट-चित्रण तथा अलंकार-योजना के कारण ये वर्णन काव्य की शोभावृद्धि के निश्चित हेतु बन गए हैं। वर्षा-काल की एक झलक देखिए—

"चञ्चलाऽऽचितविग्रहाः कृतमहाबिलनिग्रहाः सघना घनाः विप्रयोगिजनविभीषिकाप्रदानायेव सगर्वं गर्जन्ति तर्जयन्ति च विषमाशयान् विलेशयान्ननु चञ्चलेवेयं चञ्चला स्वल्पप्रीतिरिव क्षणं प्रादुर्भूय तिरोधत्ते दृष्टिप्रदे वारिदा वारिभरभरिताः सन्तः समेधितविभूतयः सन्त इव नम्रीभवन्ति, चारुशिलोच्चयशिलोच्चयोश्च खलदुरुक्तानि, सज्जना इव धारापातान् सहमाना अपि नहि विकारमापद्यन्ते, वर्षाकुनदिकाः प्राप्तकिञ्चिद्धना आजन्मनिर्धना जना इव निर्मर्य्यादं प्रवहन्ति, मुक्ताफलाभमपि वृष्टिजलं पल्वलसम्पर्कवशान्मायाशबलितप्राणीव मालिन्यं बिभर्ति।" (द्वितीय निःश्वास पृ० १३)

युद्धों के वर्णन में समास-प्रधान शब्दावली का प्रयोग नितान्त औचित्यपूर्ण है। यथा—

नृत्यत्कबन्धावलिरुण्डसंकुलं
क्रव्यादरङ्कालिनिपीतजाङ्गलम्।
अमङ्गलं तत्सुभटैस्तु मङ्गलं
व्यज्ञायि जन्यं त्रिदिवायशम्बलम् ॥६।६३॥

युद्ध-वर्णन के प्रसंग में ही कवि को वीभत्स रस की अवतारणा का भी अवकाश मिल गया है—

"अथ विजयाभिलाषिणोः शूरोचितभाषिणोः सभ्यराजम्लेच्छराजयोस्तयोः लोमहर्षणं रुण्डमुण्डसंघातसंघर्षणं रक्तधारासमुन्नधरातलं परितः पतितसरुधिरकीकससंचर्वणप्रवणशृङ्गालादिपलाशप्राणिसंकुलं तुमुलं जन्यमजनि" आदि। (द्वि० नि० पृ० २५)

नारी-सौन्दर्य वर्णन की दृष्टि से द्वितीय निःश्वास में पद्मिनी का वर्णन उल्लेखनीय है। इसमें नारी-सौन्दर्य का परम्पराभुक्त रीति से चित्रण किया गया है। चतुर्थ निःश्वास में जहां मानसिंह के लिए प्रस्तुत भोजन-सामग्री का

वर्णन किया गया है वहां कवि ने वस्तु-परिगणन की परिपाटी अपनाई है। इसमें भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य, चूर्ण और पेय षट्रस व्यञ्जनों के अन्तर्गत पायस, लपसी, शाक, इन्द्ररसा, रस-गुलिका, मोदक, दुग्ध-पूणिका, पर्पट आदि विविध खाद्य पदार्थों का नामोल्लेख हमारी ज्ञानवृद्धि भले ही करे, उससे वर्णन में सरसता नहीं आती।

द्रुतविलम्बित, शिखरिणी आदि प्रचलित छन्दों के अतिरिक्त कवि ने हिन्दी के आल्हा छन्द (वीर) का प्रयोग युद्ध में सैनिकों के अभियान और उनके उत्साहवर्धन में कहे गए वाक्यों के प्रसंग में किया है। इस छन्द में गेयता का सर्वोपरि गुण होता है—

> यांया यायाः संगरभूमौ निश्चिन्तं मे प्राणाधार।
> क्षत्रियधर्मनिधान शूरवर हे भूमीपतिहीरकुमार॥
> दुष्टसपत्नवृन्दसंहारं कारं कारं दुर्जनमार।
> पुण्यभूमिभारं हर नाथ शक्तिसनाथ धैर्यगुणधार ॥५।६८॥

पं० दिलीपदत्त शर्मा के उपर्युक्त प्रतापचम्पू के अतिरिक्त इस शैली में बैरिस्टर रामदास छबीलदास ने 'पद्मिनी-चम्पू' लिखा। इस ग्रन्थ का उल्लेख आर्यसमाज, केसरगंज, अजमेर के पुस्तकालय की प्रकाशित की सूची में हुआ है।

कविरत्न पं० अखिलानन्द विरचित चार चम्पू-काव्यों का नामोल्लेख मिलता है—

(१) **वार्षिकोत्सव-चम्पू**—गुरुकुल कांगड़ी के नवम वार्षिकोत्सव पर आयोजित सरस्वती-सम्मेलन की कार्यवाही का विवरण चम्पू शैली में लिखा गया है।

(२) **वैधव्यविध्वंसन-चम्पू**।

(३) **द्विजराजविजय-चम्पू**।

(४) **विज्ञानोदय-चम्पू**।

इसी प्रसंग में गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक पं० जनमेजय विद्यालंकार रचित **अभिनव-काव्य** तथा वल्लभदास भगवानजी गणात्रा रचित **'महर्षि-दयानन्द-चरित'** का विवेचन करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। इन काव्यों को भी 'चम्पू' संज्ञा प्रदान की जा सकती है, क्योंकि इनमें भी गद्य और पद्य दोनों शैलियों का प्रयोग हुआ है। इन दोनों कृतियों का विस्तृत समीक्षण यहां किया जाता है।

अभिनव-काव्य—डी० ए० वी० कालेज, कानपुर के संस्कृत विभाग के प्राध्यापक पं० जनमेजय विद्यालंकार रचित 'अभिनव-काव्य' १९५९ वि० में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ पर लेखक को उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा ५०० रु० का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है। आलोच्य काव्य में लेखक की कतिपय पद्य और गद्य की रचनायें संगृहीत हैं। पद्य रचनाओं में **'ईश्वर-स्तुतिः', 'गीर्वाणगिरो गरीयस्त्वम्', श्रद्धानन्द-सप्तकम्, श्रद्धानन्द-स्वामी विजयतेतमाम्, गान्धी-सप्तकम्, नगर-ग्रामौ, भगवान्-बुद्धदेवो विजयते, दयानन्द-षट्कम्** शीर्षक रचनायें उल्लेखनीय हैं।

ईश्वर-स्तुति के ६ पद्य शार्दूल विक्रीडित छन्द में लिखे गए हैं। प्रथम पद्य—

> वेदा यं पुरुषं निरन्तरमजं ध्यायन्ति गायन्ति च
> प्राणायामपरायणैश्च सततं यो गीयते योगिभिः।
> सोऽयं ब्रह्म शिवेश्वरप्रणवसत्कर्त्रादिशब्दैः स्मृतो
> नित्यं वः प्रददातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

निम्न स्तुति पद्य का स्मरण दिलाता है जिसमें एक ही ईश्वर को विभिन्न सम्प्रदायानुयायी शिव, ब्रह्म, बुद्ध, कर्ता, अर्हन् आदि विभिन्न नामों से पुकारते हैं—

> यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
> बौद्धाः बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
> अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
> सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

ईश्वर-स्तुति का तृतीय-पद्य—

> लब्ध्वा यस्य कृपाकटाक्षमणुमप्यन्धोऽखिलं पश्यति,
> मूको वक्ति सुखं शृणोति बधिरः पंगुर्गिरिं लङ्घते।
> रोगी स्वास्थ्यमुपैति किञ्च लभते वित्तं दरिद्रो जनः।
> नौमीशं तमहं नतेन शिरसा सर्वात्मना सादरम्॥

निम्न स्तुति की व्याख्या प्रतीत होता—

> मूकं करोति वाचालं पंगुं लङ्घयते गिरिम्।
> यत्कृपया तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

'गीर्वाणगिरोगरीयस्त्वम्' संस्कृत-भाषा की प्रशस्ति में लिखी गई गीतिका है जिसे कवि ने हिन्दी की एक प्रार्थना गीतिका **'हे दयामय हम सबों को शुद्धताई दीजिए'** की शैली में लिखा है। 'नगर-ग्रामौ' १३३ अनुष्टुप् छन्दों में लिखा गया एक छोटा-सा खण्ड काव्य है जिसमें नगर और ग्राम अपनी-अपनी श्रेष्ठता और वरीयस्ता का प्रतिपादन भगवान् ब्रह्मा के समक्ष करते हैं। दोनों द्वारा अपने-अपने समर्थन में प्रस्तुत की गई युक्तियां अतीव मनोरञ्जक हैं। बुद्ध की स्तुति में लिखी गई कविता 'भगवान् बुद्धदेवो विजयते' १० द्रुतविलम्बित छन्दों में लिखी गई है। कवि ने इस कृति की रचना भगवान् बुद्ध की २५००वीं[1] जन्मतिथि के उपलक्ष्य में की थी। स्वामी दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्द तथा महात्मा गांधी की प्रशस्ति में लिखे गए शिखरिणी छन्द काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इन कविताओं की भाषा सर्वत्र प्रसादगुण-युक्त है जो निम्न उदाहरण में स्पष्ट है—

प्रणम्यो लोकानां निधिरयमशेषस्य महसः
समुद्धर्तुं लोकान् धृतपरिकरोऽयं मुनिवरः।
अयं विद्वानेकः प्रभवति जगच्छिक्षणविधौ
दयानन्दो ऽयं यो भुवि सकलपाखण्डदलनः ।।

दयानन्दाष्टकम् ४।

स्वामी श्रद्धानन्द के तेजस्वी व्यक्तित्व को कवि ने निम्न पद्य में शब्द-बद्ध किया है—

वज्रादपि कठोरः सन् कुसुमादपि यो मृदुः ।[2]
क्षात्रेण तेजसा दीप्तः प्रदीप्तो ब्रह्मतेजसा ।।

त्यागिनां धुरि यस्तिष्ठन् तपस्विप्रवरोऽभवत् ।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ।।[3]

अभिनव-काव्य के गद्य भाग में **'अस्त्युत्तरस्यां दिशि' 'सरदार वल्लभ भाई पटेल'** तथा **'चरित्रनिर्माणम्'** शीर्षक तीन गद्य निबन्ध संकलित हैं। परिमार्जित और प्राञ्जल संस्कृत गद्य लिखने में लेखक को

---

१. बुद्धनिर्वाण का यह काल पाश्चात्य ऐतिहासिकों द्वारा निर्धारित है। भारतीय कालगणनानुसार बुद्ध का निर्वाण विक्रम से लगभग १५०० वर्ष पूर्व है। लगभग यही काल महावीर स्वामी का भी है।

२. तुलनीय—'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि—उत्तररामचरित।

३. तुलनीय—समुद्रइव गम्भीरो धैर्येण हिमवान् इव।' वाल्मीकीय रामायण—बालकाण्ड १।१७।

असाधारण सफलता मिली है। कहीं-कहीं समास बहुला गद्य शैली बाण की गद्य-शैली का स्मरण दिलाती है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

अन्योन्य प्रतिघातसंकुलचलत्कल्लोलकोलाहलैरुत्तालान् गम्भीरपयसः पुण्यान् सरित्सङ्गमान् साक्षाच्चिकीर्षन्तं हिमवन्तमीक्षस्व ।"[1]

लेखक पर बाण की कादम्बरी वाली गद्य-शैली का निश्चितरूपेण प्रभाव पड़ा है, यह निम्न उद्धहरण से जाना जा सकता है —

अपहरति मनांसि, प्रीणातितमां हृदयानि, उत्पादयति साहसम्, तर्पयति चक्षूंषि । जन्मभूमिः काव्यानाम्, उत्पत्तिस्थानं शास्त्राणाम् जनयत्यास्तिक्यबुद्धिम्, अपाकरोति नास्तिक्यम्, प्रसादयत्यात्मानम्, स्थिरीकरोति चेतः । विलासभूमिः प्रतिभायाः अपहर्ता यक्ष्मादिरोगसमूहानाम्, संकेतस्थलं सर्वौषधीनाम्, मानदण्डः प्रथिव्याः[2], पितामहः आर्यावर्तस्य । कण्टकबहुलोऽपि पुष्पबहुलः प्रांशुतमोऽपि प्रप्रातमयः, उत्पादयत्यात्मविश्वासम्, आविष्करोति पौरुषम्, शिक्षयति धैर्यम्, किं बहुना यद्-यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा तत्सर्वमेव तत्र लब्धुं शक्यते ।"[3]

वल्लभदास भगवानजी गणात्रा लिखित 'महर्षिदयानन्द-चरित' काव्य में गद्य और पद्य की मिश्रित शैली में कवि ने चरितनायक स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व और कृतित्व का आकलन किया है। ग्रन्थारम्भ में 'महर्षि दयानन्दाय श्रद्धाञ्जलिः' शीर्षक २० शार्दूल विक्रीडित छन्द लिखे गये हैं। स्वामीजी के यशःशेष होने पर उनकी गुणावली को काव्यबद्ध करते हुए कवि लिखता है—

सौजन्यं पटुता दया विमलता गम्भीरता वीरता
वाणी प्रेममयी विनोदभरिता निर्भीकता धीरता ।
एते हा सकला गुणास्तव निराधाराः प्रजाता इति
शोचामो नितरां गते त्वयि दयानन्दे यशश्शेषताम् ।।
म० द० च० १ ।

स्वामीजी के वियोग में कवि को सम्पूर्ण प्रकृति शोकदग्ध सी प्रतीत होती है—

---

१. अभिनव-काव्यम्, पृष्ठ ७।
२. तुलनीय—कुमारसम्भव का प्रथम श्लोक।
३. तुलनीय—गीता का १०।४० श्लोक ।
४. अभिनव काव्यम्, पृष्ठ ३६ ।

मन्ये श्यामलतां गतं वियदपि त्वच्छोकदग्धं यतो
वर्षायां जलदस्य गर्जनमिषादाक्रन्दने व्यापृतम् ।
वृक्षाः पुष्पमिषेण नेत्रसलिलं मुञ्चन्ति धाराहताः
प्रातःकूजनकैतवेन रुदनं कुर्वन्ति सर्वे खगाः ॥
म० द० च० ७॥

ऐसा प्रतीत होता है कि आपके वियोग-जन्य शोक से दग्ध आकाश श्यामरंग का हो गया है तथा वर्षा ऋतु में बादलों की गर्जना के रूप में रुदन कर रहा है। वर्षा की धारा से हत होकर वृक्ष पुष्प रूपी आंसू गिरा रहे हैं तथा प्रातःकाल में पक्षी भी अपने कूजन के व्याज से मानो रो रहे हैं।

स्वामी दयानन्द का गद्य-बद्ध जीवन चरित भी लेखक की उत्कृष्ट रचना चातुरी का द्योतक है। भाषा सरल और समास रहित है, परन्तु यत्र-तत्र शैली समास-बहुला भी हो गई है। वर्णन-शैली पर बाण की कादम्बरी वाली शैली की छाप सर्वत्र दिखाई देती है। उदाहरणार्थ स्वामी दयानन्द की जन्मभूमि सौराष्ट्र देश का वर्णन करते हुए कवि लिखता है—

अस्ति भारतवर्षहर्षप्रकर्षैककार्यक्षमपरममहापुरुषजननी, जननीव वीरताया, भूषणमिव भारतस्य, कवितेव रसमयी, सुन्दरीव मनोहारिणी, दूरीकृतासुरमदाभरवरश्रीकृष्णपादारविन्दयुगलगलदमन्दमकरन्दविन्दुसन्दोहमिलिन्दायमानभक्तजनजननप्रथितयशोराशिः सौराष्ट्रभूमिर्भारतवर्षपश्चिमदिशायाम् ।[1]

स्वामी दयानन्द के उत्तराखण्ड भ्रमण के वर्णन प्रसंग में कवि को प्रकृति के रमणीक और भयानक दोनों पक्षों का संश्लिष्ट वर्णन करने का अवसर मिल गया है। अनुप्रास बहुल शैली में लिखा गया निम्न उद्धरण इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है—

किन्तु मनःसंतोषाभावेन वितस्तायमुनामन्दाकिनीप्रभवे भवेशानीपादारविन्दवन्दनानन्दितमुनिवृन्दसेवितविवरे वरेण्यगुणिगणगायमानगौरवे नवेन्दुभूषणशंकराट्टहासधवले, कस्तूरीमृगसुरभितशिलातले चमरीवालवीज्यमाने विविधविहङ्गगणकलकलनादितवृक्षे सुन्दरतरकुसुममकरन्दविन्दुमिलन्मिलिन्दमञ्जुगुञ्जनगुञ्जितनिकुञ्जपुञ्जे गगनतलचुम्बदुत्तुङ्गशृङ्गमण्डले वन्यपशुभुजगाजगरनिवासभयंकरे शंकरेक्षणक्षणायातदेवगणे. संतततुषारपातमिषेण गगनवासिभिरभिषिक्त इवापूर्वमहिमालये हिमालये क्वचित् परिभ्रमणश्रमक्षुधाबाधितः क्वचित्तीव्रकंटकविद्धचरणः क्वचिदतिशीततमपवनजनितकम्पः क्वचित्तुषारपतनविघ्नपीडितः

1. महर्षिदयानन्दचरितम्, पृ० १८।

क्वचिन्नष्टजीविताशः परमसामर्थ्ययुक्तयोगिवर्यगवेषणकृतैषणः प्रतिकन्दरं प्रतिशिखरं प्रतिकुटीरं च धीरताधनः स्वामी दयानन्दोऽगच्छत् ।"[1]

कवि प्रचलित पद्धति के अनुसार गणात्राजी ने भी प्रकृति पर मानवीय भावनाओं का आरोप करते हुए स्वामी दयानन्द के देहावसान के समय चन्द्रमा, रात्रि तथा गगनस्थ तारागणों का वर्णन करते हुए यही कल्पना की है मानो स्वामी दयानन्द के अवसान-जन्य दुःख के कारण चन्द्रमा भी रात्रि को सुशोभित नहीं कर रहा है, रात्रि अपने पति चन्द्रमा को न पा कर उसे खोजती हुई फिर रही है, आकशस्थ तारे भी शोक-जन्य अग्नि से उत्पन्न अंगारों के तुल्य प्रतीत हो रहे हैं अथवा वे स्वर्गस्थ प्राणियों के नेत्रों से निस्सृत अश्रु विन्दुओं के तुल्य प्रतीत हो रहे हैं—

निशापतिरपि दयानन्ददुःखसमाचारश्रवणसंजाततापनष्टतेजा इव निशामपि न भूषयति स्म । निशापि तिमिराम्बरधारिणी पतिदर्शनाभावेन भ्रान्तेव नष्टाशेव कामार्तेव पतिं मार्गयन्तीव भ्रमति स्म । गगनतलमपि तारकमिषेण शोकाङ्गारज्वलितमिव विभाति स्म । तारकाण्यपि गगनाङ्गणे स्वर्गवासिमुक्ताश्रुविन्दुवृन्दानीवाशोभन्त ।[2]

वाण के तुल्य ही गणात्राजी ने भी अपने गद्य को उत्प्रेक्षा-बहुल बनाया गया है। यथा—

तदनु स मृदुकरैर्जोधपुराधीशवदनादश्रूणि मार्जयन्निव, सकललोकं तिमिरमिषात् शोके पातयन्निव कमलिनीवृन्दमाश्वासयन्निव पश्चिमदिशायां स्वहृदयदुःखानलेन गगनमपि रक्ततां नयन्निव, पवनेन सान्त्वनं नीयमान इव भक्तैर्वन्द्यमानोऽनिच्छन्नपि दयानन्दमुखदर्शनं परिहातुं विधिनियोगमनुवर्तमानोऽस्ताचलचूडाचुम्बनमकार्षीत् ।"[3]

पद्य भाग की गुजराती टीकायुक्त यह काव्य १९८८ वि० में प्रकाशित हुआ।

रूपक (नाटक) विवेचन--

साहित्य के श्रव्य-काव्य और दृश्य-काव्य दो भेद किये गये हैं। दृश्य-काव्य के अतर्गत रूपक का विवेचन किया जाता है। आचार्यों ने रूपक के दस भेद माने हैं जितमें नाटक सर्व प्रमुख है। आर्यसमाज के विद्वानों ने जहां

१. महर्षिदयानन्दचरितम् पृ० २६।
२. " " ३९।
३. " " ३८।

श्रव्य-काव्य के महाकाव्य, खण्डकाव्य, चम्पूकाव्य, गद्य-काव्य आदि विविध अङ्गों को समृद्ध करने में अपना सराहनीय योगदान दिया है वहां दृश्यकाव्य का क्षेत्र भी उनके द्वारा उपेक्षित नहीं रहा। यहां हम उन नाटकों की समीक्षा करेंगे जो आर्यसमाजी संस्कृत नाटककारों द्वारा लिखे गये हैं। आलोच्य रूपक कृतियों में पं० मेधाव्रत रचित 'प्रकृति-सौन्दर्य' तथा पं० सत्यव्रत रचित 'महर्षि चरितामृत' उल्लेखनीय हैं।

प्रकृति-सौन्दर्य[1]—आर्यसमाज के संस्कृत भाषा के विद्वानों में पं मेधाव्रत वस्तुतः असाधारण मेधा और सर्जनात्मक प्रतिभा लेकर उत्पन्न हुए थे। उन्होंने दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार के काव्य साहित्य की रचना कर गीर्वाण-वाणी के वाङ्मय को समृद्ध किया। जिस समय वे गुरुकुल वृन्दावन की अष्टम श्रेणी में ही अध्ययन कर रहे थे उन्होंने 'प्रकृति-सौन्दर्य' शीर्षक संस्कृत नाटक की रचना की। इसमें कवि ने अपनी किशोर सुलभ सरलता से प्रेरित होकर प्रकृति के विविध रूपों गिरि-कन्दराओं, नदी-निर्झरों सागर-सरोवरों, वन-उपवनों, आश्रमों, पशु-पक्षियों, विविध ऋतुओं तथा नव-नव रूपधारिणी मेघ-मालाओं एवं नक्षत्र मण्डलों का गोचर प्रत्यक्षीकरण कराने वाले सुन्दर स्वाभाविक और हृदयग्राही चित्र अंकित किए हैं। 'प्रकृति-सौन्दर्य' वस्तुतः विविध रूपा प्रकृति के मनोरम तथा जनमन रञ्जनकारी दृश्यों की अनुपम झांकी है। प्रारम्भ में इसे कवि ने श्रव्य-काव्य के रूप में ही लिखा था, परन्तु पीछे से रचना को चारुतर बनाने के विचार से पात्रों की कल्पना कर इसे नाटक का रूप दे दिया गया। कल-कल-प्रवाहित होते वाली स्रोतस्विनी के समान धारावाहिक भाषा-प्रवाह, शब्द-लालित्य, वर्णन-चातुर्य, अलंकार-निवेशन तथा प्रसाद गुण प्राचुर्य को देख कर आलोच्य नाटक के पाठक का हृदय हर्षातिरेक से तरङ्गित हो जाता हैं।

'प्रकृति-सौन्दर्य' ६ अंकों में समाप्त हुआ है। इस की 'भाव-संदीपिनी' नामक भाषा टीका आर्य कन्या महाविद्यालय, बड़ौदा के उपाध्याय पं० श्रुतबन्धु शास्त्री ने लिखी है। नाटक में कथानक तो नाम मात्र का ही है। पात्रों के संवाद के व्याज से नाटककार ने प्रकृति के विविध प्रकार के सौन्दर्य का ही चित्ताकर्षक वर्णन किया है। प्रथम अंक में नान्दीपाठ के अनन्तर सूत्रधार का प्रवेश होता है। वह वसन्तोत्सव के उपलक्ष्य में एक रमणीय रूपक

---

१. विद्यापरिषद् गुरुकुल वृन्दावन से १९७३ वि० में प्रकाशित।

के अभिनय का प्रस्ताव करता है।[1] पुनः वह स्वयं ही गुरुकुल के दाक्षिणात्य ब्रह्मचारी मेधाव्रत रचित 'प्रकृति-सौन्दर्य' को अभिनीत किया जाना प्रस्तावित करता है।[2]

'प्रकृति-सौन्दर्य' में न तो कथानक की जटिलता ही है और न किसी प्रमुख पात्र को ही नायक का रूप प्रदान किया गया है। यह कहना ही अधिक उपयुक्त होगा कि प्रकृति ही इस नाटक की नायिका है जिसके पल-पल परिवर्तित होने वाले विचित्र रूप और वेश पर मुग्ध होकर नाटक के विविध पात्र अपनी शतरूपा वाणी से उसका विविध शब्दावलियों में वर्णन करते हैं। प्रथमाङ्क में राजा चन्द्रमौलि अपने मित्र चन्द्रवर्ण के साथ विमानारूढ़ होकर आते हैं। हिमगिरि-मालाओं से वेष्टित पर्वतीय भूमि पर उतर कर वे उसके सौन्दर्य का विविध प्रकार से वर्णन करते हैं। पुनः वन, पर्वत, सरोवर आदि की सुन्दरता को देखते हुए तपोवन की ओर अग्रसर होते हैं। वहां उनकी भेंट आश्रम के अध्यक्ष भगवान् मुनीन्द्र से होती है। वार्तालाप के प्रसंग में राजा मुनि को संकेत देते हैं कि वे अपने पुत्र को राज्याधिकारी बना कर स्वयं वानप्रस्थ ग्रहण करना चाहते हैं। प्रत्येक अङ्क में कवि एक-एक ऋतु के वर्णन को अपना लक्ष्य बनाता है। इस योजना के अनुसार प्रथम अंक में हेमन्त ऋतु का वर्णन हुआ है।[3]

द्वितीय अंक में तपोवन के ब्रह्मचारी विनयकुमार, जगदिन्दु तथा अन्यों के वार्तालाप के माध्यम से वसन्त लक्ष्मी के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है।[4]

---

१. आज्ञापितोऽस्मि तत्र भवद्भिर्विद्यापरिषदलङ्करणैर्गुरुकुलैकशरणैर्गुरुचरणैः सब्रह्मचारिभिश्च यद्—अद्य वसन्तोत्सवावसरे किमपि रमणीयं रूपकमभिनीयतामिति। अंक १ पृ० २।

२. अस्ति वृन्दावनगुरुकुलब्रह्मचारी दाक्षिणात्यो मेधाव्रतो नाम कविर्द्वितीयमिव हृदयमस्माकम् प्रकृतिरसिकस्य यस्य कृतिरभिनवं 'प्रकृतिसौन्दर्यम्' नाम रूपकम्। अंक १ पृ० २।

३. नानाविपक्वनवधान्यविचित्रितां तां
कुर्वन् धरां तुहिनयन् सरितां जलानि।
नीहारपुञ्जमलिनाम्बरवेषधारी
हेमन्त एष पुरतः प्रतिहारकः किम्॥ अंक १।३५॥

४. नवकिसलयधारी शाखिसंदोह एष
विकसित कुसुमाली राजते वल्लरीणाम्।
अनुपमनवलक्ष्मीं नूनमेषा बिभर्ति
वनततिरिति हन्त स्वागतोऽयं वसन्तः॥२।११॥

तृतीयाङ्क में राजकुमार चन्द्रकेतु तथा उसके मित्र मन्त्रिपुत्र वसुचन्द्र का आगमन होता है। अब तक ऋतु परिवर्तन के क्रम में ग्रीष्म का आगमन हो चुका है,[1] अतः दोनों मित्र गङ्गातट की प्राकृतिक शोभा का अवलोकन करते हुए ग्रीष्म ऋतु के त्रास-दायक रूप का अनुभव करते हैं। दोनों मित्र भ्रमण करते-करते उस आश्रम में आ जाते हैं जहां उन्होंने व्रती वन कर शास्त्राध्ययन किया था। अपने सहाध्यायी मित्रों से मिल कर वे प्रसन्नता का अनुभव करते हैं तथा कुलपति से मिलते हैं।

चतुर्थ अंक में वर्षावर्णन की प्रधानता है।[2] इसमें राजकुमार चन्द्रकेतु तपोवन के कुलपति को अपने राज्याभिषेक समारोह में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित करता है। पञ्चम अंक में आश्रम के ब्रह्मचारियों के सवादों में शरद् ऋतु की शोभा का वर्णन हुआ है।[3] राजा के मित्र चन्द्रवर्ण कुलपति को राजधानी में पधारने का औपचारिक निमन्त्रण देते हैं। अन्तिम अंक में राजा चन्द्रमौलि अपने पुत्र राजकुमार चन्द्रकेतु को विधिवत् युवराज पद प्रदान करते हैं। कुलपति मुनीन्द्र अवर्गिर्ण की शुभाशंसा के साथ नाटक समाप्त होता है।

आलोच्य नाटक में लेखक का प्रयोजन प्रकृति के नाना रूपों का चित्रण करना ही रहा है। इस ध्येय की पूर्ति में उसे पूर्ण सफलता मिली है। प्रातः और सायं निस्सर्ग सुन्दरी प्रकृति विविध आभरणों को धारण कर किस प्रकार अपने अलौकिक सौन्दर्य से जनमन को आकृष्ट करती है इसका विशद वर्णन तो कवि ने किया ही है, विविध ऋतुओं में पशु-पक्षिओं और मानव शरीर-धारियों की विभिन्न चेष्टाओं का संश्लिष्ट-चित्रण करने में भी उसे पूर्ण सफलता मिली है। प्राणि-जगत् और प्रकृति से सम्बद्ध कार्य-व्यापारों का यह संश्लिष्ट-चित्रण कवि की प्रकृति-निरीक्षण की सूक्ष्म-अन्तर्दृष्टि का द्योतक है। शीताधिक्य के

---

१. अस्याः सुरसरितः परिसरे विकस्वरनवमल्लिकाकुसुमसौरभसुरभितसकलदिगन्तरालो भीष्मो ग्रीष्मर्तुरवतीर्णवान्। अंक ३ पृ० ५४ ॥

२. वर्षाकालः कलितककुभोल्लासलीलः सलीलं
सम्प्राप्तोऽयं प्रकटितघनाडम्बरोन्वम्बरान्तः।
हंसश्रेणी हिमगिरिमभिव्योम्न आवद्धमाला
मालेवेयं पवनचलिता शोभते सम्पतन्ती ॥ ४।१॥

३. जीमूतानां मधुरसुभगं गर्जितं तत्प्रशान्तं
विद्युन्माला ललितलसितं प्राप्तमस्तं समस्तम्।
नीपालीनां कुसुमसुरभिः शीकरासारवाही
शान्तो वातः शरदि यमतोऽयक्कलिङ्गा समन्तात् ॥ ५।६ ॥

कारण मृग-शावक माता का दूध पीना चाहता हुआ भी दृढ़ता से जुड़े हुए दांतों वाले मुख को खोल नहीं सकता—

सारङ्गडिम्भो हिमपीडिताङ्गः
स्तन्यं जनन्या इह पातुकामः ।
दृढं मिथस्सम्पुटिताच्छदन्तं
व्यादातुमास्यं प्रभुरेव नासौ ॥१।४५॥

वसन्त का एक प्रसन्न गम्भीर चित्र देखिए। प्रसादगुणोपेता संस्कृत-भाषा का शब्द-सौन्दर्य यहां स्पष्टतः प्रकट होता है—

नभः प्रसन्नं सलिलं प्रसन्नं
निशाः प्रसन्ना द्विजचन्द्ररम्याः ।
इयं वसन्ते वितता वसन्ती
प्रसादलक्ष्मीः प्रतिवस्तु भाति ॥२।२२॥

निदाघ-पीड़ित जनसमाज किस प्रकार उड़ती हुई धूलि से संत्रस्त होकर पंखों के द्वारा पसीने को सुखाते हुए आनन्द पाता है, इसका वर्णन कवि ने इस पद्य में किया है—

अत्युष्णगन्धवहगन्धवहप्रवाहाः
सन्तापयन्ति सकलान् कृतधूलिलीलाः ।
स्वेदापनोदकलितैर्ललितैस्सुयन्त्रैः
शर्माऽऽप्नुवन्ति मनुजा बहुवीज्यमानाः ॥३।६॥

वर्षाकाल में मेघमालाओं के बीच चमकने वाली दामिनी पंक्ति को सर्पिणी की चञ्चल जिह्वा के रूप में कल्पित करते सुन्दर उत्प्रेक्षा की गई है—

कादम्बिनीमध्यलसत्पिशङ्गा
सौदामिनीनां ततिरम्बरान्तः ।
भुजङ्गमीनां रसनावलीव
लीलाचमत्कारमियं तनोति ॥४।६॥

वर्षाकाल में विविध रूपों को धारण करने वाले बादलों का वर्णन करने में सभी भाषाओं के कवियों की वृत्ति रमी हुई है। अंग्रेजी में शैली की The Colud और हिन्दी के छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पन्त की 'बादल' शीर्षक कवितायें इसका प्रमाण हैं। प्रस्तुत नाटक में भी कवि ने बादलों के विविध-रूपों का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है—

केचिन्मृगेन्द्रा इव भीतिदायिनः
केचित्कुरङ्गा इव चित्तहारिणः।
केचित्तुरङ्गा इव भव्यदर्शना
रूपं दधाना विविधं भ्रमन्त्यमी ॥४।१२॥

जल से पूरिपूरित, तटमर्यादा भंग करती हुई, भंवररूपी नाभि की शोभा को दिखाती हुई, जलनिधि रूपी पति से संगम के लिए विह्वल नदीरूपी अभिसारिका का वर्णन शृङ्गाररस के प्रतीकों को लेकर चलता है—

नवजलदसुनीरैः पूरिता निर्झरिण्यो
विहितपुलिनभङ्गा उद्धृतास्तास्तरुण्यः।
नवजलधरकाले सङ्गमोत्कास्सरन्ति
जलनिधिपतिमेतां दर्शितावर्तभङ्ग्यः ॥४।१४॥

ऋतु-वर्णन के अतिरिक्त चन्द्रोदय, नदी-वर्णन आदि प्रकृति के विभिन्न चित्रों तथा आश्रम, नगर आदि मनुष्य निर्मित वस्तुओं के वर्णन में भी कवि ने अपनी काव्य-प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है। चन्द्रोदय का एक दृश्य अवलोकनीय है—

रक्तैर्मरीचिनिचयैरुदयाद्रिमेतत्
कुर्वंत्सुरक्तमखिलं कमनीयवर्णम्।
उन्मग्नवन्नभसि काञ्चनकुम्भवन्नु
पूर्वाम्बुराशितलतो द्विजराजबिम्बम् ॥२।३७॥

यह चन्द्रमण्डल लाल किरणों से अखिल उदयाचल को रंगता हुआ पूर्व समुद्र की गोद से स्वर्णकलश की ओर उछल रहा है।

गङ्गानदी का वर्णन समास-बहुला गद्य-शैली में किया गया है—

'इयं सकलकलं निनदन्ती दन्तीन्द्रवृन्दविमण्डिततटा तटानोकहनिवहरुचिरा चिराजिततपोधनतपस्विपुङ्गवविरचितकुटीरमण्डलविराजिता जिताक्षमुनिवृन्दारकवृन्दलसिता सिताच्छच्छदविविधविहङ्गगणसेविता विततानेकप्रबलोत्तुङ्गरङ्गत्तरङ्गा गङ्गाऽपि दृष्टिपथमुपैति।" तृतीय अंक पृष्ठ ५४।

ऋषि-मुनियों के आश्रमों का वर्णन करने के प्रसंग में कवि ने भारत की आरण्यक संस्कृति को ही चित्रिण किया है—

क्वचिदाश्रममन्दिरावली
कदलीस्तम्भदलैर्विमण्डिता।

क्वचिदङ्गनयज्ञवेदिका
वटुवृन्दारकवृन्दवन्दिता ॥५।३२॥

वितस्ता नदी के तट पर सुशोभित कश्मीर देश की राजधानी श्रीनगर का एक ऐश्वर्यपूर्ण चित्र देखिए—

नदीं वितस्तामभितस्तटस्थिता
विशालशालाङ्गनहर्म्यसंकुला ।
नभस्स्पृशन्मन्दिरराजिराजिता
विराजते श्रीनगरी गरीयसी ॥६।२०॥

'प्रकृति-सौन्दर्य' अलंकार योजना की दृष्टि से भी सम्पन्न है। यत्र-तत्र अनुप्रास, यमक, रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग किया गया है। आकाश-रूपी रंगभूमि पर मेघरूपी सूत्रधार के साथ, हास्य सहित कटाक्ष वाण फेंकती हुई कामिनी की भांति विद्युन्नटी नाच रही है। इस रूपक को निम्न पद्य में योजित किया गया है—

सा सूत्रधारेण सहाम्बुदेन
तडिन्नटी पुष्कररङ्गभूम्याम् ।
समेत्य लास्यं कुरुते सहास्य
म्राक् चञ्चला चञ्चललोचनेव ॥४।२४॥

समुद्र की ओर जाने वाली कृशकाय नदी उस कृशाङ्गी-नायिका के तुल्य है जो चञ्चल-तरङ्गों रूपी त्रिवली से युक्त, भंवर तुल्य नाभि से शोभित, श्वेत कमलरूपी माला से सुशोभित, कलहंसरूपी नूपर बजाती हुई अपने पति के पास मन्थर गति से चली जा रही है—

विनिर्मला लोलतरङ्गमालिनी
सितारविन्दावलिदामशालिनी ।
इयं कृशाऽऽवर्तमनोरमा पतिं
प्रयाति मन्दं कलहंसनादिनी ॥५।१२॥

शरद्-रूपी नट का निम्न साङ्ग-रूपक भी दार्शनीय है—

विकस्वराम्भोजविलोललोचना
विकासिका शालिदुकूलशालिनी ।
प्रफुल्लबाणासनकाननान्तरे
शरन्नटी नृत्यति हंसशिञ्जिनी ॥५।१३॥

विकसित कमल-रूपी चञ्चल नेत्रों वाली खिले हुए काश पुष्प-रूपी साड़ी से सज्जित, हंस-रूपी मधुर ध्वनि वाली शरद्-रूपी नटी खिले हुए सरकण्डे एवं आसन नामक वृक्षों के वनों में नाच रही है।

भ्रम अलंकार का उदाहरण निम्न पद्य में देखा जा सकता है—

निशम्य नादं नदतोऽम्बुदस्य
सिंहोऽन्यसिंहागमशङ्कयाऽसौ ।
निष्क्रम्य सज्जो गिरिकन्दरायाः
स्थितो बहिर्योद्धुमिवातिघोरम् ॥४।२५॥

गर्जते हुए बादल की गर्जना को सुनकर, दूसरे सिंह के आगमन की शंका से गिरिगुहा से बाहर आकर यह सिंह भयंकर युद्ध करने के लिए तैयार होकर खड़ा है।

नाटककार ने इस नाटक में न केवल सुन्दर पद्यों की रचना कर अपनी विलक्षण काव्य-शक्ति का ही परिचय दिया है, अपितु प्रथम अंक में नट के मुख से तथा अन्तिम अंक में भरत-काव्य के रूप में राजकुमार चन्द्रकेतु के मुख से दो गीत भी प्रस्तुत किए हैं जो कवि की संगीतबद्ध काव्य-रचना शक्ति के उदाहरण हैं। नाटक में यत्र-तत्र सुन्दर सूक्तियों को भी पद्यबद्ध किया गया है जो माला-गुम्फित मौक्तिकों के तुल्य कमनीय दृष्टिगोचर होती हैं। ऐसी सूक्तियों के निम्न उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

सदा वितनुते सुमङ्गलमहो सतां संगमः ॥१।३१॥

सत्पुरुषों की संगति सदा मंगलकारिणी ही होती है।

महौजसां सन्ति विचित्रवृत्तयः ॥३।३५॥

ओजस्वी पुरुषों की वृत्तियां विलक्षण ही होती हैं।

भवन्ति वन्द्या नहि कस्य साधवः ॥६।९॥

साधु पुरुष किससे वंदित नहीं होते।

शृङ्गार-रस विरहित नाटक 'प्रकृति-सौन्दर्य' वस्तुतः प्रकृति के कमनीय रूप की एक मनोरम झांकी है।

महर्षि-चरितामृत—प्राचीन शास्त्रीय नाट्य-प्रणाली पर आधारित स्नातक सत्यव्रत वेद-विशारद रचित 'महर्षि-चरितामृत' नाटक आधुनिक संस्कृत-साहित्य की एक मूल्यवान् उपलब्धि है। संस्कृत-नाटक सरिता को सूखे हुए यद्यपि कतिपय शताब्दियां व्यतीत हो चुकी हैं तथापि, आर्यसमाज के इस

विद्वान् द्वारा प्रणीत इस नाटक को देखकर यही जान पड़ता है कि वर्तमान युग में भी कालिदास, भास और भवभूति की-सी क्षमता वाले नाटककार विद्यमान हैं। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द की नाटकों के विषय में कभी अनुकूल सम्मति नहीं रही।[1] इसका कारण था संस्कृत नाटकों में शृंगार रस का वाहुल्य और उससे होने वाली विद्यार्थियों की चारित्रिक हानि। चरित्र विषयक शुद्धता पर अत्यधिक जोर देने वाले स्वामी दयानन्द के लिए शृंगार प्रधान काव्य, नाटक आदि रसपरक साहित्य के प्रति उपेक्षावृत्ति धारण कर लेना स्वाभाविक ही था, परन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं कि श्रेष्ठ विषयों को सन्निविष्ट करने वाले वीररस-पूर्ण काव्य, नाटक आदि का भी वहिष्कार किया जाय। आर्यसमाज की रसात्मक साहित्य के प्रति यही दृष्टि रही है। आर्यसमाज के विद्वानों ने जिस साहित्य का सृजन किया है वह शृंगाररस वर्जित होते हुए भी मानव हृदय में उदात्त भावनाओं को जागृत करने वाला साहित्य है जिसमें वीरता, उत्साह, चरित्र-निर्माण, नैतिक-उन्नति तथा लोकोपकार आदि के दिव्य भाव संग्रथित हैं। अस्तु।

साहित्याचार्यों ने वस्तु, नेता और रस नाटक के तीन मूल तत्त्व वताए हैं। आलोच्य नाटक के नायक स्वामी दयानन्द हैं तथा उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं को ही नाटक के कथानक में समाविष्ट किया गया है। अतः नाटक की वस्तु को 'प्रख्यात' ही माना जाएगा। यद्यपि घटनाओं का चित्रण करने में लेखक ने ऐतिहासिकता की पूर्ण रक्षा की है तथापि कहीं-कहीं कवि सुलभ कल्पना के आधार पर उसने कतिपय प्रसंगों की मौलिक उद्भावना भी की है। नाटक के नायक स्वामी दयानन्द में धीरोदात्त नायक के सभी गुण मिलते हैं। वे धर्म-प्रवण, सर्वस्व-त्यागी, वैराग्यवान् तथा लोक-कल्याण के लिए कृत-संकल्प महापुरुष हैं। चारुदत्त, गणेन्दु, चन्द्रशेखरादि कुछ अन्य पात्रों की भी लेखक ने कल्पना की है जिनका यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व नहीं है तथापि, कथा-प्रसंग में इनकी अवतारणा आवश्यक थी। नाटक का प्रधान-रस शान्त है जो नायक की वीतराग प्रवृत्ति, उसके दृढ़ वैराग्य तथा उत्कट धर्मनिष्ठा को देखते हुए सर्वथा उचित ही है। कहीं-कहीं लेखक ने हास्यरस के प्रसंगों की कल्पना कर नाटक को अधिक मनोरञ्जक और हृदयग्राही वना दिया है।

वस्तु-विश्लेषण—सम्पूर्ण नाटक पांच अंकों में विभक्त है। प्रथम 'शिवरात्रि उत्सव' नामक अंक मंगलाचरण के पद्यों से प्रारम्भ होता है।

---

१. द्रष्टव्य ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० ३६६ द्वि० सं०।

सूत्रधार और नटी के संवाद में ही शिवरात्रि का निम्न उल्लेख अत्यन्त रोचक और हास्योत्पादक है—

"अहो समागता दम्भदण्डैरिवपूजकैर्घणघणायमानघण्टाघोषनिरस्तजननिद्रा उपवासमिषान्मिष्टान्नपूरितोदरकुहरैश्चोच्चारितदीर्घनादा निद्रालुजनघुरघुरायमाणघोरघोणघोषिता शिवरात्रिः ।"

अर्थात् यह आई शिवरात्रि जिसमें दम्भी शिवपूजनों द्वारा किए जाने वाला घण्टानाद लोगों की नींद नष्ट करता है, उपवास के बहाने लोग अपने पेट को मिष्टान्न से पूरित कर दीर्घ आवाज (डकार) करते हैं तथा जिसमें जागरण करने वाले लोग भी नींद में अपनी नासिका से घुर-घुर की ध्वनि करते हैं। इस उद्धरण में 'घ' वर्ण की आवृत्ति भाषा की आनुप्रासिकता का उदाहरण है।

शिवरात्रि-वर्णन में विजया-प्रशंसा तो अनिवार्य ही है। उपाध्याय निम्न पद्य में भङ्ग-भवानी का स्तवन करता है—

> दृष्ट्यैव मोहयति कर्षति दूरतोऽपि
> हर्षप्रकर्षमभिवर्धति सङ्गकाले ।
> वामाङ्गनेव कमनीयकलावतारा
> मारारिमानसहरा विजया मनोज्ञा ॥१।८॥

यह भंग दृष्टिपथ में आने मात्र से ही मोहित करती है, दूर से ही आकर्षित करती है, पान से प्रकर्ष हर्ष उत्पन्न करती है। वामांगना के तुल्य यह सुन्दर विजया भगवान शंकर के मन का हरण करती है। भंग के नशे में उपाध्याय का वाणी स्खलन (हकला कर बोलना) नितान्त हास्यजनक है। वह कहता है—यथा भ···भ···वता···पा···पा···पाठशालाया मा···मा··· ग···ग···न्त···व्य···म्···अहं···ग···ग···च्छामि।

अंक की समाप्ति पर मूलशंकर की यह प्रतिज्ञा उसकी सत्यनिष्ठा की द्योतक है—

> कामं हि मे कुप्यतु पूज्यतातः
> तिरस्करोतु मह्यमत्र माता ।
> विगर्हितां वाचमुपैतु लोकः
> सत्याच्चलिष्यामि पथः परं न[1] ॥१।१९॥

---

१. तुलनीय—स्वामी दयानन्द का प्रिय भर्तृहरि का नीति श्लोक—
निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु ।

चाहे मेरे पूज्यपिता मुझ पर कोप करें, चाहे माता तिरस्कार करे, चाहे लोक में मेरी निन्दा हो, परन्तु मैं सत्यपथ से विचलित नहीं होऊंगा।

'महाभिनिष्क्रमण' नामक द्वितीय अंक में स्वामी दयानन्द के गृहत्याग तथा सिद्धपुर गमन की घटनायें वर्णित हुई हैं। 'गुरुदक्षिणा' नामक तृतीय अंक अतीव रोचक है। उत्तराखण्ड भ्रमण-प्रसंग में स्वामी दयानन्द ने टिहरी के शाक्त मन्दिर के मांस-भोगी पण्डितों का निमन्त्रण अस्वीकार कर उनके कोपभाजन बने। इस प्रसंग में नाटककार ने शैव, शाक्त, वैष्णव आदि विभिन्न सम्प्रदायानुयायियों का प्रवेश दिखाकर तथा उनके द्वारा स्व-स्व सम्प्रदाय की प्रशंसा अत्युक्तिपूर्ण शैली में कराकर संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय' का-सा दृश्य उपस्थित कर दिया है। शाक्त-मतानुयायी अपने वाम-मार्ग की प्रशंसा में पञ्च-मकारोपासना को ही मुक्ति का एकमात्र साधन बताते हुए कहता है—

> **रसाधीनान् मीनान् च्युतरसमदन्तश्च मदिरां**
> **मुहुः पायं पायं मधुरबकुलामोदमुदिताम्।**
> **अपारव्यापारैरशिथिलसमामर्दितकुचं**
> **प्रवेक्ष्यामः साकं युवतिभिरहो मोक्षनिलयम्॥३।१॥**

यही शाक्त उपासक अपने मत की प्रशंसा करता हुआ कहता है—

"विलक्षणोऽयं शाक्तमार्गः। यत्र प्रत्यक्षसौख्यावगमः स्वर्गवासः। संमदपूर्णा प्रथीयसी सर्वेन्द्रियाह्लादिनी निरायाससाधिका मुक्तिः। परमः पन्थाः शाक्तस्य। यस्य महिमानमुदाहरन्ति हरिहरहंसवाहनादयः।"[1]

यह विलक्षण शाक्त मार्ग है। जहां प्रत्यक्ष सुख की प्राप्ति ही स्वर्ग का निवास है। समस्त इन्द्रियों को आह्लादित करने वाली मुक्ति यहां सहज ही प्राप्त होती है। शाक्तों का पन्थ महान् है जिसकी महिमा का गायन ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी करते हैं। मृगाक्षी की वदन-मदिरा को पीयूष मानने वाले और नीवी-मोक्ष को ही मोक्ष समझने वाले[2] शाक्त पन्थ का यह अच्छा उद्घाटन है।

'पाखण्ड-खण्डन' नामक चतुर्थ अंक में स्वामी दयानन्द द्वारा हरिद्वार में कुम्भ के अवसर पर पाखण्ड-खण्डनी पताका का आरोपण, कर्णवास में राव

---

१. पृ० ५४।

२. सत्यं तत्त्वं कलयत जनाः स्वर्गसौख्यं मृगाक्षी।
पीयूषं तद्वदनमदिरा नीविमोक्षो हि मोक्षः॥३।२॥

कर्णसिंह द्वारा स्वामीजी पर खड्ग-प्रहार तथा स्वामीजी द्वारा उसका निराकरण, काशी-शास्त्रार्थ आदि घटनायें वर्णित हैं। 'मृत्युञ्जय' नामक पञ्चम अंक में स्वामीजी को विषपान कराए जाने तथा अजमेर में उनके मुक्ति-पदारूढ़ होने तक का इतिवृत्त वर्णित हुआ है। नाटक की समाप्ति स्वामीजी द्वारा कथित इस भरत-वाक्य से होती है—

> वेदा भेदमषीमलीमसतमप्रत्यर्थिपाखण्डिता-
> खण्डोद्दण्डसमुज्ज्वला द्विजवरैरायान्तु दिव्यक्रमम्।
> पृथ्वीशाः प्रजया भवन्तु कृतिनो देशोदये दीक्षिता
> भूयाद् भारतधर्मवीरविजयः सौभाग्यसंभूतये ॥५।२३॥

नाटक का कला-पक्ष—नाट्यकला की दृष्टि से महर्षिचरितामृत नितान्त प्रौढ़ रचना है। इसमें प्रयुक्त भाषा परिष्कृत, परिमार्जित तथा पात्रानुकूल है। लेखक का शब्द वैभव तथा भाषा पर असाधारण अधिकार प्रशंसनीय है। यत्र-तत्र समासप्रधान शब्दावली के प्रयोग ने भाषा को बाण और दण्डी की भाषा के तुल्य बना दिया है। शाक्त गुरु का यह देवी-स्तोत्र इस दृष्टि से उदाहरणीय है—

"मथितनिखिलदैत्यसंग्रामसंहारसंखण्डिताङ्गप्रतीकप्रसर्पद्घनास्त्रप्रवाहप्रभाशोणदिङ्मण्डलाकाण्डसंभ्रान्तसंध्यावधानोद्धुरक्षामामरव्रातदत्ताञ्जलिस्नेहपूजात्मने विश्वकल्याणसंपादनप्रस्तुते, संततोद्दीप्तदुर्वारमोहान्धकारव्यथानाशिके सर्वदाभासिके, भक्तहृद्वासिके, दिव्यदीक्षात्मके देवि! तुभ्यं नमः!"[1]

संवादों के बीच-बीच में नाटककार ने जिन पद्यों को निबद्ध किया है वे उसकी उच्च काव्य-प्रतिभा के द्योतक हैं। निम्न पद्य को भवभूति के उत्तररामचरित के किसी भी उत्कृष्ट पद्य की तुलना में रखा जा सकता है—

> उद्दामद्रागुदञ्चन्खरतरनखराघातसंचूर्णितोग्र-
> ग्रावग्रामस्य गर्वग्रहितगुरुपदं निर्यतोऽरण्यभागात्।
> त्रस्तत्रस्तास्तसत्त्वक्षुभितगजघटास्फारचीत्काररावैर्
> उत्कर्षः शौर्यशक्तेरगदितगरिमा ज्ञायते सिंहसूनोः ॥
> १।८॥

द्वितीय पंक्ति में अनुप्रास का उत्कर्ष दर्शनीय है।

प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से सूत्रधार की निम्न उक्ति कितनी मनोहर है—

---

१. पृ० ५९ अंक २।

धरां धारासारैरनधिगतनिम्नोन्नतदशाम्
अनर्थैर्विन्यासैः श्रुतिमिव खलानां विरचयन् ।
अनालोकं धर्मागममिव विधायाम्बरमणि
समायातः कालः कलिरिव कलापिप्रियकरः ॥११९॥

सामाजिक यथार्थ के चित्रण की दृष्टि से धर्मशाला का यह वस्तु-निष्ठ चित्र भी अवलोकनीय है—

क्वचित्थुक्काष्ठीवः सकलगदसंक्रामकरणः ।
क्वचित्फूत्कारेण प्रचलितपतत्कच्चरचयः ॥
क्वचिज्जीर्णा कन्था सघनमलिनः कर्पकटकः ।
क्वचिद् धूमासक्तः स्रवति हतकुड्यं कृमिकरम् ॥४॥

रस-मीमांसा—शान्तरस का प्रवाह तो इस नाटक में सर्वत्र प्रवाहित हो रहा है। यही इस नाटक का अङ्गी (प्रधान) रस है। परन्तु यत्र-तत्र हास्यरस के छींटे भी पाठक को रस विभोर कर देते हैं। पञ्चम अंक में रक्षक और नायक स्वामी-जी के काशी-शास्त्रार्थ विजय की चर्चा करते हैं। उस समय एक रक्षक स्वामीजी के प्रति अपना अज्ञान प्रकट करते हुए कहता है—**अस्ति कश्चिदकब्बरस्य सेनापतिः यो दक्षिणां दिशं गत्वा वराणसीमजयत्।**"क्या ये कोई अकबर के सेनापति हैं जिन्होंने दक्षिण दिशा में जाकर वाराणसी को विजय किया ? यहां वक्ता का अज्ञान स्पष्ट ही हास्योत्पादक है। वह काशी को दक्षिण दिशा में स्थित मानता है। इस पर एक अन्य रक्षक कहता है—"**यथा चाणक्येन प्रसभमपदग्धा द्रुपजा।**" जिस प्रकार मृच्छकटिक नाटक का शकार (राज श्याल) विभिन्न ऐतिहासिक पात्रों का परस्पर प्रतिकूल सम्बन्ध स्थापित कर अपनी मूर्खता का परिचय देते हुए हास्यरस की सृष्टि करता है उसी प्रकार का यह उदाहरण है।

निम्न वार्तालाप का हास्यरस भी उत्कृष्ट कोटि का है—

प्रथमः—पण्डितानां जये विजयोपकरणस्य सेनागजतुरङ्गस्य किं प्रयोजनम् ?

तृतीयः—ततः किं वाङ्मात्रेण विजयः ?

नायकः—पाण्डित्येन ।

तृतीयः—हंहो किमेतत् नूतनं पाण्डित्यं शस्त्रम् ?

नायकः—मूढालंकार ! शास्त्रजन्यं ज्ञानं पाण्डित्यं वदन्ति ।

तृतीयः—एवं, तदा शास्त्राणि कस्य कलत्राणि ?[1]

जब नायक ने कहा कि स्वामीजी ने पाण्डित्य के द्वारा काशी के पण्डितों को जीता है तो एक ने पूछा—क्या यह पाण्डित्य कोई नया शास्त्र है ? इस पर नायक कहता है—अरे मूर्ख, शास्त्रजन्य ज्ञान को ही पाण्डित्य कहते हैं। इस पर वह मूढ़ रक्षक पुनः पूछता है—अच्छा ऐसा है, तो शास्त्र किसकी स्त्रियां हैं ? यहां हास्य का कारण स्पष्ट है। जब पाण्डित्य को शास्त्र से 'उत्पन्न' कहा गया तो उस मूर्ख को यह शंका हुई कि शास्त्र निश्चय ही किसी की स्त्री है जिससे 'पाण्डित्य' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है।

नाटक में कतिपय सूक्तियों का प्रयोग बहुत सुन्दर हुआ है। यथा—
अयोग्याधिकारे पदे पदं निदधानो जनः सर्वदा हास्यतां याति।
'अंगुली पकड़ते-पकड़ते पहुंचा पकड़ना' इस उक्ति का यह संस्कृत रूपान्तर मनोज्ञ है—**'सूचिकाप्रवेशेन मुसलप्रवेशः।'**

संवाद-माला—पं० आनन्दवर्धन विद्यालंकार ने संवादमाला शीर्षक से संस्कृत भाषा में १३ संवादों की रचना की है। यद्यपि ये संवाद एकांकी नाटक की शैली में लिखे गये हैं, तथापि कथानक और चरित्रांकन के अभाव में इन्हें एकांकी न कहकर संवाद मात्र ही कहना उपयुक्त होगा। इन संवादों को लिखने में लेखक का मुख्य प्रयोजन यह बताना प्रतीत होता है कि संस्कृत भाषा को भी आधुनिक जीवन के दैनन्दिन वार्तालाप का माध्यम बनाया जा सकता है। संवादों की रचना करनेमें लेखक ने सरल व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया है। संवादों में दैनन्दिन जीवन का यथार्थवादी चित्रण किया गया है यथा समाचारपत्र वाचन, रेडियो श्रवण, क्षौर कर्म, कार्यालय जीवन, भोजन, बस यात्रा आदि कार्यों से सम्बद्ध वार्तालाप लिखे गये हैं। संवादों के लिखने में लेखक ने एक निश्चित विषय से सम्बद्ध पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण कर उसका प्रयोग किया है। ऐसा करने में उसका अभिप्राय यही है कि वर्तमान युग के नित्य प्रति के जीवन, उसके कार्य व्यापार तथा तत् सम्बन्धी शब्दावली से पाठक परिचित हो सकें। उदाहरणार्थ आधुनिक युग के जीवन में चायपान की महत्ता को ध्यान में रखते हुए लेखक ने Bread के लिए **पुरोडाश**, मक्खन की टिकिया के लिए **हैयङ्गवीनवेष्टनिका**, Slove के लिए **तैलज्वालायन्त्रम्**, Tea Post के लिए **कषायधानी**, Cup के लिए **वर्धमानक** आदि। इसी प्रकार सेफ्टीरेजर के लिए **मुण्डित्र**, ब्लेड के लिए **धातुपत्रिका** तथा Shaving Brush के लिए **पल्यूण कूर्चक** आदि शब्द भी

१. पृ० १०४, १०५ अंक ५।

विचारणीय हैं। इसी प्रकार अन्य संवादों में भी कार्यालय जीवन, भोजनशाला, बस यात्रा के वैविध्यपूर्ण चित्रों से सम्बद्ध शब्दावली को संगृहीत कर लेखक ने संस्कृत की व्यावहारिकता और नित्यजीवन में उसके प्रयोग की आवश्यकता पर जोर दिया है। इन संवादों की यही सार्थकता है और यही इनकी रचना का प्रमुख प्रयोजन है।

सुभाषित ग्रन्थ--

संस्कृत साहित्य में सुभाषितों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सुभाषित ज्ञान के भण्डार, सुमति-प्रसारक, कुमति-निवारक तथा वाग्वैदग्ध्य के आकर माने गये हैं। सुभाषितरत्नभाण्डागार आदि ग्रन्थों में संस्कृत सुभाषितों का जो बृहद् संग्रह उपलब्ध होता है वह किसी भी भाषा के लिए गौरव की वस्तु है। आर्यसमाज के संस्कृत विद्वानों ने भी सुभाषितों और सूक्तियों के संग्रह और प्रकाशन की ओर पूर्ण ध्यान दिया है।

स्वामी अच्युतानन्द ने सर्वप्रथम इस प्रकार के वैदिक और लौकिक सुभाषितों का संग्रह **व्याख्यान-माला** के नाम से तैयार किया। इस ग्रन्थ में धर्म, क्षमा, सत्य, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, दान, अहिंसा, सदाचार, विद्या, सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निंदा, जैसे पचास विषयों के सुभाषित एकत्रित किये गए हैं। अधिकांश सुभाषित वेद, उपनिषद्, गीता, मनुस्मृति, महाभारत, भर्तृहरि शतक आदि ग्रन्थों से लिये गए हैं। इस ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण पं० यज्ञदेव शास्त्री कृत हिन्दी अनुवाद सहित गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। आगरा निवासी प० भीमसेन शर्मा ने **'आर्यसूक्ति-सुधा'** नामक सुभाषित संग्रह का सम्पादन किया, जो गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित हुआ। पं० मुसद्दी-राम शर्मा आर्योपदेशक ने **सुभाषित-रत्न-माला** शीर्षक से १३४ विषयों पर लगभग १२०० श्लोकों का संग्रह तथा उनका भाषानुवाद प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ स्वामी प्रेस, मेरठ से छपा।

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने **सूक्ति-सुधा** नामक एक सूक्ति संग्रह तैयार कर २०१० वि० में स्वाध्याय मण्डल (पारडी) से प्रकाशित किया। यह ग्रन्थ स्वाध्याय मण्डल द्वारा संचालित संस्कृत परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में निर्धारित किया गया था। इसमें सुभाषित-प्रशंसा, विद्या-प्रशंसा, काव्य-प्रशंसा, पण्डित-प्रशंसा, कुपण्डित-निंदा, सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा आदि विषयों से सम्बद्ध सुभाषितों का संग्रह किया गया है। इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में पाये जाने वाले प्रहेलिका, कूट, अन्तरालाप, अन्योक्ति जैसे चमत्कार

मूलक पद्यों के साथ-साथ सन्ध्या, प्रभात, सूर्योदय, चन्द्रोदय, तथा ऋतु-वर्णन आदि प्रकृति--वर्णन वाले पद्य भी इस संग्रह में समाविष्ट किए गये हैं ।

गुरुकुल कांगड़ी के पुराने स्नातक पं० कृष्णचन्द्र विद्यालंकार ने **सुभाषित-रत्नमाला** के नाम से २०० सुभाषितों का संग्रह किया है। इस ग्रन्थ में वैदिक साहित्य, तथा संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत ईश-स्तुति, पापनिवारण, मातृभूमि, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, संगठन, विद्यामहिमा, सत्संगति, सत्यमहिमा, क्रोधनिंदा, संतोष, दानमहिमा आदि विषयों पर सुभाषितों की सरल हिन्दी व्याख्या भी साथ में दी गई है ।

मुनिदेव उपाध्याय विरचित **संस्कृतसुभाषितसौरभ** इस विषय का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें वेद, उपनिषद्, गीता, मनुस्मृति, पञ्चतन्त्र, भर्तृहरि कृत नीतिशतक, चाणक्यनीति आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त कालिदास, माघ, भारवि, अमरुक, घोई आदि संस्कृत के ख्यातिप्राप्त कवियों के काव्यों से भी कतिपय सुभाषित चुने गये हैं। लेखक ने स्वयं इन सुभाषितों की रोचक और ललित व्याख्या की है। इनमें से कतिपय सुभाषित आकाशवाणी के जयपुर केन्द्र से प्रसारित भी हो चुके हैं। सुभाषितों के अतिरिक्त कालिदास का कुमारसम्भवान्तर्गत हिमालय-वर्णन, रामिल सोमिल कृत वसन्त-वर्णन, भर्तृहरि कृत सूर्यास्त-वर्णन तथा अथर्ववेदान्तर्गत पृथिवि-सूक्त के कतिपय मन्त्र भी इस ग्रन्थ में व्याख्यात हुए हैं। इस ग्रन्थ का प्राक्कथन भारतीय पुरातत्त्व विभाग के संयुक्त प्रधान निर्देशक डा० बहादुरचन्द्र छाबड़ा ने लिखा है। मेधारथी स्वामी ने **'सुभाषित-शतक'** लिखा है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि सुभाषित ग्रन्थों के प्रणयन में भी आर्यसमाज के विद्वानों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

साहित्यालोचन-विषयक साहित्य–

अब तक हमने आर्यसमाजी साहित्यकारों द्वारा रचित जिस साहित्य का मूल्यांकन किया है उसे सुप्रसिद्ध संस्कृत साहित्य शास्त्री आचार्य राजशेखर के अनुसार कारयित्री प्रतिभा से निर्मित ललित-रसपरक साहित्य की संज्ञा दी जा सकती है। राजशेखर के अनुसार एक अन्य भावयित्री प्रतिभा भी होती है जिससे काव्य के सौन्दर्य का आस्वाद किया जाता है। यह प्रतिभा रसज्ञ आलोचक में पाई जाती है। संस्कृत में काव्यालोचना के विकास की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । साहित्यिक आलोचना को काव्य-शास्त्र, साहित्य-शास्त्र तथा अलंकार-शास्त्र आदि नामों से अभिहित किया गया है। भरत मुनि ने

नाट्य-शास्त्र से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ के रस-गंगाधर पर्यन्त साहित्यालोचन और काव्य-मीमांसा कार्य अप्रतिहत गति से होता रहा। इस विस्तृत काल में रस, वक्रोक्ति, ध्वनि, रीति और अलंकार आदि को महत्ता देते हुए पृथक्-पृथक् आलोचना-सम्प्रदायों की स्थापना हुई और भरत, कुन्तक, आनन्दवर्धन, वामन, भामह आदि आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्तों की पुष्टि करते हुए काव्य की आत्मा का विवेचन किया। इस समग्र काव्य-विवेचन में युक्ति, तर्क सिद्धान्त स्थापन और परमत खण्डन जैसे उपायों का सहारा लिया गया।

हिन्दी के राष्ट्र भाषा पद पर प्रतिष्ठित होने तथा हिन्दी के माध्यम से काव्य-शास्त्र विषयक गम्भीर अध्ययन और विवेचन की आवश्यकता को अनुभव करते हुए यह आवश्यक समझा गया कि हिन्दी में भी काव्य-शास्त्र के इन आकर ग्रन्थों का अनुवाद होना चाहिए, जिनकी सहायता से साहित्य-शास्त्र के अध्येता उक्त विषय का गम्भीर परिशीलन कर सकें। आर्यसमाज के विद्वानों ने काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों के सुगम और सुबोध अनुवाद, भाष्य, टीकादि लिखने का श्लाघनीय प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में जो कुछ कार्य हुआ है, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

कविरत्न अखिलानन्द शर्मा ने वामन कृत **काव्यालंकार सूत्र** का वैदिक भाष्य १९७० वि० में प्रकाशित किया। कविरत्नजी ने इसे यास्क रचित काव्यालंकार सूत्र कहा है। वामन रचित ग्रन्थ को यास्क प्रणीत कहने का कारण सम्भवतः यह प्रतीत होता है कि स्वामी दयानन्द ने अपने संस्कार-विधि ग्रन्थ के वेदारम्भ प्रकरण में जहां पठन-पाठन प्रणाली का वर्णन किया है वहां पठनीय ग्रन्थों की सूची में 'यास्क मुनिकृत काव्यालंकार सूत्र वात्स्यायन भाष्य सहित' पढ़ने का विधान किया है। कविरत्न जी ने स्वामी दयानन्द के इस निर्देश को ही ध्यान में रख कर वामन कृत काव्यालंकार सूत्र को यास्क रचित कह दिया प्रतीत होता है। अखिलानन्द शर्मा ने पिंगल कृत **छन्दः सूत्र** का सर्वसाधारण के लाभार्थ संस्कृत भाष्य प्रकाशित किया। इस में प्रस्तार, नष्ट, उदिष्ट, मर्कटी, पताका आदि दुरूह प्रयोगों का विवेचन किया गया है।

वामन कृत **काव्यालंकार** सूत्र की व्रतिमङ्गला नामक संस्कृत टीका **मेधाव्रताचार्य** ने भी लिखी है जो २०१८ वि० में हरयाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर से प्रकाशित हुई। इस टीका के रचयिता भी अखिलानन्द शर्मा के ही अनुकरण पर काव्यालंकार सूत्र को यास्क रचित मानते हैं। यह संस्कृत टीका विशेष रूप से गुरुकुलों के छात्रों के अध्ययन की दृष्टि

से लिखी गई है, अतः इसमें सूत्रों की व्याख्या के रूप में जो उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं वे अश्लीलत्व दोष से सर्वथा रहित हैं। टीकाकार ने उदाहरण रूप में स्वरचित दयानन्द-दिग्विजय, दिव्यानन्द-लहरी, दयानन्द-लहरी, ब्रह्मचर्यशतक, गुरुकुलशतक, ब्रह्मर्षिविरजानन्द-चरित, नारायणस्वामि-चरित आदि काव्यों तथा प्रकृतिसौन्दर्य नाटक के पद्यों को प्रस्तुत किया है। सरल संस्कृत भाषा में सूत्रों की व्याख्या अत्यन्त सुबोध है। पिंगल **छन्दः सूत्र** की व्रतमङ्गला नामक व्याख्या भी मेधाव्रताचार्य ने लिखी, जो उक्त संस्थान से छप चुकी है।

गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के स्नातक **पं० उदयवीर शास्त्री** ने **वाग्भटालंकार** की संस्कृत हिन्दी टीका लिखी जो १९२५ में मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर से प्रकाशित हुई। गुरुकुल ज्वालापुर के ही **डा० हरिदत्त शास्त्री** ने मम्मट कृत **काव्यप्रकाश** की टीका लिखी। गुरुकुल कांगड़ी ने **आचार्य विश्वनाथ** कृत **साहित्य-दर्पण** का एक संशोधित संस्करण १९७८ वि० में प्रकाशित किया था। ज्वालापुर स्थित गुरुकुल महाविद्यालय के प्रथम मुख्याध्यापक **पं० शालग्राम शास्त्री** साहित्याचार्य ने **साहित्य-दर्पण** की विमला टीका लिखी।

आचार्य विश्वेश्वर कृत काव्य शास्त्र के ग्रन्थों के भाष्य—संस्कृत साहित्य शास्त्र पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करने वाले गुरुकुल वृन्दावन के भूतपूर्व आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणी थे। आचार्य विश्वेश्वर ने लगभग सभी महत्त्वपूर्ण अलंकार-शास्त्र के ग्रन्थों पर विस्तृत हिन्दी व्याख्यायें लिखीं। इस कार्य में उन्हें दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष, डा० नगेन्द्र का उल्लेखनीय सहयोग मिला। पं० विश्वेश्वर द्वारा सम्पादित और व्याख्यात ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है—

१. हिन्दी ध्वन्यालोक—ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन रचित ध्वन्यालोक की यह हिन्दी व्याख्या है। इस पर व्याख्याकार को उत्तरप्रदेश के शिक्षा विभाग तथा विन्ध्य प्रदेश सरकार द्वारा क्रमशः ८०० तथा ६०० रु० पुरस्कार रूप में प्रदान किये गये। डा० नगेन्द्र ने ध्वनि-सिद्धान्त का विवेचन करते हुए ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक विशद भूमिका लिखी है। यह ग्रन्थ १९५२ ई० में छापा।

२. हिन्दी काव्यालंकार—आचार्य वामन कृत काव्यालंकार सूत्र की यह विस्तृत हिन्दी व्याख्या है। इसे व्याख्याकार ने काव्यालंकार-दीपिका नाम दिया है। ग्रन्थारम्भ में डा० नगेन्द्र ने 'आचार्य वामन और रीति

सिद्धान्त' शीर्षक से रीति सम्प्रदाय का विस्तृत विवेचन किया है । यह ग्रन्थ १९५४ ई० में प्रकाशित हुआ । इस ग्रन्थ पर भी उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा लेखक को ८०० रु० पुरस्कार स्वरूप प्राप्त हुए ।

३. **हिन्दी वक्रोक्ति-जीवित**—वक्रोक्ति सम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्य कुन्तक की रचना वक्रोक्ति-जीवित की यह विस्तृत टीका है । इसके सम्पादन में आचार्य विश्वेश्वर को पर्याप्त श्रम करना पड़ा क्योंकि इस ग्रन्थ के जो पूर्व संस्करण प्रो० सुशीलकुमार दे, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, ढाका विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित किये गए थे वे पर्याप्त त्रुटित और अपूर्ण थे । इस ग्रन्थ का विस्तृत भूमिका भाग डा० नगेन्द्र ने लिखा है जिसमें वक्रोक्ति विषयक सभी विषयों का विस्तृत विवेचन हुआ । यह ग्रन्थ १९५५ ई० में प्रकाशित हुआ । इस पर लेखक को उत्तर प्रदेश सरकार ने ८०० रु० का पुरस्कार प्रदान किया ।

४. **हिन्दी काव्य-प्रकाश**—आचार्य मम्मट रचित काव्यप्रकाश की विस्तृत टीका आचार्य विश्वेश्वर द्वारा लिखी गई । इस ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका में व्याख्याकार ने संस्कृत साहित्यकार्य का सिंहावलोकन करते हुए काव्य-प्रकाश के महत्त्व का निरूपण किया है । हिन्दी में यद्यपि काव्य-प्रकाश की अनेक टीकायें प्रकाशित हो चुकी है, परन्तु आचार्य विश्वेश्वर कृत यह टीका सर्वाधिक सुबोध, मार्मिक और मूल ग्रन्थ के अभिप्राय को स्पष्ट रूप से प्रकाशित करने वाली है । यह ग्रन्थ की २०१७ वि० में ज्ञानमण्डल वाराणसी द्वारा प्रकाशित हुआ ।

५. **हिन्दी नाट्य-दर्पण**—रामचन्द्र गुणचन्द्र लिखित नाट्यदर्पण की विश्वेश्वर लिखित टीका हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय से १९६१ ई० में प्रकाशित हुई ।

६. **हिन्दी अभिनव-भारती**—भरतमुनि कृत नाट्य शास्त्र पर अभिनव-गुप्तपादाचार्य रचित अभिनवभारती टीका के प्रथम, द्वितीय और षष्ठ अध्याय पर आचार्य विश्वेश्वर ने विशद व्याख्या युक्त संजीवन भाष्य लिखा है । इस ग्रन्थ को तैयार करने में लेखक को अभिनवभारती के पाठानुसंधान और पाठ-समीक्षण में अत्यधिक श्रम करना पड़ा है । अभिनवभारती जैसे नाट्य शास्त्र विषयक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ को हिन्दी में लाने का यह सर्वप्रथम प्रयास है । इस ग्रन्थ का प्रकाशन दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के तत्त्वावधान में १९६० ई० में हुआ तथा उत्तर-प्रदेश सरकार ने लेखक को इस ग्रन्थ की रचना पर १००० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत किया ।

७. भक्तिरसामृत-सिन्धु—रूप गोस्वामी लिखित भक्ति-तत्त्व को रस रूप में प्रतिपादित करने वाले इस ग्रन्थ का प्रकाशन दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के तत्त्वावधान में हुआ। लेखक ने विस्तृत टीका द्वारा मूल ग्रन्थ की सुबोध व्याख्या की है।[1] ग्रन्थ का प्रकाशन १९६३ ई० में हुआ।

उपर्युक्त प्रकाशित ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य विश्वेश्वर ने मुकुल भट्ट कृत **अभिधावृत्तिमातृका** का हिन्दी भाष्य लिखा। यह अद्यापि अप्रकाशित है। वे अपने जीवन के अन्तिम दिनों में आचार्य विश्वनाथ के **साहित्य-दर्पण** की टीका लिख रहे थे, परन्तु वह उनके असामयिक निधन (३०जुलाई १९६२ ई०)के कारण अपूर्ण ही रह गई। आचार्य विश्वेश्वर ने न केवल प्राचीन साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थों पर टीका, भाष्य, व्याख्या आदि ही लिखे अपितु उन्होंने **साहित्य-मीमांसा** नामक १२०० करिकायुक्त एक-पद्य वद्ध ग्रन्थ भी लिखा था जिसमें संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का विशद विवेचन हुआ है। हिन्दी भाष्य युक्त यह ग्रन्थ अप्रकाशित ही है। इस ग्रन्थ में किस प्रकार सुगम रीति से लेखक ने काव्य-शास्त्र का विचार किया है, यह निम्न कारिकाओं से स्पष्ट है—

> **एकत्वेऽपि परेशस्य विश्वधर्मविभेदवत्।**
> **साहित्येऽपि समुद्भूताः सम्प्रदायास्तु सप्तधाः ॥**
> **काव्यस्यात्मा रसः कैश्चत्-कैश्चिच्चैव ध्वनिर्मतः।**
> **वक्रोक्तिर्गुण औचित्यमलंकारोऽथ रीतयः ॥**
>
> **भरतो रसराद्धान्तमलंकारं च भामहः।**
> **गुणं दण्डी ततो भिन्नं रीतिमार्गं च वामनः ॥**
>
> **कुन्तकश्चैव वक्रोक्ति ध्वनिमानन्दवर्धनः।**
> **अन्त्यमौचित्यराद्धान्तं क्षेमेन्द्रः प्रत्यपादयत् ॥**
>
> **साहित्यमीमांसा ३१-३४।**

साहित्य के शास्त्रीय विवेचन के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य का इतिहास लेखन भी आर्यसमाजी विद्वानों को आकृष्ट कर सका है। गुरुकुल वृन्दावन के प्रतिष्ठित स्नातक पं० द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री ने **'संस्कृतसाहित्यविमर्श'** शीर्षक संस्कृत साहित्य का इतिहास सुगम संस्कृत गद्य में लिखा। इस पर लेखक को उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा १५०० रु० पुरस्कार रूप में प्रदान

---

१. साहित्यदर्शनपरान् प्रबन्धान्
व्याख्याय लब्धनिजबुद्धिगुणप्रसादः।
श्रद्धारसेन परिपूतमनां हि वृत्तिं
सिन्धौ तनोमि हरिभक्तिरसामृतस्य ॥

किये गए। यह ग्रन्थ भारती प्रतिष्ठान, मेरठ से २०१६ वि० में प्रकाशित हुआ। डा० सुधीरकुमार गुप्त का **संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास** तथा पं० जगदेवसिंह शास्त्री सिद्धान्ती रचित **संस्कृत वाङ्मय का संक्षिप्त परिचय** इसी विषय के अन्य ग्रन्थ हैं।

भाषा-विज्ञान विषयक कार्य—

प्राचीन शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण आदि वेदाङ्गों में आधुनिक भाषा-विज्ञान बीज-रूप में मिलता है, परन्तु वर्तमान युग में जिसे भाषा-विज्ञान या अधिक सही अर्थों में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (Comparative Philology) कहा जाता है, वह वस्तुतः १९वीं शताब्दी की देन है। जब पाश्चात्य विद्वानों को संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं में अत्यधिक समानता दीख पड़ी तो उन्होंने भारोपीय भाषाओं का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया। भाषा-विज्ञान के जन्म में निस्सन्देह संस्कृत का प्रमुख हाथ रहा है। यदि यह भी कह दिया जाय कि एकमात्र संस्कृत के परिचय ने ही यूरोप में भाषा-विज्ञान को जन्म दिया तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। यूरोपीय विद्वानों को जब संस्कृत-भाषा का पता चला और उससे वे अधिकाधिक परिचित हुए तो भाषा सम्बन्धी उनके विचारों में आमूलचूल परिवर्तन हो गया। पुराने यूरोपीय विद्वान् समस्त संसार की भाषाओं को हिब्रू (पुरानी यहूदी भाषा) से उत्पन्न मानते थे तथा कुछ विद्वानों ने हिब्रू को आधार बनाकर यूरोपीय भाषाओं का अध्ययन भी उपस्थित किया था, जिसमें वे असफल हुए। जब से यूरोपीय विद्वानों को संस्कृत का पता चला तब से वे इस भ्रान्त-धारणा को छोड़कर भाषा-शास्त्र की वैज्ञानिक दिशा की ओर बढ़ने लगे।

यूरोपीय जगत् को संस्कृत-भाषा और वाङ्मय से परिचित कराने का श्रेय ईस्ट-इण्डिया कम्पनी की सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश सर विलियम जोन्स को है। सर जोन्स ने १७९६ में संस्कृत के विषय में जो शब्द कहे उन्हें आधुनिक भाषा-विज्ञान का आधार स्तम्भ कहा जायगा—

"संस्कृत-भाषा की पदरचना अत्यधिक अद्भुत है, चाहे उसका मूल उद्‌गम कुछ भी रहा हो। यह भाषा ग्रीक से भी अधिक पूर्ण, लैटिन से अधिक समृद्ध तथा दोनों से अधिक परिष्कृत है। इतना होते हुए भी यह उन दोनों से क्रियाओं के मूलरूपों (धातुओं) तथा व्याकरण के रूपों की दृष्टि से घनिष्ठ-तथा सम्बद्ध है। यह आकस्मिक नहीं हो सकता। यह सम्बन्ध इतना दृढ़ है कि कोई भी भाषा-शास्त्री उन तीनों का अध्ययन यह माने बिना नहीं करेगा

कि वे सब एक ही स्रोत से उत्पन्न हुई हैं, जो अब नहीं पाया जाता। ऐसे ही कारण के आधार पर यद्यपि यह कारण इतना दृढ़ नहीं है फिर भी यह कहा जा सकता है कि गाथिक और केल्टिक भी संस्कृत की समान-स्रोत हैं, तथा प्राचीन फारसी को भी इसी परिवार से जोड़ा जा सकता है।"[1]

विलियम जोन्स के इस कथन ने ही विद्वानों का ध्यान संस्कृत के यूरोपीय तथा फारसी आदि ईरानी परिवार की भाषाओं के सम्बन्ध की ओर आकृष्ट किया। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में श्लेगेन ने भारत-यूरोपीय-भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण को अग्रसर करने वाली एक पुस्तक लिखी जिसमें संस्कृत की साहित्यिक सम्पत्ति और उसके भाषा-वैभव की ओर संकेत किया गया था। तुलनात्मक भाषा-शास्त्र का प्रथम लेखक फ्रैन्च बॉप था, जिसने १८१६ ई० में संस्कृत-भाषा की पदरचना का ग्रीक, लैटिन, जर्मन तथा फारसी भाषाओं की पदरचना से तुलनात्मक अध्ययन किया। एक आदिम भारोपीय-भाषा के जो संकेत जोन्स के उक्त उद्धरण में आए थे, उनको पल्लवित करने का कार्य श्लेखर ने किया। उसने न केवल इस साध्यसम प्राचीन भारोपीय-भाषा की वर्णमाला की ही कल्पना की, अपितु उस कल्पित-भाषा में एक भेड़ और घोड़े की कहानी भी लिख डाली। भाषा-विज्ञान की प्रगति का रथ बढ़ता ही गया। मैक्समूलर, ह्विटनी, वाकरनागल, ज्यूल ब्लाख आदि का इस विषयक कार्य इस शास्त्र की प्रगति के चरण चिह्न हैं। भारतीय विद्वानों ने भी इस क्षेत्र में पर्याप्त कार्य किया है, जिनमें सुनीति-कुमार चटर्जी, बटकृष्ण घोष, धीरेन्द्र वर्मा, पी० डी० गुणे आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में भाषा-विज्ञान के प्रादुर्भाव और एक स्वतन्त्र प्रयोगात्मक विज्ञान के रूप में इसके विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। आर्यसमाज के कतिपय विद्वानों ने भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उसका पूर्णतया आकलन अभी नहीं हो पाया है। आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने प्रकटतः चाहे भाषा-विज्ञान पर कोई ग्रन्थ न लिखा हो और न उसके किसी नूतन सिद्धान्त का उद्भावन या विवेचन ही किया हो, परन्तु उनके ग्रन्थों के सूक्ष्म अध्ययन से यह पता चल जाता है कि वे भाषा-विज्ञान विषयक प्राचीन और पाश्चात्य मतों से पूर्णतया परिचित थे। युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार "प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में भाषा-विज्ञान के

---

१. संस्कृत का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन, डा० भोलाशंकर व्यास पृ० ३७ पर उद्धृत।

मूलभूत सिद्धान्त विभिन्न ग्रन्थों में उल्लिखित हैं, आवश्यकता है इन सबको संकलित करके वर्तमान भाषा-विज्ञान के सदृश उनको रूप देने की।"[1] जिन ग्रन्थों में भाषा-विज्ञान के सिद्धान्त निर्दिष्ट हैं उनमें शिक्षा-ग्रन्थ, व्याकरण-ग्रन्थ, निरुक्त-शास्त्र और उसकी टीकायें, मीमांसा दर्शन और उसके व्याख्या-ग्रन्थ, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों के कतिपय अंश, प्रातिशाख्य तथा उनकी टीकायें, भरत नाट्य-शास्त्र और उसके व्याख्या-ग्रन्थ तथा पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के व्याकरण-ग्रन्थ मुख्य हैं।

स्वामी दयानन्द का उपरि निर्दिष्ट संस्कृत वाङ्मय की कतिपय शाखाओं पर पूर्ण अधिकार था। वेद और तद्विषयक शिक्षा-ग्रन्थ, व्याकरण, निरुक्त, शाखा, ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक आदि का उनका अध्ययन तलस्पर्शी और व्यापक था। स्वामी दयानन्द ने पूना नगर में दिए अपने एक व्याख्यान में कुछ ऐसी बातें कहीं, जिन्हें भाषा-विज्ञान का आधारस्तम्भ कहा जा सकता हैं। इन्हीं बातों को सूत्ररूप में ग्रहण कर भाषा-विज्ञान के अध्ययन और अनुसंधान के विस्तीर्ण प्रदेश में प्रवेश किया जा सकता है। अपने वेद-विषयक पांचवें व्याख्यान में स्वामीजी ने कहा—**संस्कृत-भाषा सारी भाषाओं का मूल है। अंग्रेजी सदृश भाषायें उससे परम्परा से उत्पन्न हुई हैं। एक भाषा दूसरी भाषा का अपभ्रंश होकर उत्पन्न होती है। 'वयं' इस संस्कृत शब्द में 'यम्' को सम्प्रसारण होकर 'वी' (We) यह शब्द उत्पन्न हुआ। उसी तरह 'पितर' से 'पेतर' और 'फादर', 'यूयम्' से 'यू' (You) और आदिम से 'आदम' (Adam) इत्यादि। ऐसे-ऐसे अपभ्रंश कुछ नियमों के अनुकूल होते हैं और कुछ अपभ्रंश यथेष्टाचार से भी होते हैं।"[2]**

इसीसे मिलते-जुलते विचार स्वामीजी ने अपने प्रमुख ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश के प्रथम संस्करण में व्यक्त किए थे। वहां इन्होंने लिखा—**संस्कृत जब बिगड़ती है तब अपभ्रंश से देश भाषायें होती हैं जैसे कि 'घट' शब्द से घड़ा, 'घृत' शब्द से घी, 'दुग्ध' शब्द से दूध, 'नवनीत' शब्द से 'नैनू', 'अक्षि' शब्द से आंख, 'कर्ण' शब्द से कान, 'नासिका' शब्द से नाक, 'जिह्वा', शब्द से जीभ, 'मातर' शब्द से मादर, 'यूयं' शब्द से यू (You), 'वयं' शब्द से वी (We), 'गूढ़' शब्द से गौड (God), इत्यादिक ज्ञान लेना।"[3]**

---

१. भाषा-विज्ञान और दयानन्द—वेदवाणी का वेदाङ्क सं० २०१७ वि०।

२. उपदेश-मञ्जरी पृ० ५६ (आर्य प्रकाशन-मण्डल, दिल्ली २००७ वि०)। इस का सुन्दर शुद्ध संस्करण रा० ला० क० ट्रस्ट की ओर से छप रहा है।

३. सत्यार्थप्रकाश प्रथम सं० पृष्ठ २५०।

उपर्युक्त उद्धरणों का विवेचन करने से पता चलता है कि स्वामीजी संस्कृत को सारी भाषाओं का मूल मानते थे। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक इस तथ्य को इस रूप में स्वीकार न कर इतना ही मानते हैं कि भारत यूरोपीय परिवार की भाषाओं का मूल उद्गम एक प्राक्कालीन भाषा थी जो आज लुप्त हो गई है। संस्कृत, फारसी, लैटिन और ग्रीक आदि भाषायें इसी की पुत्रियां हैं। इस प्रकार वे संस्कृत-भाषा को इस परिवार की अन्य भाषाओं की जननी न मानकर बहिन मानते हैं। स्वामीजी की द्वितीय उपपत्ति सर्वथा सत्य है कि अंग्रेजी तथा अन्य भाषायें उस संस्कृत के परम्परा प्राप्त रूपी ही है। जो उदाहरण इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए स्वामीजी ने दिए हैं वे ही अधिकांश में परवर्ती-भाषा वैज्ञानिकों द्वारा भी दिए गए हैं। संस्कृत शब्द 'पितर', ग्रीक Pater तथा अंग्रेजी Father की सदृशता तथा एक मूलकता का उदाहरण सर्वप्रसिद्ध है। स्वामीजी का यह कथन भी नितान्त स्पष्ट है कि इस प्रकार के भाषा सम्बन्धी परिवर्तन कभी-कभी नियमों के अनुकूल और कभी-कभी प्रतिकूल भी होते हैं। भाषा-विषयक परिवर्तनों के कुछ नियम जर्मनी के जैकब ग्रिम भाषा-वैज्ञानिकों ने बनाए थे, परन्तु वे एकदेशी ही सिद्ध हुए। वर्नर और ग्रासमैन आदि उत्तरवर्ती भाषा-वैज्ञानिकों ने उन नियमों को सुधारा और उनके ये संशोधन तथा परिवर्धन यह सिद्ध करते हैं कि इन नियमों को सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता।

पाश्चात्य-सरणि पर भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में काम करने वाले आर्य-समाजी विद्वानों में प्रयाग विश्वविद्यालय के भूतपूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० धीरेन्द्र वर्मा, आर्य प्रतिनिधिसभा के भूतपूर्व प्रधान और प्रयाग विश्वविद्यालय के भूतपूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष डा० बाबूराम सक्सेना तथा वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० मंगलदेव शास्त्री प्रमुख हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा का मुख्य कार्य व्रजबोली तथा हिन्दी-भाषा के विकास और इतिहास से सम्बन्ध रखता है। डा० बाबूराम सक्सेना ने **'सामान्य भाषा-विज्ञान'** लिखकर भाषा-विज्ञान का परिचयात्मक निरूपण किया है। भाषा-विज्ञान जैसे नीरस और क्लिष्ट विषय का सरस विवेचन इस ग्रन्थ की विशेषता है। डा० मंगल-देव शास्त्री ने **तुलनात्मक भाषा-शास्त्र** अथवा भाषा-विज्ञान लिखकर इस शास्त्र को निश्चय ही समृद्ध किया है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान पर हिन्दी में लिखी गई यह प्रथम पुस्तक है जो अत्यन्त खोजपूर्ण शैली में लिखी गई है।

पाश्चात्य-प्रणाली का अनुकरण न करते हुए स्वतन्त्र चिन्तनपूर्वक संस्कृत-भाषा एवं साहित्य की पुरातन परम्पराओं को ध्यान में रखकर भारतीय

चिन्ताधारा का पोषण करते हुए सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी वैदिक-गवेषक पं० भगवद्दत्त ने **'भाषा का इतिहास'** नामक जो ग्रन्थ लिखा है उसे भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में निश्चय ही युगान्तरकारी परिवर्तन का सूचक समझना चाहिए। इस ग्रन्थ की रचना मुख्यतया भाषा-विज्ञान के भारतीय पक्ष को प्रतिपादित करने के लिए हुई है, इसलिए लेखक के विवेचन की मौलिकता, नवीन स्थापनायें तथा नूतन सिद्धान्तों की उद्भावनायें इस शास्त्र के अध्येता के लिए नई सामग्री प्रस्तुत करती है। सर्वप्रथम लेखक ने भाषा की उत्पत्ति की समस्या को लिया है। एतद् विषयक सभी मतों को उद्धृत करते हुए लेखक ने परम्परागत दैवी मत को सत्य सिद्ध किया है। लेखक के अनुसार यह विचार भ्रमपूर्ण है कि भाषा निरन्तर विकसित होती है। उसके मतानुसार संसार की आदिम-भाषा जिसे वे 'अतिभाषा' का नाम देते हैं, अत्यधिक विकसित तथा पूर्ण थी। इसके अनन्तर भाषा ह्रास और संकोच की ओर बढ़ती है, अतः भाषा का विकास होता है, इस स्थापना को वे स्वीकार नहीं करते। अपने द्वितीय व्याख्यान में उन्होंने भाषा के निरन्तर ह्रास के मत को ही पुष्ट किया है। प्राचीन संस्कृत जो पाणिनि से पूर्व अत्यन्त विस्तृत और व्यापक थी, पाणिनीय व्याकरण के प्रवचन के समय कितनी सीमित और ह्रसित हो गई है, इसे लेखक ने प्रमाण-पुरस्सर समझाया है। पाणिनि पूर्व की प्राचीन संस्कृत से प्रचलित संस्कृत में किस प्रकार धातुओं, धातुरूपों, नामरूपों, लिंगों तथा वाक्य-विन्यास में संकोच हुआ है, इसे भी लेखक ने स्पष्ट किया है। भाषा-गत परिवर्तन तथा सादृश्य के कारण परिवर्तन पर विचार करने के पश्चात् लेखक पद और स्वरूप पर विचार करता है, तत्पश्चात् शब्दार्थ-सम्बन्ध तथा अर्थ-परिवर्तन (Sementics) के विषय को भारतीय पद्धति के अनुसार प्रस्तुत करता है। वर्ण-विमर्श के अन्तर्गत लिपि और उच्चारण प्रक्रिया का विवेचन करते हुए लेखक उच्चारण-विद्या में यूरोप को भारत का ऋणी सिद्ध करता है। उच्चारण-विकारों अथवा ध्वनि-विपर्यासों का अध्ययन करते हुए लेखक ने शतशः उदाहरण देते हुए ग्रिम नियम को त्रुटिपूर्ण सिद्ध किया है। दसवें व्याख्यान में लेखक अतिभाषा वा आदिभाषा की नूतन स्थापना को प्रस्तुत करता है। लेखक के अनुसार वेद के शब्दों पर आधारित अथवा वेदपदबहुला जो लोक-भाषा ब्रह्मा और सप्तर्षियों द्वारा आदि मानव में व्यवहृत हुई वही मानव की एकमात्र आदि-भाषा थी। इसे प्राचीन आचार्यों ने अतिभाषा भी कहा है। इस शब्द के प्रयोग में लेखक ने भरत के नाट्य-शास्त्र (अध्याय १७। श्लोक २७, २८) का प्रमाण दिया है।

लेखक के मतानुसार वेद पर आधारित इस अतिभाषा में वे सभी प्रयोग व्यवहृत होते थे जिन्हें पाणिनि आदि वैयाकरणों ने केवल छान्दस प्रयोग माना है। उनके अनुसार इस अतिभाषा के नाम, लिंग, वचन, नामरूप, धातुरूप, धातु उपसर्ग सम्बन्ध, प्रत्यय, समासरूप, सन्धिरूप, वाक्य विन्यास, उदात्तादि स्वर, अर्थ और पर्याय, इन चौदह विभिन्न वर्गों में से अनेक आधुनिक संस्कृत में लुप्त हो गए हैं। अतिभाषा वा आदिभाषा की स्थापना के साथ-साथ लेखक उस प्राक्भारोपीय भाषा की कल्पना का भी खण्डन करता है जिसकी सत्ता और अस्तित्व की घोषणा पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिकों ने पदे-पदे की है, तथा किसी मनचले विद्वान् ने उसकी वर्णमाला को स्थिर करने का ही प्रयास नहीं किया, अपितु वह उसमें एक कल्पित कहानी भी लिख चुका था। लेखक को पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये गए भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण पर भी आपत्ति है। उसके अनुसार सैमेटिक भाषायें आर्य भाषाओं से भिन्न परिवार की नहीं मानी जा सकतीं।

ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में लेखक ने वेदवाक्, हित्ती भाषा, ग्रीक भाषा, प्राकृत, दाक्षिणात्य वर्गीय भाषाओं, अपभ्रंश तथा हिन्दी और पंजाबी का पृथक्-पृथक् विवेचन करते हुए उनके संस्कृत-भाषा के साथ सम्बन्धों का विवेचन किया है। लेखक ने अपने मत को न केवल दृढ़ता के साथ युक्ति और प्रमाणपूर्वक पुष्ट ही किया है, अपितु यूरोपीय लेखकों के शतशः उद्धरणों द्वारा भी अपने मत की सिद्धि की है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में पं० भगवद्दत्त की देन को नितान्त मौलिक एवं क्रान्तिकारी कहा जा सकता है। अपने वैदिक वाङ्मय के इतिहास का प्रथम भाग के द्वितीय परिवर्धित और संशोधित संस्करण में भी पं० भगवद्दत्त ने भाषा-शास्त्र विषयक एक नवीन अध्याय जोड़कर उस ग्रन्थ को अधिक उपयोगी बना दिया है।

पं० रघुनन्दन शर्मा का **'अक्षर-विज्ञान'** ग्रन्थ भी भाषा और लिपि विषयक मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। डा० सुधीरकुमार गुप्त स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेद-भाष्य में प्रयुक्त निर्वचनों और अर्थों तथा वैदिक भाषा के नैरुक्त अध्ययन की उत्पत्ति और विकास पर शोधकार्य कर रहे हैं। निश्चय ही इस कार्य के समाप्त होने पर वैदिक भाषा-विज्ञान विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्थिर हो सकेंगे।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि यद्यपि आर्यसमाजी विद्वानों के भाषा-शास्त्र विषयक मौलिक सिद्धान्त संसार के ख्यातिप्राप्त शास्त्रियों द्वारा प्रमाणित और सम्मानित नहीं हुए हैं तथापि यह निश्चित है कि इन सिद्धान्तों

में सत्यता है और वे ठोस प्रमाणों के आधार पर प्रस्तुत किये गए हैं। इन ग्रन्थों को जो कोई पढ़ेगा, वह इन सिद्धान्तों की सत्यता के सम्मुख नतमस्तक हुए बिना नहीं रहेगा। यह अवश्य है कि आर्यसमाजी लेखकों का भाषा-विषयक समग्र विवेचन हिन्दी के माध्यम से हुआ है अतः पश्चिम के अधिकांश विद्वानों का ध्यान उस ओर नहीं जा पाया है। पं० भगवद्दत्त ने तो इस विषय में दृढ़तापूर्वक यहूदी ईसाई मतावलम्बी पाश्चात्य विद्वानों के पक्षपात तथा पूर्वाग्रह युक्त मतों की कटु समालोचना की है तथा बटकृष्ण घोष, पी० डी० गुणे आदि भारतीय भाषा-शास्त्रियों को भी अपने यूरोपीय गुरुओं का उच्छिष्ट-भोजी सिद्ध किया है। आवश्यकता इस बात की है कि पं० भगवद्दत्त द्वारा प्रस्तुत स्थापनाओं पर निरपेक्ष भाव से मनन और विचार किया जाय तथा निष्पक्ष दृष्टि से उन पर निर्णय लिया जाय।
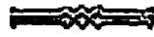
अध्याय ७

[संस्कृत शोध कार्य में आर्यसमाज का योगदान]

संस्कृत-भाषा और उसके साहित्य से सम्वद्ध शोधकार्य का इतिहास बहुत पुराना है। यों कहा जा सकता है कि जब से यूरोपीय विद्वानों को संस्कृत-भाषा तथा साहित्य की महत्ता और गरिमा का पता चला तभी से संस्कृत के प्राचीन अलभ्य ग्रन्थों की खोज, उनके सम्पादन तथा प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ हो गया। इंगलैण्ड, जर्मनी, फ्रान्स आदि पश्चिमी देशों के पुस्तकालयों में संस्कृत की अनेक दुर्लभ पाण्डुलिपियों का संग्रह किया गया तथा बीसियों विद्वान् ग्रन्थ सम्पादन, शोध, व्याख्या तथा प्रकाशन के गुरुतर कार्य में लग गए। विल्सन, मैक्समूलर, राथ, वेबर, मैकडानल, कीथ आदि प्राच्य-विद्या विशारदों के नाम इस प्रसंग में लिए जा सकते हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों में संस्कृत-भाषा के अध्ययन, अध्यापन, शोध और अन्वेषण का कार्य भी प्रारम्भ हुआ है। वैज्ञानिक और ऐतिहासिक ढंग से अनुसंधान की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलने लगा। पूना का भाण्डारकर शोध संस्थान तथा वैदिक प्रकाशन संस्थान भी इस कार्य में आगे आए। निर्णयसागर यन्त्रालय, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली तथा क्षेमराज श्रीकृष्णदास के प्रकाशन संस्थानों ने संस्कृत वाङ्मय के मुद्रण और प्रकाशन का दायित्व वहन किया। राजकीय संस्कृत कालेज बनारस, तथा बड़ौदा, मैसूर, पूना, मद्रास, जयपुर आदि संस्कृत विद्या के केन्द्र स्थानों में सरकारी सहायता तथा अन्य सूत्रों से संस्कृत के अमुद्रित ग्रन्थों के मुद्रण और प्रकाशन कार्य को प्रोत्साहन मिला। शोध और अन्वेषण के भारतव्यापी तथा अन्य देशस्थ संस्थानों से अनुसंधान क्षेत्र में जो उपलब्धियां प्राप्त हुई हैं, उनका सम्यक विचार होना अभी शेष है।

संस्कृत के प्रति रागात्मक सम्बन्ध होने के कारण आर्यसमाजी विद्वानों का भी शोध और अन्वेषण के क्षेत्र में उतरना स्वाभाविक ही था। आर्यसमाजी विद्वानों ने व्यक्तिरूप से भी शोधकार्य को प्रगति दी है तथा समष्टिरूप से भी ऐसे संस्थान आर्यसमाज के तत्त्वावधान में स्थापित किये गए हैं जहां संस्कृत के शास्त्रीय-ग्रन्थों पर शोध का कार्य कई दशाब्दियों से चल रहा

है। शोधकार्य का यह मूल्यांकन हम व्यक्ति और संस्था इस द्विविध वर्गीकरण के आधार पर करेंगे। जिन विद्वानों ने संस्कृत शोधकार्य की प्रगति के लिए अपना योगदान दिया है उनमें पं० भगवद्दत्त, पं० विश्वबन्धु शास्त्री, डा० मंगलदेव शास्त्री, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, स्वामी ब्रह्ममुनि आदि प्रमुख हैं। हम इनके कृतित्व पर विचार करेंगे।

पं भगवद्दत्त—संस्कृत शोध के क्षेत्र में कार्य करने वाले आर्यसमाजी विद्वानों में पं० भगवद्दत्त का नाम अग्रगण्य है। यदि यह भी कह दिया जाय कि आर्यसमाज में शोध कार्य का आरम्भ ही उन्होंने किया तो कुछ भी अत्युक्ति नहीं होगी। डी० ए० वी० कालेज लाहौर से १९१५ में बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करने के अनन्तर पं० भगवद्दत्त ने उक्त कालेज के नवस्थापित अनुसंधान विभाग का अध्यक्ष पद संभाला। १९३४ तक निरन्तर वे इस पद पर कार्य करते रहे। इस बीच उन्होंने डी० ए० वी० कालेज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय के लिए ७००० हस्तलिखित ग्रन्थ एकत्र किये। इनमें सैकड़ों ऐसे थे जो अन्यत्र अनुपलब्ध थे।

पं० भगवद्दत्त का महत्त्वपूर्ण शोध कार्य उनके द्वारा लिखित वैदिक वाङ्मय का इतिहास है जो तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ है। इसके शेष पांच खण्ड अभी अपूर्ण ही हैं। प्रकाशित तीन खण्डों में वेद की शाखाओं, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा वेद भाष्यकारों का इतिहास संकलित किया गया है। इस इतिहास के द्वारा वैदिक वाङ्मय के अद्यतन अनुपलब्ध शतशः ग्रन्थों को प्रकाश में लाने की चेष्टा की गई है। इसके महत्त्व का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि इस इतिहास के प्रकाशित होने के पश्चात् जो शोधविषयक कार्य इस क्षेत्र में हुआ, उस कार्य को करने वालों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में पं० भगवद्दत्त के अनुसन्धानात्मक तथ्यों से लाभ उठाया है। उदाहरण के लिए चतुरसेन शास्त्री लिखित वेद और उनका साहित्य (१९३७ ई०), बलदेव उपाध्याय रचित आचार्य सायण और माधव (१९४६) ई० तथा वैदिक साहित्य और संस्कृति (१९५५ ई०), डा० बटकृष्ण घोष द्वारा म्यूनिख विश्वविद्यालय को पी० एच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया ग्रन्थ Collection of the Fragments of Lost Brahmans (जिसका अंग्रेजी रूपान्तर १९४७ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ), रामगोविन्द त्रिवेदी लिखित वैदिक साहित्य (भारतीय ज्ञानपीठ काशी से २००७ वि० में प्रकाशित) विष्णुपद भट्टाचार्य का Indian Historical Quarterly जून १९५० में प्रकाशित निरुक्त वार्तिकः A Lost Tretise शीर्षक लेख, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

रचित India as known to Panini के चरण और शाखा विषयक प्रकरण, (पृ० ३२५) में मानवगृह्य परिशिष्ट का उद्धृत अभिप्राय, रजनीकान्त शास्त्री लिखित वैदिक साहित्य परिशीलन (किताबमहल, प्रयाग से १९५३ में प्रकाशित) तथा देवदत्त शास्त्री लिखित भारतीय वाङ्मय की भूमिका (१९५४ ई०) आदि ग्रन्थों में पं० भगवद्दत्त के वैदिक वाङ्मय विषयक शोध-तथ्यों का लाभ उठाया गया है। यहां यह लिख देना अप्रासंगिक न होगा कि उपर्युक्त ग्रन्थकारों ने प्रासंगिक संदर्भों में पं० भगवद्दत्त की शोधों का प्रत्यक्ष या परोक्ष उल्लेख कर उनसे सहायता लेने का संकेत भी नहीं किया है।[1]

इसके विपरीत सर्व श्री टी० आर० चिन्तामणि, एम० के० शर्मा, हरिहर नरसिंहाचार्य तथा पेरिस के अध्यापक लुई रेनो ने अपने ग्रन्थों में पं० भगवद्दत्त के महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान कार्य से ऋणी होना स्पष्टतः स्वीकार किया है। यथा लुई रेनो ने जर्नल आफ ओरियन्टल रिसर्च मद्रास भाग १८ (१९५० ई०) के अपने लेख में वैदिक शाखाओं का उल्लेख करते हुए स्पष्ट लिखा है।

After Bhagvaddatta who has written in Hindi a primary history of the Vedic Schools I have myself undertaken the task in a book recently published."

इसी प्रकार उन्होंने अपने शाखा विषयक ग्रन्थ (प्रकाशन काल १९४७) के आरम्भ में पं० भगवद्दत्त द्वारा लिखे गये वैदिक शाखाओं विषयक ग्रन्थ (वैदिक वाङ्मय का इतिहास, प्रथम भाग) के प्रति आभार व्यक्त किया है। डा० दाण्डेकर द्वारा रचित Progress of India Studies (१९१७-१९४२) नामक ग्रन्थ में, जो पूना से १९४२ में छपा, पं० भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित और प्रकाशित बैजवाप गृह्य संकलन माडूकी शिक्षा तथा अथर्ववेदीय पञ्चपटलिका का उल्लेख किया गया है। वैदिक वाङ्मय का इतिहास चतुर्थ-भाग, जो कल्पसूत्रों से सम्बद्ध है, संकलित किया जा चुका है किन्तु अभी तक अप्रकाशित है।

इसके अतिरिक्त पं० भगवद्दत्त रचित जो मौलिक शोध निबन्ध अब तक प्रकाशित हो चुके हैं उनमें ऋग्वेद पर व्याख्यान बार्हस्पत्य सूत्र की भूमिका वैदिक कोश की भूमिका, बैजवाप गृह्यसूत्र संकलन, शाकपूणि का निरुक्त और निघण्टु, डेट आफ विश्वरूप, आर्य वाङ्मय, अश्वशास्त्र आदि प्रमुख हैं। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य भी पं० भगवद्दत्त द्वारा हुआ। यह

१. द्रष्टव्य-वैदिकवाङ्मय प्रथम भाग, द्वितीय सं० की भूमिका।

कार्य उन्होंने डी० ए० वी० कालेज लाहौर के शोध विभाग के अध्ययक्ष के नाते किया। वाल्मीकीय रामायण के पश्चिमोत्तर पाठ के बालकाण्ड और के कुछ भाग, माण्डूकी शिक्षा, अथर्ववेदीय पञ्चपटलिका, आथर्वण ज्योतिष् तथा उद्गीथाचार्य कृत ऋग्वेद दशम मण्डल भाष्य का कुछ भाग उनके सम्पादित ग्रन्थ हैं। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी पं० भगवद्दत्त ने कुछ मौलिक और क्रान्तिकारिणी उपपत्तियां स्थापित की हैं जिन्हें वैदिक वाङ्मय का इतिहास (प्रथमभाग-द्वितीय संस्करण) के प्रथम तीन अध्यायों[1] तथा 'भाषा का इतिहास[2]' में निवद्ध किया गया है।

पं० भगवद्दत्त की शोध-दृष्टि-परम्परागत भारतीय मत की पोषक है। उनकी यह निश्चित धारण है कि पाश्चात्य यहूदी और ईसाई विद्वानों ने भारतीय संस्कृत वाङ्मय का जो अध्ययन और अन्वेषण किया है वह पूर्वाग्रह मुक्त और निर्दोष नहीं है। उन्होंने सोपपत्तिक रूप से सिद्ध कर दिया है कि यूरोपिय प्राच्यविद्या विशारद तथाकथित भाषा-विज्ञान, विकास-वाद, देव-गाथा-वाद तथा ईसाई मत की श्रेष्ठता की पूर्वनिर्धारित धाराओं से इतने बंधे हुए हैं कि उनका वैदिक वाङ्मय का अध्ययन किसी भी प्रकार से पक्ष-रहित नहीं कहा जा सकता। पं० भगवद्दत्त ने अपने इस मन्तव्य को Westren Indologists : A study in notives लिख कर स्पष्ट किया है तथा अपने निरुक्त भाष्य, भाषा का इतिहास, वेदविद्या निदर्शन आदि ग्रन्थों में भी पदे-पदे सिद्ध किया है।[3]

पं० भगवद्दत्त ने अपने सहयोगी महाशय मामराज के साहाय्य से स्वामी दयानन्द सरस्वती के लगभग ८०० पत्रों विज्ञापनों को स्थान-स्थान से ढूंढ कर संगृहीत किया। आर्यसमाज के इतिहास एवं स्वामी दयानन्द के चरित लेखन की दृष्टि से यह खोजपूर्ण संग्रह अत्यन्त महत्त्व का है।

पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु---आर्य समाजिक दृष्टि से पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु का अनुसन्धान कार्य स्वल्प होते हुए भी अति महत्त्वपूर्ण है। उनके द्वारा

---

१. वेदवाक् और संस्कृतवाक्, योरोपीय भाषामत परीक्षा, संसार की आदि भाषा-संस्कृत

२. प्रकाशक—गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली

३. हमें अत्यन्त खेद है कि श्री रामलालकपूर ट्रस्ट के प्रधान श्री पं० भगवद्दत्त, जिनकी स्वीकृति से ग्रन्थकार का यह ग्रन्थ ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित हो रहा है, ग्रन्थ के मुद्रणारम्भ अनन्तर २६ नवम्बर १९६८ को दिवङ्गत हो गए, वे इस ग्रन्थ को मुद्रित रूप में न देख सके।

लिखा गया स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य पर विवरण ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें विवरणकार ने स्वामी दयानन्द के भाष्य के संस्कृत भाग पर संस्कृत में और हिन्दी भाग पर हिन्दी में अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण विवरण लिखा है, जिसमें स्वामी दयानन्द के व्याख्यान की पुष्टि और आक्षेपों का समाधान किया है। मन्त्र के प्रत्येक पद की सस्वर व्याकरण प्रक्रिया लिखी है। इसका दस अध्यात्मक प्रथम भाग दो बार छप चुका है। आगे १८ वें अध्याय तक वे विवरण लिख चुके थे जो अभी तक छप नहीं सका। वेद और निरुक्त, निरुक्तकार और वेद में इतिहास, देवापि और शन्तनु की वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप लेख भी महत्त्वपूर्ण हैं।

इसी प्रकार का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है अष्टाध्यायी भाष्य का लेखन। लेखक ने अपने ४४ वर्ष के अध्यापन कार्य के अनुभव के आधार पर स्वामी दयानन्द प्रदर्शित आर्ष पाठविधि के अनुसार प्रथमावृत्ति रूप यह भाष्य लिखा है। जिज्ञासु महोदय ५ अध्याय तक ही यह कार्य कर पाये, उसके पश्चात् शेष भाग की पूर्ति उनकी अन्तेवासिनी प्रज्ञादेवी व्याकरणाचार्य ने की। भर्तृहरि कृत महाभाष्य दीपिका जिसका एक मात्र मूल हस्लेतख जर्मनी में है, की फोटो कापी से सर्वप्रथम (सन् १९३४) सम्पादन किया। इसके केवल चार फार्म ही काशी की सुप्रभातम् पत्रिका में छपे।

डा० मङ्गलदेव शास्त्री—स्वामी दयानन्द की स्थानापन्न परोपकारिणी सभा के सदस्य डा० मङ्गलदेव शास्त्री वाराणसी के गवर्नमेंट संस्कृत कालेज के प्रिन्सिपल तथा वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के उकुलपति रहे हैं। वे केन्द्रीय सरकार द्वारा गठित संस्कृत आयोग के सदस्य भी हैं। शास्त्रीजी ने वैदिक और संस्कृत साहित्य के शोध कार्य को उल्लेखनीय प्रगति दी है, जिसका विविरण निम्नलिखित है—

वैदिक शोध—डा० शास्त्री ने ऋग्वेद प्रातिशाख्य का तीन भागों में सम्पादन किया। प्रथम भागों में आलोचनात्मक भूमिका के साथ मूल पाठ दिया गया है। द्वितीय भाग में उव्वट का भाष्य (१००० ई० के लगभग लिखा गया) दिया गया है। तृतीय भाग में ऋग्वेद प्रातिशाख्य का अंग्रेजी अनुवाद, आलोचनात्मक टिप्पणियां तथा अनेक परिशिष्टों सहित दिया गया है। इसकी भूमिका प्रो० ए० बी० कीथ ने लिखी है। शास्त्रीजी ने सामवेद से सम्बद्ध उपनिदान-सूत्र का आलोचनात्मक संस्करण प्रकाशित किया तथा आश्वलायन श्रौत सूत्र का सम्पादन कर उसे सिद्धान्तिभाष्य नाम्नी टीका सहित प्रकाशित कराया। इनके अतिरिक्त उनके द्वारा लिखित ऐतरेय ब्राह्मण पर्यालोचन

(प्रबन्धप्रकाश भाग २ में प्रकाशित) ऐतरेयारण्यक पर्यालोचन, कौषीतकि ब्राह्मण पर्यालोचन (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की संस्कृत मुखपत्रिका 'सरस्वती सुषमा' में प्रकाशित) तथा शतपथ ब्राह्मण पर्यालोचन आदि शोधपूर्ण आलोचनात्मक निबन्ध भी महत्त्वपूर्ण हैं।

दर्शन के क्षेत्र में शास्त्रीजी ने वेदान्त के उपेन्द्र-विज्ञान सूत्र तथा न्याय-सिद्धान्त माला (२ भाग) का आलोचनात्मक सम्पादन किया। गवर्नमेंट संस्कृत कालेज वाराणसी के प्रिन्सिपल के नाते शास्त्रीजी के मुख्य सम्पादकत्व में सरस्वती भवन संस्कृत सिरीज के अन्तर्गत लगभग ४० प्रमुख प्राचीन ग्रन्थ छपकर प्रकाशित हुए। भाषा-विज्ञान पर शास्त्रीजी का मौलिक ग्रन्थ तुलनात्मक भाषा-शास्त्र अथवा भाषा-विज्ञान छपा है। प्रो० ए०बी० कीथ लिखित संस्कृत साहित्य के इतिहास का हिन्दी अनुवाद भी शास्त्रीजी ने किया है। भारत के संविधान के उत्तरार्द्ध का उन्होंने संस्कृत में अनुवाद भी किया है।

डा० सूर्यकान्त—विख्यात संस्कृत विद्वान् तथा प्राध्यापक डा० सूर्यकान्त गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के स्नातक हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ के संस्कृत विभागाध्यक्ष के पद पर कार्य करने के उपरान्त सम्प्रति वे कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में संस्कृत, पालि तथा प्राकृत विभाग के अध्यक्ष पद पर आसीन हैं। डा० सूर्यकान्त का संस्कृत साहित्य और वैदिक अनुसंधान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने सामवेद के प्रातिशाख्य—ऋक्तन्त्र पर शोधकार्य कर पंजाब विश्वविद्यालय से डाक्टर आफ लिटरेचर की उपाधि ग्रहण की। अथर्व प्रातिशाख्य पर अनुसन्धान करने के उपरान्त उन्हें आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से डाक्टर आफ फिलासफी की उपाधि प्राप्त हुई। उनके अन्य महत्त्वपूर्ण वैदिक शोध-कार्यों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—(१) सामवेद सर्वानुक्रमणी का सम्पादन, (२) काठक ब्राह्मण संकलन—कृष्ण यजुर्वेद के काश्मीरी कठ-शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ को संकलित करने का प्रयास, (३) काठक श्रौत सूत्र-संकलन—कठशाखा के श्रौत सूत्र का संकलन, (४) लघु ऋक्तन्त्र-संग्रह, (५) साम सप्तलक्षण, (६) कौथुम गृह्य सूत्र का सम्पादन, (७) कौषीतकी गृह्य सूत्र-संग्रह।

डा० सूर्यकान्त ने वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य की अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर शोध निबन्ध भी लिखे हैं जो विभिन्न ग्रन्थों और उल्लेखनीय शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

1. The Flood Legend in Sanskrit. (संस्कृत साहित्य में प्रलयोपाख्यान).

2. Prati Shakhya A and B in the light of Sama Parishishta यह निबन्ध Woolner Volume में छपा।

3. Abhinisthana or Abhinistana ? Kane Volume में प्रकाशित।

4. Ambstha, Ambastha and Ambhastha. B. C. Law Volume में प्रकाशित।

5. The Kathas as a Charana of the Yajurveda. भारत-कौमुदी में प्रकाशित।

6. Random reading in the Vedas. Varma Volume में प्रकाशित।

7. Kalidasa's Vision of Kumar Sambhava.

8. The Kernel of the Padma Purana. (महाराजा डूंगरपुर अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित)

9. तान्त्रिक दीक्षा।

10. Criticism in Sanskrit. (संस्कृत में आलोचना)

11. Vaishnavismgts. Its Essence and Mystic Vision. बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की 'भारती' पत्रिका में प्रकाशित।

12. Unique Significence of Kalidasa's Kumar Sambhava.

13. Indo European and Semetic. (भाषा-विज्ञान सम्बन्धी निबन्ध)

14. क्षेमेन्द्र—A Critical Study.

15. कीकट और पणि—वेलवेलकर ग्रन्थ में प्रकाशित।

16. Saras Soma and Sura.

17. The Divine Right of Kalidasa.

18. Veda, the Voice of clarity.

19. Veda, the Voice of Aristocracy.

20. Veda, the Voice of Wisdom.

21. Once more to the Kernel of the Rigveda. A. B. O. R. I. पूना।

22. Is Sayana of the Rigveda identical with the Commentator on the Atharva Veda ?

डा० सूर्यकान्त ने हाल रचित गाथा सप्तशती का अंग्रेजी अनुवाद किया। उन्होंने नृसिंह चम्पू की संस्कृत टीका भी लिखी। इसके अतिरिक्त भास के प्रतिमा तथा पांचरात्र नाटकों का उन्होंने हिन्दी में अनुवाद किया। उनके द्वारा वैदिक कोष निर्माण तथा पाश्चात्य भारततत्त्व-विदों (Indo-logists) की महत्त्वपूर्ण कृतियों का हिन्दी अनुवाद करने का प्रयत्न भी सर्वथा सराहनीय है।

A Grammatical Dictionary of Vedic तथा वैदिक कोष उनके कोष निर्माण विषयक स्थायी कार्य हैं। प्रो० आर्थर एन्थीन मैकडानल लिखित The Vedic Mythology शीर्षक प्रसिद्ध ग्रन्थ का अनुवाद उन्होंने वैदिक देव शास्त्र के नाम से किया जो १९६१ ई० में प्रकाशित हुआ। प्रो० ए० बी० कीथ के ग्रन्थ Vedic Religion and Philosopy का सम्पूर्ण अनुवाद उन्होंने वैदिक-धर्म एवं दर्शन के नाम से किया है जो दो भागों में प्रकाशित हुआ है। अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण (मारिस ब्लूमफील्ड के अंग्रेजी ग्रन्थ) का हिन्दी अनुवाद भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। मैसूर सरकार के निमन्त्रण पर १९६४ ई० में बैङ्गलौर में दिया गया उनका दीक्षान्त भाषण भी संस्कृत-शोध कार्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

देश विभाजन से पूर्व डा० सूर्यकान्त का कार्यक्षेत्र लाहौर था। वहां रह-कर उन्होंने जो कार्य किया, वह १४ अगस्त १९४६ को मुस्लिम लीग की सीधी कार्यवाही (Direct Action) के फलस्वरूप हुए साम्प्रदायिक दंगों के कारण प्रेस के जल जाने पर नष्ट हो गया। इन विनष्ट हुई सामग्री में निम्न कतिपय महत्त्वपूर्ण रचनायें थीं, जो प्रकाशित होने से रह गईं—(१) पतञ्जलि कृत महाभाष्य के प्रथम ९ आह्निकों का हिन्दी अनुवाद, (२) सामवेद का पाठ, (३) मैत्रायणी संहिता का पद-पाठ, (४) विष्णुपुराण के उपाख्यान, (५) महा-भारत के उपाख्यान, (६) शतपथ ब्राह्मण के उपाख्यान, (७) शुक्ल यजुर्वेद पर उव्वट भाष्य का हिन्दी अनुवाद, (८) द्राह्यायण श्रौत सूत्र-भाष्य सहित।

पं० युधिष्ठिर मीमांसक—भारत के राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित आर्य-समाज के सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के अन्तेवासी पं० युधि-

ष्ठिर मीमांसक का संस्कृत शोध-कार्य में अभूतपूर्व योगदान रहा है। मीमांसकजी ने शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त आदि वेदाङ्गों के क्षेत्र में विशिष्ट कार्य किया। इन विषयों के अनेक अनुपलब्ध ग्रन्थों का उद्धार कर उनका सम्पादन एवं प्रकाशन किया। ऐसे ग्रन्थों में आचार्य आपिशलि, पाणिनि तथा चन्द्रगोमी के शिक्षा-सूत्रों का संकलन उल्लेखनीय है। सम्प्रति शिक्षा-शास्त्र का इतिहास निर्माणाधीन है। संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में दैवम् पुरुषकार वार्तिकोपेतम् नामक धातुपाठ विषयक ग्रन्थ, काशकृत्स्न व्याकरण और उसके उपलब्ध-सूत्र, वामनीय लिंगानुशासन, क्षीरतरङ्गिणी (पाणिनीय धातुपाठ के औदीच्य पाठ पर लिखी गई आचार्य क्षीरस्वामी की व्याख्या), दशपादी उणादि-वृत्ति, भागवृत्ति-संकलनम् (अष्टाध्यायी की प्राचीनवृत्ति), काशकृत्स्नधातु-व्याख्यानम् आदि प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन और प्रकाशन भी उनके शोधकार्य के ही अन्तर्गत आयगा। संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का दो खण्डों में इतिहास लिखकर उन्होंने व्याकरण-शास्त्र के पुरस्कर्ता आचार्यों का ऐतिहासिक विवेचन किया है।

वैदिक छन्दों और स्वरों पर लिखे गए उनके ग्रन्थ वैदिक छन्दो मीमांसा तथा वैदिक स्वर-मीमांसा अपने क्षेत्र के अद्वितीय ग्रन्थ हैं। वररुचि कृत अद्यतन अनुपलब्ध निरुक्त-समुच्चय का सम्पादन भी मीमांसकजी के शोधकार्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वामी दयानन्द के ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका तथा ऋग्वेद भाषा-भाष्य का शोधन और परिमार्जन किया, यजुर्वेद (दयानन्द-भाष्य) के कतिपय अंशों का सम्पादन किया तथा सामवेद के प्रारम्भिक अंश का संस्कृत में भाष्य लिखा। यह भाष्य टंकारा-पत्रिका (जुलाई—अगस्त १९६१) में प्रकाशित हुआ है। भाष्यारम्भ में आमुख लिखकर विद्वान् भाष्यकार ने भाष्य-लेखन विषयक अपनी दृष्टि को स्पष्ट किया है। भाष्य का क्रम इस प्रकार है—प्रथम मूलमन्त्र, पुनः मन्त्र का पदपाठ, तत्पश्चात् पदार्थ, पुनः अन्वय, उसके पश्चात् मन्त्र का अधियज्ञ, अधिदैवत और अध्यात्मपरक अर्थ, अन्त में भावार्थ दिया गया है। हिन्दी में भी मन्त्र के विभिन्न अर्थ प्रदर्शित करने के पश्चात् उसका भावार्थ लिख दिया गया है। मीमांसकजी ने स्वामी दयानन्द की एक प्रारम्भिक संस्कृत रचना भागवतखण्डन का भी उद्धार किया।

शोध विषयों पर लिखे गए उनके कतिपय निबन्ध भी उल्लेखनीय हैं जिन में ऋग्वेद की ऋक्संख्या[1], 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' मन्त्र पर विचार, ऋग्वेद की कतिपय दानस्तुतियों पर विवेचन, 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यत्र कश्चिद्

---

१. सरस्वती (प्रयाग) में जुलाई, अगस्त, सितम्बर १९४९ में प्रकाशित।

अभिनवो विचारः[1] तथा आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय[2] मूल पाणिनीय शिक्षा[3] आदि मुख्य हैं। राजस्थान संस्कृत साहित्य सम्मेलन के द्वादश अधिवेशन के अन्तर्गत वेद परिषद के अध्यक्ष पद से दिया गया उनका भाषण[4] वैदिक अनुसंधान के नये आयाम उपस्थित करता है। इसी प्रकार आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान के हीरक जयन्ती महोत्सव पर आयोजित वेद सम्मेलन में पठित वेद-विषयक उनका निबन्ध[5] भी उल्लेखनीय है। अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन के दिल्ली अधिवेशन (अक्टूबर १९६६) के अवसर पर आयोजित व्याकरण परिषद् में उन्होंने 'असाधुत्वेनाभिमतानां संस्कृत-वाङ्मये प्रयुक्तानां शब्दानां साधुत्वासाधुत्वविवेचनम्' शीर्षक निबन्ध[6] पढ़ा।

मीमांसकजी का संस्कृत और वैदिक शोधकार्य कितना महत्त्वपूर्ण है, यह इसी बात से जाना जा सकता है कि राजस्थान राज्य द्वारा उन्हें उनके शोधकार्य पर ३००० रु० का पुरस्कार दिया गया तथा माध्यन्दिन पदपाद के सम्पादन कार्य के लिए तीन वर्ष तक डेढ़ सौ रुपया मासिक सहायता दी गई। उनके अन्य अनेक ग्रन्थ उत्तरप्रदेश की राज्य सरकार द्वारा पुरस्कृत हो चुके हैं।

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक—संन्यासपूर्व आश्रम में प्रियरत्न आर्ष के नाम से प्रसिद्ध स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक, विद्यामार्तण्ड का साहित्य भी वैदिक शोध के क्षेत्र में आर्यसमाज की एक अपूर्व उपलब्धि है। परिव्राजकजी ने वेद विषयक बीसियों ग्रन्थ लिखे तथा अथर्ववेदीय मन्त्र-विद्या और अथर्व-वेदीय चिकित्सा-शास्त्र लिख कर उन्होंने अथर्ववेद में निहित रहस्यों का उद्घाटन किया। वेदों में प्रयुक्त 'यम' और 'पितृ' शब्दों का अन्वेषणात्मक विश्लेषण करते हुए उन्होंने 'यमपितृ-परिचय' ग्रन्थ लिखा। वेद से सम्बद्ध कतिपय गुत्थियों को सुलझाने के लिए उन्होंने जो खोजपूर्ण निबन्ध लिखे हैं वे वस्तुतः प्रशंसनीय हैं। ऐसे निबन्धों में 'ऋग्वेद में देवृकामा या देवकामा का

---

१. अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् के २००८ वि० के लखनऊ अधिवेशन में पठित।

२. सरस्वती (प्रयाग) के नवम्बर १९४० के अंक में प्रकाशित।

३. साहित्य, पटना, सन् १९५९ अंक १ में मुद्रित।

४. इस भाषण का हिन्दी अनुवाद टंकारा पत्रिका, जुलाई, अगस्त-सितम्बर, ६५ में छपा।

५. परोपकारी—मार्गशीर्ष २०२३ वि० में प्रकाशित।

६. गुरुकुल पत्रिका २०२४ वि० में प्रकाशित।

विवेचन', वेद में असित शब्द, यजुर्वेद के 'सविता प्रथमेऽहनि'[1] मन्त्र पर विचार आदि उल्लेख योग्य हैं। परिव्राजकजी ने उपनिषदों पर भाष्य लिखे तथा सांख्य, वैशेषिक और वेदान्त दर्शन पर खोजपूर्ण संस्कृत टीकायें लिखीं। निरुक्त पर उनका 'निरुक्त-सम्मर्श' शीर्षक वृहद् संस्कृत-भाष्य अपने विषय का अद्वितीय ग्रन्थ है। इससे पूर्व भी वे 'वेद में इतिहास नहीं' शीर्षक एक महाप्रबन्ध लिख कर वेदार्थ की नैरुक्त प्रक्रिया की विशद मीमांसा कर चुके थे। स्वामीजी के शोध और अनुसंधान कार्यों के उपलक्ष्य में गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी ने उन्हें विद्यामार्तण्ड की उपाधि प्रदान की। उनके अनेक ग्रन्थ उत्तरप्रदेशीय राज्य सरकार से पुरस्कृत भी हो चुके हैं। विमान-शास्त्र विषयक उनका ग्रन्थ केन्द्रीय सरकार की सहायता से प्रकाशित हुआ है।

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर—अपने सम्पूर्ण जीवन को वैदिक तथा संस्कृत साहित्य की सेवा में अर्पित कर देने वाले पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के शोध और अन्वेषण कार्य का प्रेरणा-स्रोत भी आर्यसमाज ही है। अनवरत सारस्वत साधना में संलग्न रहने वाले सातवलेकरजी ने वैदिक संहिताओं के शुद्ध संस्करण सम्पादित किये, तथा वेदों की युग सापेक्ष, वैज्ञानिक और समाज-शास्त्र मूलक व्याख्या की। वेद-भाष्य प्रणयन के अतिरिक्त वेदों की दैवत संहिता तथा आर्ष संहिता का प्रकाशन, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता आदि ग्रन्थों पर विस्तृत भाष्य लेखन आदि कार्य भी सातवलेकरजी की उत्कृष्ट शोध दृष्टि के उदाहरण हैं। वे अपनी संस्कृत सेवाओं के कारण भारत के राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित हो चुके हैं।

डा० सुधीरकुमार गुप्त—राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के रीडर तथा अखिल भारतीय आर्य विद्वत्सम्मेलन के संयोजक डा० सुधीरकुमार गुप्त ने 'वेद-भाष्य पद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन' विषय पर शोधकार्य किया तथा राजस्थान विश्वविद्यालय से डाक्टर आफ फिलासफी की उपाधि प्राप्त की। डा० गुप्त ने अपने इस शोधप्रबन्ध में स्वामी दयानन्द की वेद-भाष्य प्रणाली का गम्भीर अनुशीलन कर उसका वैशिष्ट्य प्रतिपादित करते हुए अन्य वेदभाष्यकारों से उसकी वरीयता सिद्ध की है। डा० गुप्त ने वैदिक साहित्य-विषयक अन्य भी कई शोधनिबन्ध लिखे हैं। उनका Nature of the Vedie Shakhas शीर्षक निबन्ध अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् के १५वें बम्बई अधिवेशन में पढ़ा गया था। इसमें विद्वान् लेखक ने वेदों की विभिन्न शाखाओं का विचार करते हुए स्वामी दयानन्द के इस मत

---

१. यजुर्वेद ३१।६—वेद के एक संदिग्ध प्रकरण का विवेचन।

को सिद्ध करने का प्रयास किया है कि शाखायें वेदों का व्याख्यान ही हैं। यजुर्वेद की माध्यन्दिनीय और काण्व, अथर्ववेद की शौनक तथा पैप्पलाद तथा सामवेद की कौथुम और जैमिनीय शाखाओं में पाये जाने वाले कतिपय पाठान्तरों का तुलनात्मक विवेचन करने के पश्चात् लेखक इसी निष्कर्ष पर पहुंचा है कि शाखाओं में संहिता के मूल पाठ को अधिकाधिक सरल और बोधगम्य बनाने का प्रयास किया गया है, अतः प्रकारान्तर से इन्हें वेदों का व्याख्यान कहा जा सकता है।

इसी प्रकार उनका एक अन्य निबन्ध Ancient Schools of Vedic Interprectation भी उक्त परिषद् के वैदिक विभाग के अन्तर्गत १९५१ में पढ़ा गया। इस निबन्ध में विद्वान् लेखक ने वेदों के पदपाठ, शाखा-प्रवचन, तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित मन्त्रार्थ की समीक्षा करते हुए यास्कीय निरुक्त में उल्लिखित वेदार्थ की अधिदैवत, अध्यात्म, आख्यान समय (ऐतिहासिक), नैदान, नैरुक्त, परिव्राजक, पूर्व याज्ञिक इन आठ प्रणालियों का आलोचनात्मक विवेचन करते हुए स्वामी दयानन्द द्वारा स्वीकृत नैरुक्त प्रक्रिया की विशिष्टिता सिद्ध की है। अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् के दरभंगा अधिवेशन में डा० गुप्त ने एक अन्य निबन्ध Swami Dayanand as a Vedic Commentator भी पढ़ा था। इसमें वेद-भाष्यकार के रूप में स्वामी दयानन्द की विशेषता निरूपित की गई हैं। 'ऋग्वेद के ऋषि, उनका सन्देश और दर्शन'[1] शीर्षक उनका एक अन्य महत्त्वपूर्ण शोध निबंध है। प्राच्यविद्या विश्वपरिषद् (Wold Oriential Consfernce) के १९६४ के दिल्ली अधिवेशन में डा० गुप्त ने Monosyllabic Origion of the Vedic Language. शीर्षक निबंध पढ़ा था, जिसमें वैदिक भाषा के एकाक्षरी मूल का भाषावैज्ञानिक दृष्टि से प्रतिपादन किया गया था। Authorship of some of the Hymns of the Rigveda शीर्षक उनका निबन्ध अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् के वैदिक विभाग के विवरण संग्रह (Proceeding 1 to 18 Session) में छपा है। डा० गुप्त के अन्य महत्त्वपूर्ण शोध निबन्धों में A critical study of the commentary on the Rigveda by Swami Dayanand. A New Inter prectation of Atharva Veda[2], Coconut (त्र्यम्बक) in the Rigveda, तथा मेघदूत की वैदिक पृष्ठभूमि और उसका सांस्कृतिक सन्देश आदि उल्लेखनीय[3] हैं।

---

1. Seers of the Rigveda-their message and philosophy.
2. All India Oriential Conference, Summary Book. XIV.
३. अ० भा० प्राच्यविद्या परिषद् के (अक्टूबर-नवम्बर १९५३) अहमदाबाद अधिवेशन पर आयोजित क्लासिकल संस्कृत विभाग में पठित।

डा० गुप्त ने वैदिक शोध के क्षेत्र में स्वयं तो कार्य किया ही, उनके निर्देशन में अन्य महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान कार्य भी हुए हैं। डा० बद्रीप्रसाद पंचोली ने उनके निर्देशन में 'ऋग्वेद में गो-तत्त्व' तथा डा० नाथूलाल पाठक ने 'ऐतरेय ब्राह्मण—एक अध्ययन' जैसे शोधकार्य सम्पन्न कर उपाधि प्राप्त की।

पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के अन्तेवासी डा० देवप्रकाश पातञ्जल ने १९६३ में बड़ौदा विश्वविद्यालय से ऋग्वेद के एक अंश का पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से विशिष्ट अनुशीलन—A critical Study of Rigveda (Mandal 1 Suktas 137–163) Particularly from the point of view of Panini Grammar. विषय लेकर शोधकार्य सम्पन्न किया। अष्टाध्यायी प्रकाशिका के नाम से डा० पातञ्जल ने अष्टाध्यायी के अत्यावश्यक लगभग १२०० सूत्रों की संस्कृत तथा हिन्दी में व्याख्या लिखी है। ये दोनों ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डा० रामनाथ वेदालंकार को 'वेदों की वर्णन शैलियां' शीर्षक शोध-प्रबन्ध पर आगरा विश्वविद्यालय से १९६६ में पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। डा० परमानन्द एम० ए० ने स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका ग्रन्थ के अंग्रेजी अनुवाद तथा मौलिक टिप्पणियों पर पञ्जाब विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

संस्कृत शोध विषयक आर्यसमाजी विद्वानों के वैयक्तिक प्रयासों की चर्चा करने के पश्चात् उन संस्थाओं के शोधकार्य का विवरण देना आवश्यक है जिनके द्वारा अनुसंधान कार्य को बल मिला है।

संस्कृत शोध संस्थापन—

डी० ए० वी० कालेज़ लाहौर का शोध विभाग—स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात् उनके स्मारक के रूप में लाहौर में डी० ए० वी० कालेज की स्थापना १८८६ में हुई। इसी कालेज के तत्त्वावधान में १९१७ में शोध विभाग स्थापित किया गया। सुप्रसिद्ध संस्कृतज्ञ विद्वान् पं० भगवद्दत्त इसके अध्यक्ष नियत किये गए। उन्होंने १९३४ तक इस पर कार्य किया। पुनः पं० विश्वबन्धु शास्त्री इस विभाग के निदेशक पद पर कार्य करते रहे। डी० ए० वी० कालेज लाहौर का लालचन्द पुस्तकालय, संस्कृत साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध था। शोध विभाग का पृथक् पुस्तक संग्रह भी था, जिसमें संस्कृत ग्रन्थों की सहस्रों दुर्लभ पाण्डुलिपियां संगृहीत की गई

थीं। शोध विभाग के तत्त्वावधान में अनेक प्राचीन दुर्लभ ग्रन्थों का उद्धार और प्रकाशन हुआ, जिनमें निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण हैं—

१. अथर्ववेदीय पञ्चपटलिका—डी० ए० वी० कालेज संस्कृत	ग्रन्थमाला	१
२. ऋग्वेद पर व्याख्यान (पं० भगवद्दत्त लिखित)	,,	२
३. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण	,,	३
४. दन्त्योष्ठ्य विधि	,,	४
५. अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा	,,	५
६. अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणिका	,,	६
७. वाल्मीकीय रामायण के बाल, अयोध्या और अरण्य काण्ड[1]	,,	७
८. वैदिक कोष (हंसराज प्रणीत)	,,	८
९. काठक गृह्य सूत्रम्	,,	९

१०. ऋग्वेदभाष्य (उद्गीथाचार्य प्रणीत मण्डल १०—५ से ८३ सूक्त पर्यन्त)

११. वैदिक वाङ्मय का इतिहास (द्वितीय और तृतीय भाग) पं० भगवद्दत्त कृत।

१२. चारायणीय शाखा मन्त्रार्षाध्याय सम्पादक पं० भगवद्दत्त।

१३. अचङ्क-काव्यम्।

१४. संस्कृत साहित्य का इतिहास वेदव्यास लिखित।[2]।

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान—आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध संन्यासी द्वय स्वामी नित्यानन्द और स्वामी विश्वेश्वरानन्द ने वैदिक कोश के निर्माण का कार्य आरम्भ किया। १९०३ ई० में इन स्वामियों ने गुलमर्ग (काश्मीर) में बैठकर वैदिक कोश विषयक अपनी योजना को अन्तिम रूप प्रदान किया। इस योजना को क्रियान्वित करने के लिए बड़ौदा के संस्कृत प्रेमी नरेश सर सयाजीराव गायकवाड़ ने १७५०० रु० का अनुदान दिया। १९०८ से १९१० तक शिमला स्थित शान्तकुटी में बैठकर दोनों स्वामियों ने चारों वेदों की वर्णानुक्रम से शब्दानुक्रमणिका तैयार की और उसे चार भागों

---

१. पश्चिमोत्तर (काश्मीरी) संस्करण।

2. The D. A. V. College Sanskrit Series.

में प्रकाशित किया। १९१४ में स्वामी नित्यानन्द का स्वर्गवास हो गया, परन्तु स्वामी विश्वेश्वरानन्द ने वैदिक कोश के कार्य को जारी रखा। १९२३ में वैदिक कोश निर्माण तथा वैदिक अनुसंधान विषयक अपनी आकांक्षा को स्वामी विश्वेश्वरानन्द ने लाहौर के रायबहादुर मूलराज, महात्मा हंसराज आदि आर्यसमाजी नेताओं के समक्ष रखा तथा उनकी सम्मति से कोशनिर्माण का यह कार्य दयानन्द ब्रह्म महाविद्यालय के तत्कालीन आचार्य पं० विश्वबन्धु शास्त्री को सौंप दिया गया। १ जनवरी १९२४ से विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान की विधिवत् स्थापना हुई और विश्वबन्धु शास्त्री उसके अवैतनिक निदेशक नियुक्त हुये। १९३४ तक शास्त्रीजी ब्राह्ममहाविद्यालय तथा शोध संस्थान दोनों के अध्यक्ष पद पर कार्य करते रहे, परन्तु १ जून १९३४ से इन्होंने महाविद्यालय की सेवा से मुक्त होकर शोध संस्थान तथा डी० ए० वी० कालेज के शोध विभाग एवं लालचन्द पुस्तकालय का कार्य संभाला।

२३ नवम्बर को संस्थान के संस्थापक स्वामी विश्वेश्वरानन्द की मृत्यु हो गई। उन्होंने अपनी लगभग अढ़ाई लाख की सम्पत्ति का एक न्यास बना दिया और उसे वैदिक कोश को पूरा किये जाने का काम सौंपा। इस न्यास में रायबहादुर लाला रलाराम, स्वामी सर्वदानन्द, महात्मा नारायण स्वामी आदि प्रमुख आर्यसमाजियों के अतिरिक्त महामना मदनमोहन मालवीय भी थे। कालानन्तर में विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान सोसाइटी की स्थापना हुई और उसे १९३६ में पंजीकृत कराया गया। तब से शोध संस्थान का संचालन उक्त सोसाइटी ही कर रही है। राय बहादुर लाला दुर्गादास, राय बहादुर मूलराज, महात्मा नारायण स्वामी आदि आर्यसमाजी नेता इसके संस्थापक सदस्य थे।

इस संस्थान के अन्तर्गत प्रति तीसरे वर्ष वैदिक कोश का एक नया भाग प्रकाशित होता है। १९४०-४१ से इस संस्था को भारत सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त हो गई। तब से उसे केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों, भू० पू० देशी रियासतों तथा विश्वविद्यालयों से आर्थिक सहायता मिलने लगी। देश-विभाजन के पश्चात् संस्थान का मुख्य कार्यालय होशियारपुर स्थित साधु आश्रम में आ गया।

संस्थान का मुख्य उद्देश्य वैज्ञानिक और ऐतिहासिक प्रणाली से भारतीय भाषा, साहित्य, संस्कृति, दर्शन, इतिहास तथा कला विषयक अनुसंधान कार्य को प्रगति देना, प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, रक्षा, सम्पादन, मुद्रण तथा दुर्लभ ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों को सुरक्षित रखना आदि है। संस्थान की एक बहुत विशाल योजना है जिसके अन्तर्गत वैदिक साहित्य के

भाषा वैज्ञानिक अध्ययन सम्बन्धी १०१ भाग छपेंगे । इसके अन्तर्गत १५ भागों में वैदिक पदानुक्रम कोष (A Vedic word Concordance) छप चुका है । इसके अतिरिक्त ऋग्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता तथा उपनिषद् विषयक वैयाकरण पद सूचियां (Grammatical word Index) भी प्रकाशित हो चुकी हैं ।

ग्रन्थ प्रकाशन के अतिरिक्त पुराने संस्कृत ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों के आधार पर पाठ-शोधन, पाठ-निर्णय, सम्पादन, अनुवाद आदि कार्य भी संस्थान के द्वारा होता है । पंजाब विश्वविद्यालय ने संस्थान को एम० ए० परीक्षा तथा पी० एच० डी० की शोध उपाधि के लिए छात्रों को तैयार करने की सुविधा भी प्रदान कर दी है । संस्थान का विशाल पुस्तकालय वैदिक और संस्कृत साहित्य के संदर्भ ग्रन्थों की दृष्टि से उत्तर पश्चिम भारत का सर्वश्रेष्ठ वृहत्तम पुस्तकालय है । यहां ३०००० पुस्तकों का संग्रह है जिसमें अनेक हस्तलिखित भी हैं । संयुक्त राष्ट्रसंघ के शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति विषयक संगठन (UNESCO) ने इस पुस्तकालय को मान्यता प्रदान कर रखी है । शास्त्रीय और साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में संस्थान द्वारा संस्कृत शोध कार्य संचालित होता है । संस्थान के आदरीनिदेशक संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य विश्वबन्धु भारत के राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित हो चुके हैं ।

गुरुकुल कांगड़ी का शोध विभाग—आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध संस्कृत शिक्षा संस्थान गुरुकुल कांगड़ी में १९२० ई० में अनुसंधान विभाग की स्थापना हुई । यहां अनुसंधान कार्य के लिए विद्वानों को गुरुकुल का वृहत् पुस्तकालय, उपलब्ध है, जिसमें अनेक प्राचीन हस्तलेख और कुछ दुर्लभ ग्रन्थ विद्यमान हैं । शोध कार्य की दृष्टि से इस पुस्तकालय का महत्त्व निर्विवाद है । आर्य समाज के शीर्षस्थ वैदिक विद्वानों यथा, पं० बुद्धदेव विद्यालंकार, पं० विश्वनाथ विद्यालंकार, पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड तथा स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक आदि ने अपने शोध कार्यों में इस पुस्तकालय से सहायता ली है ।

इस शोध विभाग के तत्त्वावधान में गुरुकुल से स्वाध्याय-मञ्जरी नामक एक ग्रन्थमाला प्रकाशित होती है जिसमें वैदिक अन्वेषण विषयक ग्रन्थ छपते हैं । अनुसंधान विभाग के वर्तमान अध्यक्ष पं० भगवद्दत्त वेदालंकार हैं । आपने २०११ वि० में अयास्य ऋषि पर एक खोज पूर्ण निबन्ध लिखा । उपनिषदों एवं ब्राह्मण ग्रन्थों की परिभाषाओं और कथानकों का स्पष्टीकरण तथा वेद के रुद्र, वृहस्पति, अश्विनौ तथा कण्व पर सामग्री एकत्रित की । वैदिक ऋषि-तत्त्व पर भी लेख लिखे । २०१२ वि० में वैदिक आधार पर सामान्य ऋषि

का स्वरूप, उसकी शक्ति, ऋषित्व की प्राप्ति आदि विषयों पर लिखा गया। अग्नि, इन्द्र, सोम, अश्विनौ आदि देवताओं से ऋषि के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया। २०१३ वि० में वेद विषयक विभिन्न अनुसंधान पूर्ण निवन्ध लिखे गये। विगत वर्षों में पं० भगवद्दत्त वेदालंकार ने वैदिक देवता विष्णु पर विशिष्ट अन्वेषण कार्य किया। उनका यह अन्वेषण कार्य विष्णुदेवता (१९६४ में प्रकाशित) तथा ऋषि रहस्य (१९६५ में प्रकाशित) शीर्षक ग्रन्थों के रूप में प्रकाश में आ चुका है। 'विष्णु देवता' में वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर वेद के विष्णु देवता परक मन्त्रों और आख्यानों का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ पर लेखक को उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा ५०० रू० का पुरस्कार प्रदान किया गया।

ऋषि रहस्य में अयास्य, दधीचि, कण्व, मेधातिथि, प्रगाथ तथा त्रिशोक आदि ऋषियों के स्वरूप का विचार करते हुए वेद मन्त्रान्तर्गत उल्लिखित इन ऋषि नामों तथा इनमें निहित आध्यात्मिक तथ्यों का विवेचन किया गया है। वेद में प्रयुक्त 'दाश्वान्' शब्द, का अग्नि, इन्द्र, सोम, अश्विन् और सविता देवताओं से सम्बन्ध-विवेचन करते हुए पं० भगवद्दत्त वेदालंकार ने आत्मसमर्पण नामक[1] ग्रन्थ लिखा। उनके अन्य शोध ग्रन्थों में ऋभुदेवता (वैदिक ऋभु देवता परक मन्त्रों का विवेचन), वैदिक अध्यात्म विद्या (वलासुरवध की वैदिक आलंकारिक गाथा[2] का सोपपत्तिक विवेचन) तथा वैदिक स्वप्न विज्ञान (अथर्ववेद के स्वप्न सूक्तों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन) आदि मुख्य हैं।

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का शोध कार्य—विभाजन पूर्व काल में लाहौर स्थित गुरुदत्त भवन में प्रशंसित सभा का विशाल पुस्तकालय था जो सस्कृत शोध कार्य के लिए नितान्त उपयुक्त समझा जाता था। स्वामी वेदानन्द तीर्थ और पं० चमूपति ने इस सभा के आदेशानुसार शोध कार्य किया। पं० चमूपति के वेदार्थ कोश (तीन भाग), यास्कयुग की वेदार्थ शैलियां तथा सोमसरोवर आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस सभा के अनुसन्धानविभाग द्वारा ही प्रकाशित हुए।

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर—श्री रामलाल कपूर की स्मृति में स्थापित इस ट्रस्ट ने वैदिक अनुसंधान को अपना प्रमुख लक्ष्य बनाया है।

---

१. यह उपाख्यान ऋग्वेद के १० वें मण्डलान्तर्गत ६७ वा ६८ वें सूक्त तथा ताण्ड्य महाब्राह्मण के अन्तर्गत आता है।

१. स्वाध्यायमञ्जरी का २२ वां पुष्प, २०१० वि०।

इस ध्येय की पूर्ति के लिए ट्रस्ट ने पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पं० भगवद्दत्त तथा पं० युधिष्ठिर मीमांसक जैसे प्रतिष्ठित विद्वानों की सेवायें प्राप्त कीं। ट्रस्ट के तत्त्वावधान में स्वामी दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु लिखित विवरण (प्रारम्भ के १० अध्यायों पर) प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त पं० युधिष्ठिर मीमांसक रचित संस्कृत व्याकरण विषयक ग्रन्थ तथा वैदिक छन्द और वैदिक स्वर विषयक ग्रन्थ भी छप चुके हैं। पं० भगवद्दत्त का वैदिक वाङ्मय का इतिहास (प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण) तथा निरुक्त भाषा भाष्य भी ट्रस्ट ने प्रकाशित किये हैं। भर्तृहरि कृत वाक्यपदीय के ब्रह्म-काण्ड पर हरि की स्वोपज्ञ टीका एवं वृषभदेव की व्याख्या का का सर्वप्रथम प्रकाशन ट्रस्ट की ओर से हुआ। इसका संपादन चारुदेव शास्त्री ने किया। वैदिक अनुसंधान विषयक खोजपूर्ण सामग्री प्रकाशित करने के लिए ट्रस्ट 'वेदवाणी' नामक एक उत्कृष्ट मासिक पत्रिका प्रकाशित करता है। वाल्मीकीय रामायण का एक सुसम्पादित संस्करण ट्रस्ट के प्रकाशनाधीन है। ट्रस्ट का अपना बृहत् पुस्तकालय भी है जिसमें अनेक दुर्लभ संस्कृत ग्रन्थ हैं।

विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद—आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने इस संस्थान की स्थापना की। इस संस्थान के द्वारा स्वामी वेदानन्दजी के वेद व्याख्या विषयक ग्रन्थ छपे। स्वामीजी ने अष्टादश पुराणों का आलोचनात्मक अध्ययन विभिन्न विद्वानों से तैयार कराकर प्रकाशित कराने की योजना बनाई थी। तदनुसार श्रीमद्भागवत, देवी भागवत, ब्रह्म पुराण, मार्कण्डेय पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, शिव पुराण,[1] कूर्म पुराण,[2] लिंग पुराण,[3] गरुड़ पुराण,[4] वराह पुराण[5] तथा भविष्य पुराण[6] की विस्तृत आलोचनात्मक समीक्षायें प्रकाशित हुईं। संस्थान के अन्तर्गत विद्याभास्कर पं० उदयवीर शास्त्री ने सांख्य दर्शन पर अद्भुत कार्य किया। उसका सांख्य दर्शन का इतिहास अपने विषय का अद्वितीय ग्रन्थ है जिसमें अद्यतन उपलब्ध शोध-सामग्री का लाभ लेते हुए सम्पूर्ण सांख्य वाङ्मय की समीक्षा की गई है। इस ग्रन्थ पर लेखक को सेठ हरजीमल डालमिया पुरस्कार,

---

१. लेखक पं० मनसाराम शास्त्री।
२. ,, पं० मनसाराम शास्त्री।
३. ,, पं० भीमसेन विद्यालंकार।
४. ,, पं० व्रतपाल स्नातक।
५. ,, पं० श्रुतिकान्त शास्त्री।
६. ,, पं० मनसाराम शास्त्री।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का मंगलाप्रसाद पारितोषिक, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् तथा उत्तरप्रदेश सरकार से विभिन्न पुरस्कार प्राप्त हुए हैं। सांख्य दर्शन के इतिहास के अतिरिक्त शास्त्रीजी ने सांख्य-सिद्धान्त (सांख्य दर्शन का सैद्धान्तिक विवेचन) तथा सांख्य दर्शन विद्योदय भाष्य (कपिल प्रोक्त सांख्य सूत्रों पर विशद, विवेचनात्मक व्याख्या) भी लिखे हैं। हाल ही में शास्त्रीजी का वेदान्त दर्शन विद्योदय भाष्य प्रकाशित हुआ है। इसमें भाष्यकार ने किसी नव्य अथवा पुरातन भाष्य का अनुकरण न करते हुए मूल सूत्रों के अभिप्राय को समझाने का प्रयास करते हुए सूत्रों की संगति लगाई है। इस दृष्टि से यह भाष्य मध्यकालीन दार्शनिक सम्प्रदायों के खण्डन-मण्डन की परम्परा से दूर रहकर सूत्र के मूल प्रतिपाद्य की ओर संकेत करता प्रतीत होता है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि ब्रह्मसूत्र-विद्योदय भाष्य शंकराचार्य से प्राक्तन वेदान्ताचार्यों की विचारधारा से अधिक समीप है। सम्प्रति उदयवीर शास्त्री वेदान्त दर्शन का इतिहास लिख रहे हैं।

शास्त्रीजी के कई शोध निबन्ध महत्त्वपूर्ण शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। उदाहरणार्थ 'सांख्य सूत्रों का प्राचीन नाम और इतिहास' शीर्षक शोध निबन्ध Journal of the U. P. Historical Society'[1] में प्रकाशित हुआ। इसमें विद्वान् लेखक ने कपिल रचित षडध्यायी सांख्य दर्शन को सांख्य विचारधारा का प्राचीनतम ग्रन्थ सिद्ध करते हुए कपिल के व्यक्तित्व को ऐतिहासिक ठहराया है। सांख्य दर्शन के विषय में ही उनका एक अन्य शोध निबन्ध 'तिलकोपज्ञा आर्या' डा० सिद्धेश्वर वर्मा को प्रस्तुत किये गए अभिनन्दन ग्रन्थ 'सिद्ध भारती'[2] में प्रकाशित हुआ। इसमें लेखक ने लोकमान्य तिलक द्वारा कल्पित एक आर्या की समीक्षा की है जिसे उन्होंने ईश्वरकृष्ण रचित सांख्य कारिकाओं में ७० वीं बताया है। शास्त्रीजी के अन्य शोध निबन्धों में 'केन प्रणीतानि सांख्यसूत्राणि[3] 'पतञ्जलिप्रणीतमध्यात्मशास्त्रम्'[4] तथा मेधातिथि का न्याय शास्त्र[5] उल्लेखनीय है। 'सारस्वती सुषमा' में प्रकाशित 'सांख्य सम्बन्धिशाङ्करालोचनालोचनम्' ब्रह्मसूत्र शङ्कर भाष्य में उल्लिखित सांख्य दर्शन की आलोचना की प्रत्यालोचना है। शंकराचार्य ने कपिल सांख्य को

1. Vol. xxi 1948

२. विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित।

३. गुरुकुल पत्रिका भाद्रपद २०१६ वि०।

४. ,, आषाढ़ २०११ वि०।

५. विश्वज्योति अप्रैल १९४६।

निरीश्वरवादी माना है । शास्त्रीजी की सम्मति में कपिल प्रोक्त सांख्य ईश्वर की सत्ता प्रत्याख्यान नहीं करता ।

१६३८ में लाहौर में स्वामी वेदानन्दतीर्थ ने स्वामी स्वतंत्रानन्द और स्वामी अनुभवानन्द के सहयोग से शास्त्रीय शोध को लक्ष्य में रखकर जिस विरजानन्द शोध संस्थान को स्थापित किया, वह देश विभाजन के पश्चात् ज्वालापुर, खेड़ाखुर्द (दिल्ली) और अन्त में गाजियाबाद में स्थापित किया गया। संस्थान का वृहत पुस्तकालय और शोध सम्बन्धी अन्य सामग्री लाहौर में ही रह गई।

स्वाध्याय मण्डल (पारडी)—भारत के राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित और पुरस्कृत वेदों के महान् आर्य विद्वान् पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने वैदिक और संस्कृत साहित्य के शोध को लक्ष्य में रखकर स्वाध्याय मण्डल की स्थापना की। वैदिक संहिताओं और शाखाओं के विषय में मण्डल का कार्य विशेष उल्लेखनीय है। स्वाध्याय मण्डल द्वारा प्रकाशित वेद संहिताओं के सम्बन्ध में विद्वानों की धारणा है कि प्रो० मैक्समूलर द्वारा सम्पादित वेद संस्करण की अपेक्षा यह संस्करण अधिक शुद्ध और त्रुटिरहित है। वेदों को दैवत सहिता तथा आर्ष संहिता (देवता तथा मन्त्र द्रष्टा ऋषियों के क्रम से) के रूप में प्रकाशित किया गया तथा चारों वेदों के हिन्दी, मराठी और गुजराती इन तीन भाषाओं में सुबोध भाष्य तैयार किये गए। इसी प्रकार यजुर्वेद सर्वानुक्रम सूची, यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता पाद सूची, ऋग्वेद मन्त्र सूची, यजुर्वेद मैत्रायणीय आरण्यक, मरुद्देवता मन्त्र संग्रह की समन्वय-चरण सूची, सामवेद के गायन विषयक ग्रन्थ मण्डल के प्रमुख प्रकाशन हैं। वेदातिरिक्त ब्राह्मण, उपनिषद् रामायण, महाभारत तथा गीता विषयक भाष्य टीकादि ग्रन्थ भी स्वाध्याय मण्डल ने प्रकाशित किये हैं।

स्वाध्याय मण्डल के अन्तर्गत वैदिक और संस्कृत ग्रन्थों का वृहत् शोध पुस्तकालय है। जहां नियमित रूप से शोध-विद्वान् अनुसंधान कार्य करते हैं। मण्डल का अपना प्रकाशन तथा मुद्रणालय भी है। स्वाध्यायमण्डल द्वारा प्रकाशित वेद संहिताओं का संहितापाठ तैयार कराने में उन दाक्षिणात्य सस्वर वेदपाठी पण्डितों की सहायता ली जाती है जिनका वेद-मन्त्रों का उच्चारण स्वर की दृष्टि से उत्कृष्टम होता है। ऐसे वेदपाठों के टेप-रेकार्ड तैयार कराने की प्रवृत्ति भी मण्डल की उल्लेखनीय विशेषता है।

भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर—पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने भारत के प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के अनुसंधान तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त

सामग्री के प्रकाशन के लिए इस प्रतिष्ठान की स्थापना की। इस संस्थान का मुख्य उद्देश्य भारतीय वाङ्मय के विविध विभागों के इतिहास का लेखन तथा पुरातन संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों का शुद्ध सम्पादन तथा अलभ्य और दुर्लभ ग्रन्थों का संरक्षण करना है। प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान ने वेद के व्याकरण, छन्द, निरुक्त तथा शिक्षा जैसे अंगों से सम्बद्ध उच्च कोटि के ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। संस्कृत व्याकरणशास्त्र का क्रमबद्ध इतिहास उपस्थित करना इस प्रतिष्ठान की प्रमुख उपलब्धि है। इसी क्रम में शिक्षाशास्त्र का इतिहास भी तैयार किया जा रहा है। प्रतिष्ठान ने संस्कृत के उन शोध ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य भी अपने ऊपर लिया है जो विश्वविद्यालयों द्वारा स्नातकोत्तर उपाधियों तथा पी० एच० डी० आदि के लिए स्वीकृत किए जाते हैं। ऐसे ग्रन्थों में कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के संस्कृत प्राध्यापक डा० कपिलदेव साहित्याचार्य लिखित 'संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि' शीर्षक शोध ग्रन्थ का उल्लेख किया जा सकता है। इस शोध प्रबन्ध में विद्वान् लेखक ने व्याकरण में गणपाठ के प्रवचन की अनिवार्यता, उसकी उत्पत्ति तथा विकास पर ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकाश डालते हुए उपलब्ध समस्त गणपाठों पर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। गणपाठों से सम्बद्ध अन्य अनेक विषयों पर विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया गया है।

प्रतिष्ठान का निजी पुस्तकालय तथा शास्त्र विक्रय विभाग है, जिसमें प्राचीन, अर्वाचीन और दुर्लभ संस्कृत ग्रन्थ विक्रयार्थ उपलब्ध हो सकते हैं।

हरयाणा साहित्य संस्थान–गुरुकुल झज्जर—हरयाणा प्रान्त के गुरुकुल झज्जर के अन्तर्गत इस साहित्य संस्थान की स्थापना फाल्गुन शुक्ला २, २०१६ वि० (२८ फरवरी १९६०) को हुई। संस्थान का ध्येय वैदिक और संस्कृत साहित्य, प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व विषयक शोधकार्य को प्रगति प्रदान करना है। संस्थान ने आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध कवि और साहित्यकार मेधाव्रताचार्य के गुरुकुल-शतकम्, ब्रह्मचर्य-शतकम्, ब्रह्मचर्य-महत्त्वम्, विरजानन्द-चरितम्, नारायणस्वामि-चरितम् आदि काव्यों को प्रकाशित किया। संस्थान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पूर्ण पातञ्जल महाभाष्य का कैयट और नागेश की प्रदीप और उद्योत टीकाओं तथा विमर्श टिप्पणी सहित पांच भागों में प्रकाशन है। व्याकरण शास्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ होने पर भी महाभाष्य सुलभ नहीं था। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ को उपलब्ध कर देना संस्थान का एक महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जायगा। संस्कृत शोध की दृष्टि से गुरुकुल झज्जर का विश्वम्भर वैदिक पुस्तकालय भी अत्यन्त उपयोगी है, जिसमें लगभग १५००० ग्रन्थ हैं। कई ग्रन्थ बहुमूल्य और दुष्प्राप्य भी हैं।

महर्षि दयानन्द स्मारक अनुसंधान विभाग टंकारा (सौराष्ट्र)—आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द की जन्मभूमि टंकारा (गुजरात) में महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट के अन्तर्गत अनुसंधान विभाग की स्थापना की गई है। इसके प्रथम अध्यक्ष ख्याति-प्राप्त प्राच्यविद्या विशारद पं० युधिष्ठिर मीमांसक रहे। अपने कार्यकाल ने मीमांसकजी ने निम्न ग्रन्थ तैयार किए—

(१) महर्षि दयानन्द की पद प्रयोग शैली—इस ग्रन्थ में स्वामी दयानन्द द्वारा प्रयुक्त उन पदों का तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर युक्तिपूर्ण ढंग से साधुत्व दिखाया गया है जिनके विषय में शंकायें उपस्थित की जाती हैं। इससे यह भ्रम दूर हो जाता है कि स्वामीजी ने अपने वेद-भाष्यादि ग्रन्थों में अपाणिनीय पदों का प्रयोग किया था।

(२) यजुर्वेद भाष्य संग्रह—पञ्जाब विश्वविद्यालय की संस्कृत की सर्वोच्च परीक्षा शास्त्री में स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद-भाष्य का जो अंश पाठ्यक्रम के रूप में रखा गया है, उसका सुसम्पादित संस्करण प्रस्तुत किया गया है।

(३) सामवेद-भाष्य—संस्कृत में सामवेद का भाष्य ट्रस्ट की मुख पत्रिका टंकारा-पत्रिका में प्रकाशित होना आरम्भ हुआ था।

सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं० अयोध्याप्रसादजी ने अपना वृहत् पुस्तकालय ट्रस्ट को प्रदान किया है जो अनुसंधान कार्य के लिए नितान्त उपयोगी है। अनुसन्धान विभाग के अन्तर्गत पं० धर्मदेव निरुक्ताचार्य भी कार्य करते रहे हैं।

दयानन्द कालेज कानपुर-वैदिक शोध संस्थान—जुलाई १९६२ से यह कार्य प्रारम्भ हुआ। डी० ए० वी० कालेज कानपुर के कार्यनिवृत्त हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० मुन्शीराम शर्मा 'सोम' इस शोध संस्थान के अध्यक्ष नियुक्त किए गए। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इस शोधकार्य को मान्यता प्रदान की है। डा० मुन्शीराम शर्मा के तत्त्वावधान में चारों वेद संहिताओं में मन्त्रों की पुनरावृत्ति, यजुर्वेद के याज्ञिक प्रकरणों तथा सम्पूर्ण वेद मन्त्रों की संख्या निर्धारण विषयक कार्य हुआ है। कई वैदिक शोध से सम्बद्ध निबन्ध भी लिखे जा चुके हैं जिनका प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत ग्रन्थमाला[1] तथा साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग कर रहे हैं। वैदिक अनुसन्धान विभाग का प्रथम प्रकाशन 'वेदसंज्ञा-विमर्श' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है जिसमें वेद संज्ञा मन्त्र-संहिता की है अथवा ब्राह्मण ग्रन्थ भी उसमें सम्मिलित है,

---

१. वेदार्थ-चन्द्रिका तथा वैदिक-निबन्धावली।

इस विवादास्पद विषय पर कानपुर में हुए सर्ववेदशाखा सम्मेलन के अवसर पर आर्यसमाज और सनातनधर्म के बीच लिखित शास्त्रार्थ का विवरण प्रकाशित किया गया है। शोध संस्थान के अध्यक्ष डा० मुन्शीराम शर्मा के पुरुष सूक्त विवेचन तथा A Comparative Study of Vaid'k hymns शीर्षक दो अन्य शोध कृतियां प्रकाशित हो चुकी हैं।

गुरुकुल वृन्दावन और सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा के द्वारा भी वैदिक अनुसन्धान का कार्य होता है। प्रशंसित सभा ने कुछ वर्ष पूर्व 'वैदिक अनुसन्धान' नामक एक त्रैमासिक शोध पत्रिका प्रकाशित की थी।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी शोध-संस्थान हैं जिनकी ओर से यदा-कदा शोध-कार्य होता है। यथा उत्तरप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का घासीराम प्रकाशन विभाग। इस विभाग की ओर से वैदिक निघण्टु का यास्कीय-पाठ और भास्करराय दीक्षित कृत पद्यात्मक पाठ तथा यजुर्वेद का दो भागों में हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

हमने यहां प्रधान-प्रधान शोध-संस्थानों का ही वर्णन किया है।

अध्याय ८

[संस्कृत भाषा के शिक्षण और प्रचार कार्य में आर्यसमाज का योगदान]

भाषा का ज्ञान शिक्षण की अपेक्षा रखता है। आर्यसमाज का शिक्षा-विषयक अपना कार्यक्रम है जिसके आधार पर वह गत अस्सी वर्षों से कार्य कर रहा है। आर्यसमाज की यह मान्यता रही है कि देश की प्रचलित शिक्षा-प्रणाली, जिसका बीजारोपण अंग्रेजी शासनकाल में हुआ, दूषित है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में स्वदेश की गौरव-गरिमा और पुरातन भारतीय संस्कृति की उत्कृष्टता की ओर न तो छात्रों का ध्यान ही आकृष्ट किया जाता है और न उन्हें स्वधर्म, स्वराष्ट्र और स्वभाषा के प्रति निष्ठा भाव धारण करने के लिए ही प्रोत्साहित किया जाता है। साथ ही वर्तमान शिक्षा-पद्धति छात्र तथा अध्यापक के पारस्परिक सम्बन्धों के प्रति भी उदासीन है। ऐसी स्थिति में आर्यसमाज ने शिक्षा-समस्या पर समग्रतः पुनर्विचार की आवश्यकता को अनुभव किया। आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने बालकों की शिक्षा के विषय में कुछ मौलिक बातें प्रस्तुत कीं।[1] संस्कृत शिक्षा को प्रगति देने हेतु उन्होंने अपने जीवनकाल में अनेक संस्कृत पाठशालायें भी स्थापित कीं। उनकी शिक्षा विषयक दृष्टि को क्रियान्वित करने के लिए ही आर्यसमाज में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की नींव रखी गई। गुरुकुल-शिक्षा पद्धति की अन्य विशेषताओं में से एक है संस्कृत भाषा के शिक्षण की अनिवार्यता तथा संस्कृत शिक्षा का विस्तार।

प्राचीन पद्धति पर गुरुकुल स्थापना का विचार आर्यसमाज के शिरोमणि नेता लाला मुन्शीराम (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द) के मन में उत्पन्न हुआ। उन्होंने गुरुकुल स्थापना हेतु आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब द्वारा विधिवत् प्रस्ताव पारित कराया। यह प्रस्ताव आर्यप्रतिनिधि सभा पञ्जाब की साधारण सभा में नवम्बर १८९८ में स्वीकृत हुआ। गुरुकुल स्थापना हेतु धन एकत्रित

---

१. स्वामी दयानन्द के शिक्षा विषयक विचारों का संकलन सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय और तृतीय समुल्लास में हुआ है। संस्कारविधि का वेदारम्भ संस्कार प्रकरण भी इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है।

करने के लिए महात्मा मुन्शीराम ने पञ्जाब प्रान्त तथा अन्यत्र भ्रमण कर ३० हजार रुपया एकत्रित कर लिया। सर्वप्रथम १६ मई १९०० ई० में पञ्जाब के गुजरांवाला नगर में गुरुकुल की स्थापना हुई। कालान्तर में नजीबावाद जिला बिजनौर निवासी मुन्शी अमनसिंहजी द्वारा अपना कांगड़ी ग्राम गुरुकुल हेतु अर्पित कर दिए जाने पर ४ मार्च १९०२ (१९५९ वि०) को गुरुकुल गंगापार कांगड़ी ग्राम में लाया गया। थोड़े समय पश्चात् ही गुरुकुल कांगड़ी के अनुकरण पर देश में सर्वत्र गुरुकुल खोले गए। इन गुरुकुलों में समन्वित शिक्षा-प्रणाली प्रारम्भ की गई। एक ओर छात्र के लिए संस्कृत-भाषा, वेद, उपनिषद्, दर्शन आदि शास्त्रों का अध्ययन अनिवार्य रखा गया तो उसके साथ ही अंग्रेजी भाषा, विज्ञान तथा अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीतिशास्त्र आदि सामाजिक विद्याओं के अध्ययन की भी व्यवस्था की गई। अध्ययन का माध्यम था राष्ट्रभाषा हिन्दी और इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि गुरुकुल का स्नातक संस्कृत भाषा और प्राचीन वाङ्मय का निष्णात विद्वान् एवं सर्व-शास्त्र व्युत्पन्न हो।

आर्यसमाज द्वारा संस्कृत शिक्षण हेतु जो गुरुकुल कार्य कर रहे हैं उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी—यह आर्यसमाज का सबसे बड़ा और सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त गुरुकुल है। इसमें स्नातक होने के पश्चात् विद्यालंकार, वेदालंकार, सिद्धान्तालंकार, विद्यावाचस्पति और वेदवाचस्पति की उपाधियां प्रदान की जाती हैं। अब तो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा Chartered University के रूप में स्वीकार कर लिए जाने के पश्चात् इसमें स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर पर संस्कृत शिक्षा देने की भी व्यावस्था है। वैदिक साहित्य में एम० ए० की श्रेणी केवल इसी विश्वविद्यालय में है। अब शोध उपाधि (डाक्टर आफ फिलासफी) के लिए अनुसन्धान कार्य भी होने लगा है। इधर गुरुकुल ने संस्कृत और शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वानों को 'विद्यामार्तण्ड' की उपाधि से विभूषित करने की प्रणाली जारी की है। अब तक यह उपाधि स्व०पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्व० आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त-शिरोमणि, पं० बुद्धदेव विद्यालंकार, पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति, डा० मंगलदेव शास्त्री, पं० विश्वनाथ विद्यालंकार तथा स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक को प्रदान की जा चुकी है।

गुरुकुल कांगड़ी ने अपने सुदीर्घ जीवनकाल में संस्कृत के सहस्रों विद्वान् उत्पन्न किए। गुरुकुल द्वारा तैयार हुए संस्कृत के दिग्गज विद्वानों में पं० विश्व-

नाथ विद्यालंकार, पं० चन्द्रमणि विद्यालंकार, पालिरत्न (निरुक्त भाष्यकार), चतुर्वेद भाष्यकार पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार, पं० बुद्धदेव विद्यालंकार, सामवेद के अंग्रेजी भाष्यकार पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, पं० सुखदेव विद्यावाचस्पति आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। गुरुकुल में संस्कृत के माध्यम से आयुर्वेद की सर्वोच्च शिक्षा भी प्रदान की जाती है।

गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर—स्वामी दर्शनानन्द ने संवत् १९६४ वि० की अक्षय तृतीया को हरिद्वार के निकट नहर के किनारे गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर की स्थापना की। इस गुरुकुल की स्थापना का प्रमुख लक्ष्य था संस्कृत की निःशुल्क-शिक्षा की व्यवस्था करना, ताकि निर्धन विद्यार्थी भी संस्कृत ज्ञान से वंचित न रहें। इस गुरुकुल में साहित्य, व्याकरण, दर्शन, आयुर्वेद आदि की उच्चकोटि की शिक्षा की व्यवस्था है। संस्कृत-साहित्य और शास्त्रों के पारंगत विद्वान् आचार्य गंगादत्त शास्त्री (पूर्वाचार्य गुरुकुल कांगड़ी), व्याकरण-धुरीण पं० काशीनाथ शास्त्री, भाष्याचार्य पं० हरनामदत्त, पं० भीमसेन शर्मा, (आगरा निवासी) तथा आचार्य नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ जैसे युग प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् इस गुरुकुल में शिक्षादान करते रहे। डा० मंगलदेव शास्त्री, पं० देवदत्त शर्मोपाध्याय (दर्शन शास्त्राध्यापक, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी), पं० उदयवीर शास्त्री, डा० सूर्यकान्त, डा० हरिदत्त शास्त्री, स्व० पं० व्यासदेव शास्त्री, स्व० पं० देवेन्द्रनाथ शास्त्री, सांख्याचार्य, स्व० पं० भीमसेन शास्त्री (कोटा निवासी) आदि संस्कृत के मर्मज्ञ विद्वान् इसी गुरुकुल की देन हैं। आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध संस्कृत कवि पं० दिलीपदत्त शर्मा भी इसी गुरुकुल के स्नातक थे।

गुरुकुल वृन्दावन—उत्तरप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा संचालित गुरुकुल वृन्दावन संस्कृत शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। संयुक्तप्रान्त (अब उत्तरप्रदेश) में सर्वप्रथम सिकन्दराबाद में गुरुकुल खोला गया। कालान्तर में इसे फर्रुखाबाद लाया गया और पुनः संचालिका सभा के आदेशानुसार राजा महेन्द्रप्रताप द्वारा प्रदत्त भूमि पर वृन्दावन में स्थानान्तरित कर दिया गया। यहां महात्मा नारायण स्वामी, पं० तुलसीराम स्वामी तथा स्वामी हरिप्रसाद वैदिक मुनि जैसे शास्त्र-मर्मज्ञ विद्वान् अध्यापक पद पर रहे। इस गुरुकुल से आचार्य द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री, सिद्धान्तशिरोमणि, आचार्य धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, आचार्य बृहस्पति शास्त्री, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि जैसे धुरन्धर, संस्कृत पण्डित स्नातक होकर गीर्वाणवाणी की सेवा में संलग्न हुए। गुरुकुल वृन्दावन में स्थापित श्रीधर अनुसन्धान पीठ के अन्तर्गत आचार्य विश्वेश्वर ने

संस्कृत के साहित्य-शास्त्र तथा दर्शन-शास्त्र के विभिन्न आकार ग्रन्थों की व्याख्या लिखने का जो महत् समारम्भ किया, वह अपने आप में एक विशिष्ट उपलब्धि है। आर्यसमाज के अन्यतम संस्कृत महाकवि और साहित्यकार आचार्य मेधाव्रत भी इसी गुरुकुल के छात्र थे।

उपर्युक्त गुरुकुलों के अतिरिक्त गुरुकुल झज्जर, गुरुकुल चित्तौड़गढ़, आर्ष गुरुकुल एटा तथा गुरुकुल देवरिया आदि ऐसे गुरुकुल हैं जहां स्वामी दयानन्द निर्दिष्ट आर्ष पाठ्य प्रणाली के आधार पर शिक्षा दी जाती है। अन्य उल्लेखनीय गुरुकुलों में गुरुकुल अयोध्या, गुरुकुल घरौण्डा, गुरुकुल रायकोट, गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ, गुरुकुल कुरुक्षेत्र, गुरुकुल घटकेश्वर (आन्ध्र), गुरुकुल सूपा (गुजरात) आदि हैं। अविभाजित पंजाब में गुरुकुल पोठोहार (रावलपिण्डी) अत्यन्त प्रतिष्ठित गुरुकुल था, जहां पं० मुक्तिराम उपाध्याय (स्वामी आत्मानन्द सरस्वती) जैसे दर्शन के ख्यातिप्राप्त विद्वान् आचार्य पद पर कार्य करते थे।

कन्या गुरुकुल—कन्याओं के शिक्षण हेतु भी आर्यसमाज द्वारा गुरुकुलों की स्थापना की गई। नारी वर्ग में संस्कृत शिक्षा को प्रोत्साहन प्रदान करना इन संस्थाओं की एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। कन्या महाविद्यालय जालन्धर, कन्या गुरुकुल देहरादून, आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा, कन्या गुरुकुल सासनी (हाथरस), आर्य कन्या गुरुकुल लोवाकलां (रोहतक) तथा आर्ष कन्या गुरुकुल नरेला (दिल्ली) जैसी संस्थाओं ने स्त्री-जाति में संस्कृत शिक्षा प्रचार का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इन कन्या विद्यालयों में सहस्रों की संख्या में कन्याओं ने संस्कृत-भाषा, साहित्य और शास्त्रों की शिक्षा पाकर भारत में एक बार पुनः गार्गी, मैत्रेयी और भारती का आदर्श उपस्थित किया है।

संस्कृत पाठशालायें—गुरुकुलों के अतिरिक्त आर्यसमाज ने संस्कृत पाठशालाओं के संस्थापन और संचालन की ओर भी ध्यान दिया। स्वामी दयानन्द के शिष्य पं० भीमसेन ने प्रयाग में दयानन्द विश्वविद्यालय पाठशाला की स्थापना फरवरी १८८८ ई० में की। इस पाठशाला में पृथक् आर्ष पाठ-विधि के अनुसार संस्कृत के शिक्षण की व्यवस्था थी। संस्कृत पाठशालाओं द्वारा संस्कृत शिक्षा का प्रसार करना आर्यसमाज की एक उल्लेखनीय प्रवृत्ति रही है। साधन-सम्पन्न आर्यसमाजों ने स्थानीय स्तर पर ऐसी पाठशालायें स्थापित कीं। इन पाठशालों को कभी-कभी रात्रि पाठशाला का भी रूप दे दिया जाता है, जहां प्रौढ़, वृद्ध एवं छात्रेतर नागरिकों के लिए भी संस्कृत पठन-पाठन की व्यवस्था रहती है।

संस्कृत व्याकरण का आर्ष प्रणाली से अध्ययन–

आर्यसमाज ने संस्कृत व्याकरण की आर्ष पठन-पाठन प्रणाली पर विशेष रूप से ध्यान दिया है। स्वामी दयानन्द की यह मान्यता थी कि पाणिनीय अष्टाध्यायी और पातञ्जल महाभाष्य ही संस्कृत व्याकरण के मान्य और प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। अपने प्रचार काल में स्वामीजी इन्हीं ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन पर जोर देते थे। अपने द्वारा स्थापित संस्कृत पाठशालाओं में भी उन्होंने व्याकरण के पाठ्य ग्रन्थों में अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य को स्थान दिया था। स्वामी दयानन्द से ही प्रेरणा पाकर आर्यसमाज के प्रारम्भिक युग के लोगों ने अष्टाध्यायी क्रम से संस्कृत सीखने में असाधारण उत्साह प्रदर्शित किया। आर्यसमाज के इतिहास में इस बात का उल्लेख आता है कि पंजाब के लाला सांईदास तथा रायबहादुर मूलराज जैसे वयोवृद्ध आर्यसमाजी नेता, अपने जीवन के संध्याकाल में जब कि कुछ नया सीखने की आयु भी व्यतीत हो जाती है, पं० गुरुदत्त विद्यार्थी से अष्टाध्यायी का नियमित अभ्यास करते थे। जिनका सम्पूर्ण जीवन ही उर्दू और फारसी के वातावरण में व्यतीत हुआ, ऐसे पंजाब की पुरानी पीढ़ी के लोगों का आर्ष क्रम से संस्कृत व्याकरण पढ़ना चमत्कार जैसा लगता है।

अष्टाध्यायी पद्धति द्वारा संस्कृत भाषा के शिक्षण के लिए स्व० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने सराहनीय कार्य किया है। स्वयं इस पद्धति में दीक्षित होकर वे संस्कृत व्याकरण के तल–स्पर्शी विद्वान् बने। तत्पश्चात् उन्होंने अष्टाध्यायी पद्धति से संस्कृत शिक्षा का प्रचार करना ही अपने जीवन का एक मात्र लक्ष्य बना लिया। लाहौर, अमृतसर, काशी आदि अनेक नगरों में संस्कृत विद्यालयों का संचालन करते हुए वे अपने छात्रों को व्युत्पन्न बनाते रहे। प० युधिष्ठिर मीमांसक, पं० भद्रसेन आचार्य, पं० धर्मदेव निरुक्ताचार्य आदि शतशः शिष्यों को संस्कृत व्याकरण में व्युत्पन्न बनाना जिज्ञासुजी का ही ही कार्य था।[1] अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे वाराणसी में पाणिनीय संस्कृत महाविद्यालय का संचालन कर निःशुल्क संस्कृत शिक्षण का कार्य करते रहे। वाराणसी और दिल्ली में उन्होंने समय-समय पर संस्कृत शिक्षण शिविरों का भी आयोजन किया, जिनमें प्रौढ़ वय के सामान्य पठित व्यक्तियों को भी भी अल्पकाल में ही पाणिनीय पद्धति से संस्कृत भाषा का ज्ञान करा दिया जाता था। जिज्ञासुजी की संस्कृत अध्यापन प्रणाली इतनी लोकप्रिय हुई कि सैद्धान्तिक विषयों में मतभेद रखने वाले महामहोपाध्याय पं०

---

१. इस कार्य में श्री पं० शङ्करदेवजी का भी आरम्भ में सहयोग रहा।

गिरिधर शर्मा चतुर्वेद जैसे सनातनधर्मी विद्वानों ने भी उनकी शिक्षण प्रणाली को सराहा।[1] काशीस्थ पण्डित मण्डली भी जिज्ञासुजी की इस संस्कृत पाठन-प्रणाली की प्रशंसक रही। अष्टाध्यायी के सूत्रों के माध्यम से संस्कृत व्याकरण का सुगम ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से जिज्ञासुजी ने 'संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें संस्कृत व्याकरण को सुगम रीत्या प्रस्तुत किया गया है। अपने महान् संस्कृत शिक्षण कार्य के उपलक्ष्य में जिज्ञासुजी वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की सिण्डीकेट के सदस्य चुने गये तथा भारत के राष्ट्रपति ने उनको संस्कृत के महान् विद्वान् के रूप में सम्मानित किया।

संस्कृत परीक्षायें—संस्कृत को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने तथा जनसाधारण में संस्कृत के शिक्षण के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए आर्यसमाज की विभिन्न संस्थाओं ने संस्कृत भाषा और साहित्य की परीक्षाओं का आयोजन किया है। विरजानन्द संस्कृत परिषद् द्वारा इसी प्रकार की परीक्षाओं का संचालन होता है; जिनमें प्रतिवर्ष विभिन्न केन्द्रों से परीक्षार्थी सम्मिलित होकर लाभ उठाते हैं। स्व० पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा स्थापित स्वाध्याय मण्डल (पारडी) से भी संस्कृत भाषा और साहित्य की विभिन्न परीक्षायें संचालित होती हैं। संस्कृत भाषा परीक्षाओं में प्रारम्भिणी, प्रवेशिका, परिचय तथा विशारद परीक्षायें संस्कृत भाषा का क्रमशः ज्ञानार्जन करने की दृष्टि से आयोजित की गई हैं। इनके पाठ्यक्रम में पं० सातवलेकर रचित संस्कृत पाठमाला के १८ भाग क्रमशः निर्धारित किये गए हैं। इन परीक्षाओं को उत्तीर्ण कर संस्कृत से अनभिज्ञ एक सामान्य व्यक्ति भी संस्कृत का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर सकता है। संस्कृत के उत्कृष्ट साहित्य के अध्ययन को दृष्टि पथ में रख कर साहित्य कोविद, साहित्य-प्रवीण, साहित्य-रत्न और आचार्य चार परीक्षायें रखी गई हैं। इन परीक्षाओं में उच्चस्तरीय संस्कृत काव्य, गद्य, नाटक, व्याकरण, दर्शन, धर्मशास्त्र और वैदिक वाङ्मय के ग्रन्थ पाठ्यक्रम में निर्धारित किये गए हैं। इसी प्रकार गीता, उपनिषद् तथा वेद विषयक विभिन्न शास्त्रीय परीक्षाओं का संचालन भी स्वाध्याय मण्डल करता है। इस परीक्षाओं में सर्वोच्च 'आचार्य' परीक्षा है जिसमें उत्तीर्ण होने के लिए छात्र को कोई मौलिक शोध विषय लेकर उस पर उच्चस्तरीय विवेचनात्मक शोध प्रबन्ध लिखना पड़ता है।

---

१. अ० भा० संस्कृत साहित्य सम्मेलन के चित्तौड़गढ़ अधिवेशन (जनवरी १९५९) में महामहोपाध्याय जी का भाषण।

इन परीक्षाओं के अतिरिक्त भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद् तथा सार्वदेशिक विद्यार्य्य सभा के द्वारा भी कतिपय धार्मिक परीक्षाओं का संचालन होता है। इन परीक्षाओं में वेद, उपनिषद्, दर्शन तथा अन्य शास्त्रों के कतिपय उपयोगी और महत्त्वपूर्ण अंश पाठ्यक्रम में रखे जाते हैं। गुरुकुलों द्वारा संचालित परीक्षाओं में भी संस्कृत ग्रन्थों को पाठ्यक्रम में स्थान मिलता है।

संस्कृत पुस्तकालय—भाषा शिक्षण में पुस्तकालयों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। आर्य समाज ने संस्कृत भाषा के वृहत् पुस्तकालय स्थापित किये। पुस्तकालय आर्य समाज की दैनन्दिन प्रवृत्ति का एक महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। आर्यसमाज के पदाधिकारियों में 'पुस्तकाध्यक्ष' का पद भी रखा जाता है। प्रत्येक आर्यसमाज में धार्मिक और शास्त्रीय ग्रन्थों का पुस्तक संग्रह अनिवार्य रूपेण रहता है। इस पुस्तकालय में हिन्दी के धार्मिक आर्यसामाजिक साहित्य के अतिरिक्त वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृति, रामायण, महाभारत, गीता आदि शास्त्रीय ग्रन्थों का भी संग्रह रहता है। अनेक आर्यसमाजों के पुस्तकालय अत्यन्त विशाल हैं तथा उनमें संगृहीत ग्रन्थराशि उन्हें उत्कृष्ट कोटि का पुस्तकालय ठहराती है। इन पुस्तकालयों में संस्कृत के अलभ्य तथा दुर्लभ प्राचीन हस्तलेख एकत्रित किये गए हैं। डी० ए० वी० कालेज लाहौर का लालचन्द पुस्तकालय तथा आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का लाहौर गुरुदत्त भवन स्थित पुस्तकालय इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। संस्कृत ग्रन्थों की दृष्टि से श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट का वाराणसी स्थित पुस्तकालय, सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा का पुस्तकालय तथा स्वामी दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा का अजमेर स्थित वृहत् पुस्तकालय उल्लेखनीय हैं। गुरुकुलों के पुस्तकालयों में भी संस्कृत की विशाल ग्रन्थ सम्पत्ति संग्रहीत की गई हैं। गुरुकुल कांगड़ी का पुस्तकालय इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें कतिपय हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थों को सुरक्षित रखा गया है जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। अन्य गुरुकुलों में महाविद्यालय ज्वालापुर, वृन्दावन, झज्जर तथा चितौड़गढ़ के पुस्तकालय भी संस्कृत शोध कार्य की दृष्टि से नितान्त उपयोगी हैं। इनमें वेद, वेदांग, दर्शन, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, साहित्य तुलनात्मक धर्म तथा संस्कृत की अन्यान्य विधाओं से सम्बन्धित सहस्रों ग्रन्थ संगृहीत हैं। विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर, स्वाध्याय मण्डल (पारडी) तथा महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट टंकारा के विशाल पुस्तकालय संस्कृत शिक्षणार्थियों तथा शोध छात्रों को अध्ययन और अनुसंधान के लिए सब प्रकार की सुविधायें प्रदान करते हैं।

संस्कृत पाठ्य ग्रन्थ निर्माण कार्य--

संस्कृत शिक्षण को अधिकाधिक सरल और सुगम बनाने के लिए आर्यसमाज ने एक और महत्त्वपूर्ण कार्य किया—संस्कृत पाठ्यपुस्तकों का निर्माण।[1] उपयुक्त पुस्तकों के अभाव में किसी भी भाषा का प्रशिक्षण असम्भव ही है। आर्यसमाज ने अपनी शिक्षणसंस्थाओं के तत्त्वावधान में अनुभवी संस्कृत शिक्षा शास्त्रियों से भाषा और साहित्य विषयक पाठ्यग्रन्थ तैयार कराये। इन पाठ्यपुस्तकों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—भाषा शिक्षण विषयक पुस्तकें तथा साहित्य विषयक पाठ्य ग्रन्थ। यह लिख देना भी यहां अनुपयुक्त न होगा कि आर्यसमाज द्वारा निर्मित इन पाठ्य पुस्तकों से गुरुकुलों और विद्यालयों के छात्रों ने तो लाभ उठाया ही साथ ही संस्कृत सीखने के इच्छुक अनेक ऐसे प्रौढ़ और वयस्क लोगों ने भी लाभ उठाया, जो संस्कृत शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे, परन्तु जिनके लिए किसी विद्यालय या गुरुकुलों में जाकर नियमित शिक्षण लेना सम्भव नहीं था।

इन पाठ्य पुस्तकों को निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१. संस्कृत भाषा शिक्षण—सुगम और सरल रीत्या संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से अनेक पाठ्य पुस्तकें लिखी गईं। साथ ही संस्कृत व्याकरण विषयक नवीन ग्रन्थ भी लिखे गये तथा प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों का सम्पादन, व्याख्या, निर्माण आदि का कार्य हुआ।

२. संस्कृत साहित्य शिक्षण—साहित्य के गद्य और पद्य के द्विविध पाठ्योपयोगी ग्रन्थ बनाये गए तथा प्राचीन साहित्यक कृतियों का छात्रोपयोगी दृष्टि से सम्पादन किया गया।

यहां हम विस्तारपूर्वक इन पाठ्य पुस्तकों पर विचार करते हैं। संस्कृत भाषा के सुगम अध्ययन के लिए आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने ही सर्वप्रथम पाठ्य ग्रन्थों के निर्माण का उल्लेखनीय प्रयास किया था। उन्होंने संस्कृत वाक्यप्रबोध की रचना की तथा पठन-पाठन व्यवस्था के अन्तर्गत वेदांग प्रकाश के १४ भाग लिखकर प्रकाशित किये जिनसे संस्कृत व्याकरण का सुगम रीति से ज्ञान प्राप्त किया जा सके।

१. भाषा शिक्षण विषयक ग्रन्थ—संस्कृत भाषा को सीखने की

---

१. विद्यासभानिदेशेन ज्वालापुरीयगुरुकुलमहाविद्यालयस्थपण्डितैः संकलितम्।

दृष्टि से अन्य आर्यसमाजी विद्वानों ने जो पुस्तकें लिखीं उनमें निम्न लिखित महत्त्वपूर्ण हैं—

१. तुलसीराम स्वामी लिखित संस्कृत भाषा (४ भाग) बिना गुरु की सहायता लिये संस्कृत व्याकरण का साधारण बोध कराने, संस्कृत बोलने, लिखने तथा अनुवाद शिक्षा की दृष्टि से ये पुस्तकें लिखी गईं। स्वामी प्रेस मेरठ से उक्त पुस्तक के चारों भाग क्रमशः १९०४, १९०६, १९०९ तथा १९१० में छपे। चारों भागों के सब संस्करण मिलाकर लगभग १० लाख से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

२. गुरुकुल कांगड़ी के तत्त्वावधान में संस्कृत प्रवेशिका भाग १ (सम्पादक पं० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार) तथा भाग २ (सम्पादक पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति) का प्रकाशन हुआ। प्रथम भाग के अब तक १६ संस्करण छप चुके हैं। गुरुकुल कांगड़ी से ही 'संस्कृतस्य प्रथमपुस्तकम्' तथा 'संस्कृताङ्कुर' ये दो अन्य भाषा शिक्षा विषयक पुस्तकें छपीं। द्वितीय पुस्तक के लेखक पं० भीमसेन शर्मा थे।

३. गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर की विद्यासभा के आदेश से महाविद्यालय के पण्डितों ने 'संस्कृतसोपानम्' के तीन भाग तैयार किये। यह ग्रन्थ १९४३ ई० में प्रकाशित हुआ। महाविद्यालय के ही एक अन्य उपाध्याय पं० दलीपदत्त शर्मा ने ४ भागों में 'संस्कृतालोक' लिखा।

४. पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने संस्कृत शिक्षण की दृष्टि से 'संस्कृत स्वयं शिक्षक' (३ भाग) तथा संस्कृत पाठमाला (२४ भाग) लिखे। बिना किसी अध्यापक की सहायता लिये संस्कृत भाषा का अधिकृत ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से ये पुस्तकें अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई हैं। इन्हें स्वाध्याय मण्डल (पारडी) द्वारा संचालित संस्कृत भाषा परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में भी स्थान दिया है तथा अब तक इनके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

५. वेद संस्थान अजमेर के संस्थापक आचार्य विद्यानन्द विदेह ने संस्कृत शिक्षण के लिए संस्कृत स्वयं शिक्षण (२ भाग) तथा संस्कृत शिक्षा (२ भाग) लिखे हैं। संस्कृत शिक्षा के प्रथम भाग में वर्णोच्चारण तथा द्वितीय भाग में संधि विषय का विवेचन हुआ है।

इनके अतिरिक्त पं० जे० पी० चौधरी काव्यतीर्थ रचित सरल संस्कृत प्रवेशिका (२ भाग), आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री रचित संस्कृत प्रदीपिका, जीवराम उपाध्याय लिखित संस्कृत शिक्षा (६भाग) तथा बाल संस्कृत पाठ

प्रो० किशोरीलाल गुप्त लिखित संस्कृत प्रबोध (२ भाग) तथा पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु लिखित संस्कृत पठन पाठन की अनुभूत सरलतम विधि उल्लेखनीय है। अन्तिम पुस्तक में अष्टाध्यायी पद्धति से संस्कृत शिक्षण के सरल उपायों पर प्रकाश डाला गया है। गुरुकुल वृन्दावन के प्रधान संस्कृत अध्यापक पं० श्यामलाल शर्मा ने संस्कृत भाषा (द्वितीय श्रेणी) लिखी। स्वामी प्रेस मेरठ से इसका प्रकाशन १९७१ वि० (१९१४ ई०) में हुआ।

(२) संस्कृत व्याकरण के पाठ्य ग्रन्थ—

संस्कृत ज्ञान के लिए व्याकरण का अध्ययन अनिवार्य और अपरिहार्य है। व्याकरण को सदा ही संस्कृत पाठ्यक्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। संस्कृत व्याकरण के प्रमुख ग्रन्थों के पाठ्योपयोगी संस्करण तैयार करने में आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द और आर्यसमाजी विद्वानों एवं संस्थाओं का जो योगदान रहा है, उसका यत्किञ्चित् विवरण इस प्रकार है—

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द ने संस्कृत व्याकरण के प्रचार के लिए अष्टाध्यायी-भाष्य एवं भाषा के माध्यम से वेदाङ्ग प्रकाशों की रचना एवं प्रकाशन किया, यह पूर्व (पृष्ठ ६२-६७) लिखा जा चुका है। वर्तमान युग में आर्ष वाङ्मय के पुनरुद्धारक एवं स्वामी दयानन्द के गुरु स्वामी विरजानन्द सरस्वती ने भी शब्दबोध, वाक्य-मीमांसा तथा पाणिनीय-विवरण आदि ग्रन्थों की रचना की।[1]

(१) गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी ने छात्रोपयोगी दृष्टि से महर्षि पाणिनि कृत धातुपाठ (मूलमात्र सटिप्पण, सद्धर्म प्रचारक यन्त्रालय, जालन्धर से १९६३ वि० में मुद्रित) अष्टाध्यायी मूल तथा पं० गंगादत्त शास्त्री से दो भागों में अष्टाध्यायी की सरल संस्कृत में टीका लिखवा कर प्रकाशित की। इसके अतिरिक्त वेदांगप्रकाश के नासिक (गंगादत्त शास्त्री रचित), सन्धि विषय, आख्यातिक और स्त्रैणताद्धित के संस्कृत टीका और टिप्पणी सहित

---

१. शब्दबोध एवं वाक्य-मीमांसा ग्रन्थ आर्षयुग के आरम्भ होने से पूर्व लिखे थे। शब्दबोध अलवर के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। वाक्य-मीमांसा आदि ग्रन्थों को अष्टाध्यायी प्रक्रिया के आरम्भ करने पर अनार्षता के कारण यमुना में प्रवाहार्थ अपने किसी शिष्य को दिए थे, जिसने उन्हें यमुना में प्रवाहित न करके अपने पास रख लिया। [पाणिनीय-विवरण अथवा अष्टाध्यायी वृत्ति (जो स्वामी विरजानन्द के नाम से प्रसिद्ध की गई है) वस्तुतः स्वामी विरजानन्द-कृत नहीं है। रा० ला० कपूर ट्रस्ट के पुस्तकालय में वर्तमान उसकी प्रतिलिपि को हमने भले प्रकार देखा है। यु०मी०]

संस्करण प्रकाशित किये। महाभाष्य के पस्पशाह्निक तथा अंगाधिकार[1] आदि अनेक प्रकरणों को भी गुरुकुल से पृथक् पुस्तक रूपेण प्रकाशित किया गया। पं० धर्मदेव वेदवाचस्पति ने सरल धातुरूपावली और सरल शब्दरूपावली लिखी जो गुरुकुल से ही प्रकाशित हुई।

(२) गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर द्वारा चार भागों में अष्टाध्यायी भाष्य तथा शब्द-धातु-अध्यावलि का प्रकाशन हुआ।

(३) पं० जीवाराम उपाध्याय[2] ने लघुकौमुदी सिद्धान्तकौमुदी तथा अष्टाध्यायी पर संस्कृत तथा हिन्दी वृत्ति लिखी तथा स्वयं ही इन ग्रन्थों का मूल ग्रन्थों सहित प्रकाशन किया। अष्टाध्यायी भाष्य में मूल सूत्र, पदच्छेद, विभक्ति, वार्तिक, संस्कृत वृत्ति तथा भाषा वृत्ति का क्रम अपनाया गया है।

(४) पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने अष्टाध्यायी का मूल पाठ शुद्ध कर श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित किया। उन्होंने अष्टाध्यायी की संस्कृत तथा हिन्दी वृत्ति भी लिखी जो उक्त ट्रस्ट से प्रकाशित हुई। प्रौढ व्यक्तियों को संस्कृत का ज्ञान कराने के लिए अष्टाध्यायी के आधार से 'संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि' प्रकाशित की। जिज्ञासुजी के ही शिष्य पं० देवप्रकाश पातञ्जल ने अष्टाध्यायी का 'सुगम रीत्या ज्ञान' प्राप्त करने की दृष्टि से अष्टाध्यायी-प्रकाशिका लिखी। अभी-अभी शब्दों के रूपों का बिना रटे सरलता से ज्ञान कराने के लिए पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने 'शब्दरूपावली' छपवाई है। व्याकरण के इन पाठ्य ग्रन्थों से व्याकरण के अध्ययन में पर्याप्त सहायता मिली है।

(३) साहित्य पाठ संकलन—

संस्कृत साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से जो पाठ्य संकलन प्रस्तुत किये गए उनमें गुरुकुल कांगड़ी के तत्त्वावधान में तैयार किये गए ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है—

(१) साहित्य सुधा-संग्रह[3]—पं० भवानीप्रसाद और वागीश्वर विद्या-

---

१. महाभाष्यम्—अङ्गाधिकारः श्रीमत्पतञ्जलिमुनिना प्रणीतम् महामहोपाध्यायश्रीकैयटरचितप्रदीपव्याख्ययोपेतम्।

२. पं० जीवाराम शर्मा बलदेव आर्य संस्कृत पाठशाला, मुरादाबाद में मुख्याध्यापक थे।

३. १९८३ वि० में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की गीर्वाणवाणी ग्रन्थावली के अन्तर्गत प्रकाशित।

लंकार ने तीन भागों में यह संग्रह तैयार किया। प्रथम भाग में अथर्ववेद, ऐतरेय, शतपथ और गोपथ, ब्राह्मण, कठ और बृहदारण्यक उपनिषद्, रामायण, गीता, महाभाष्य, चरक, रघुवंश, कुमारसम्भव तथा अश्वघोष रचित बुद्धचरित के अंश संकलित किये गए हैं। द्वितीय भाग में यजुर्वेद, भासकृत दूतवाक्य नाटक, गीता शूद्रक रचित मृच्छकटिक नाटक, सुबन्धु कृत वासवदत्ता, बाण रचित हर्षचरित तथा कादम्बरी के कतिपय अंश लिये गए हैं। अन्तिम भाग में प्रसन्नराघव, अनर्घराघव, भवभूति रचित उत्तररामचरित, भर्तृहरिशतक, विशाखदत्त के मुद्राराक्षस, कृष्णमित्र के 'प्रबोधचन्द्रोदय' तथा कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक के पाठ्योपयोगी अंश संगृहीत किये गए हैं।

(२) बाल नीतिकथामाला[1]—इसमें हितोपदेश, पञ्चतन्त्र आदि की नीति-विषयक कथाओं को सरल भाषा में संगृहीत किया गया है।

(३) काव्य-लतिका—इसमें रघुवंश किरातार्जुनीय, शिशुपालवध भट्टिकाव्य आदि के उत्तमोत्तम भागों को संगृहीत किया गया है। इसके सम्पादक पं० भीमसेन शर्मा थे। इनके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य पाठावली भी तैयार की गई।

आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध संन्यासी स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने 'संस्कृत कथामञ्जरी' और 'संस्कृताङ्कुर' शीर्षक पाठ्य पुस्तकें लिखीं। विरजानन्द संस्कृत परिषद् की परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में इन्हें पाठ्य पुस्तकों के रूप में स्वीकार किया गया। आचार्य मेधाव्रत ने 'संस्कृत-सुधा' शीर्षक संग्रह तैयार किया। इसका प्रथम संस्करण साहित्य-भवन, बड़ौदा से तथा द्वितीय संस्करण स्वाध्याय मण्डल (पारडी) से प्रकाशित हुआ। पं० भवानीप्रसाद ने विद्यार्थियों के पठनार्थ 'चारुचरितावली' शीर्षक जीवनी ग्रन्थ लिखी, जिसमें बुद्ध, शंकर, यीशु ख्रीष्ट, मुहम्मद, कबीर, नानक और दयानन्द इन सात महापुरुषों का जीवनवृत्त संकलित किया गया है।

ग्रन्थ सम्पादन कार्य—संस्कृत के प्राचीन साहित्य ग्रन्थ पाठ्यक्रम में रखे जाते हैं। आर्यसमाजी शिक्षण-संस्थाओं तथा शिक्षाविदों ने इनके अनेक उपयोगी संस्करण छात्रों के लाभ की दृष्टि से तैयार किये हैं। यहां ऐसे ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है—

---

१. गुरुकुलमुख्याधिष्ठातृमहोदयनिदेशेनगुरुकुलस्थपण्डितैः संकलिता १९८२ वि०।

१. गुरुकुल कांगड़ी से जो प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए उनमें निम्न उल्लेखनीय हैं—

(१) हितोपदेश का संशोधित गुरुकुलीय संस्करण।
(२) पञ्चतन्त्र का संशोधित संस्करण—पं० विष्णुमित्र द्वारा सम्पादित और १९८१ वि० में दो भागों में प्रकाशित।
(३) भर्तृहरि-कृत नीतिशतक का संशोधित पाठ्योपयोगी संस्करण।

२. डी० ए० वी० कालिज, लाहौर से रामायण संग्रह छपा। इसमें वाल्मीकीय रामायण के पाठ्योपयोगी स्थलों का संग्रह किया गया था। यहीं से मनु-स्मृति-संग्रह शीर्षक एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ जिसमें मनुस्मृति के कुछ अंशों को पाठ्यक्रम की दृष्टि से संकलित किया गया।

३. पं० जीवाराम उपाध्याय ने निम्न संस्कृत ग्रन्थों के पाठ्योपयोगी संस्करण तैयार किये—(१) रामायण और महाभारत के संक्षिप्त संस्करण (२) विद्यापति कृत पुरुष-परीक्षा (१९८१ वि० में प्रकाशित) (३) भर्तृहरि कृत नीतिशतकम् (१९८३ वि० में प्रकाशित) (४) हितोपदेश–छात्रबोधिनी टीका (१९८२ वि० में प्रकाशित) (५) पञ्चतन्त्र (६) रघुवंश-सर्ग चतुष्टयम्-छात्रबोधिनी टीका (७) मेघदूत (८) किरातार्जुनीयम्–आद्य सर्ग त्रयम् (९) शिशुपालवधम्-सर्गद्वयम् (१०) श्रुतबोधः सतिलकम् (११) चाणक्य-नीति (१२) तर्क संग्रह (भाषा टीका) (१३) न्यायबोधिनी (१४) हलायुध प्रणीत कविरहस्यम् (१५) विदुरनीति (सरस्वती प्रेस, मुरादाबाद से १९३५ ई० में प्रकाशित)। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त जीवाराम उपाध्याय ने अमरकोष और सरस्वती कोष के सम्पादित संस्करण तैयार किये तथा 'संस्कृत पत्र प्रबोध' की रचना की।

संस्कृत की उच्चस्तरीय शिक्षा के पाठ्यक्रम में रखे जाने वाले संस्कृत के कालजयी (Classical) ग्रन्थों का सम्पादन, व्याख्या लेखन आदि का कार्य भी उन आर्यसमाजी विद्वानों ने किया है जो उच्च शिक्षण संस्थाओं में अध्यापन का कार्य करते रहे हैं। डी० ए० वी० कालेज, कानपुर के संस्कृत विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डा० हरिदत्त शास्त्री ने महाकवि अश्वघोष और उनका काव्य, वरदम्बिका-परिणय चम्पू टीका, विक्रमांकदेव-चरित की टीका, प्रचण्ड-पाण्डव की टीका आदि ग्रन्थ लिखे। उन्होंने ऋक्सूक्त संग्रह शीर्षक से ऋग्वेद के कतिपय पाठ्योपयोगी सूक्तों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुये एक उपयोगी मन्त्र-संग्रह प्रस्तुत किया। राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग

के रीडर, डा० सुधीरकुमार गुप्त के मेघदूत टीका, विश्रुतचरित टीका (दण्डी के दशकुमारचरित के आठवें उच्छ्वास की व्याख्या), संक्षिप्त दशकुमार चरित, भासकृत स्वप्नवासवदत्ता नाटक तथा श्रीहर्ष रचित नागानन्द नाटक के सरल अध्ययन इसी कोटि के ग्रन्थ हैं।

संस्कृत भाषा के प्रचारार्थ कार्य का विवरण—अब तक हमने संस्कृत भाषा के शिक्षण और अध्ययन के लिये किए गए आर्यसमाज के प्रयत्नों का विचार किया। अब आर्यसमाज द्वारा संचालित उन प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जायगा जिनसे संस्कृत भाषा के प्रचार में सहायता मिली है। संस्कृत भाषा को जनव्यापी बनाने के लिए आर्यसमाज ने आधुनिक युग के मुख्य प्रचार साधनों—प्रेस और मञ्च का उपयोग किया है। सर्वप्रथम हम आर्यसमाज के तत्त्वावधान में प्रकाशित संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं का विवरण प्रस्तुत करते हैं—

संस्कृत पत्र पत्रिकायें—

(१) **ऊषा**—गुरुकुल कांगड़ी के प्रथम स्नातक श्री हरिश्चन्द्र विद्यालंकार के सम्पादकत्व में इस संस्कृत मासिक पत्रिका का प्रकाशन १९१३ ई० में प्रारम्भ हुआ। १९१६ में पत्रिका बन्द हो गई, पुनः १९१८ में चालू हुई और १९२० तक निकलती रही। इस काल में इसके सम्पादक पं० शशिभूषण विद्यालंकार रहे। ४८ पृष्ठों के कलेवर की इस पत्रिका में काव्य, गीत, समीक्षा, शास्त्र-चर्चा, निबन्धादि छपते थे। गुरुकुल के अध्यापकों तथा छात्रों की संस्कृत रचनायें इस पत्रिका में प्रमुख स्थान प्राप्त करती थीं। प्रयाग से प्रकाशित होने वाली संस्कृत मासिक पत्रिका शारदा ने 'ऊषा' की प्रशस्ति में लिखा था—
"इमामुषामवलोक्य सञ्जातः कोऽपि मधुरो हृदि मनोरथाङ्कुरः।"

(२) **देववाणी**—गुरुकुल कांगड़ी के संस्कृत विभाग के तत्त्वावधान में 'संस्कृतोत्साहिनी' नाम की सभा १९१८ ई० में स्थापित हुई। इस सभा की मासिक मुख पत्रिका के रूप में एक हस्तलिखित पत्रिका देववाणी १९१८ ई० में संस्कृत में प्रकाशित होने लगी। संस्कृत की सरस रचनायें इस पत्रिका में स्थान प्राप्त करती थीं। द्रव्याभाव के कारण यह पत्रिका मुद्रित होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सकी। देवभिक्षु उपाधिधारण करने वाले श्री भीमसेन इसके सम्पादक थे।

(३) **गुरुकुल-पत्रिका**—गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी की मासिक मुख पत्रिका 'गुरुकुल पत्रिका' का प्रकाशन १९४८ ई० में प्रारम्भ हुआ। अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में यह हिन्दी की ही पत्रिका थी, परन्तु १९६० ई०

में इसे संस्कृत पत्रिका में परिवर्तित कर दिया गया। उस समय इसके सम्पादक आर्यसमाज के मूर्धन्य संस्कृत विद्वान् पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड थे। १९६३ में इसमें संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी रचनायें भी स्थान प्राप्त करने लगीं। सम्प्रति इसके सम्पादक गुरुकुल कांगड़ी के शोध विभाग के अध्यक्ष पं० भगवद्दत्त वेदालंकार हैं। पत्रिका में वेद, दर्शन, धर्म, अध्यात्म आदि विविध विषयों पर रोचक एवं ज्ञानवर्धक सामग्री संस्कृत के माध्यम से प्रस्तुत की जाती है। गुरुकुल के छात्रों को भी अपनी विकासमान लेखन-प्रतिभा को प्रकाश में लाने का उपयुक्त अवसर इस पत्रिका ने प्रदान किया है। निबन्ध, कविता, कहानी, एकांकी, समालोचना आदि संस्कृत साहित्य की विविध विधाओं से सम्बद्ध रचनायें भी गुरुकुल पत्रिका में स्थान प्राप्त करती हैं। इनके अतिरिक्त नवप्रकाशित ग्रन्थों की समीक्षा (Book Review) तथा सामयिक समस्याओं पर विचारोत्तेजक सम्पादकीय लेख भी पत्रिका के आकर्षण की वृद्धि करते हैं। गुरुकुल पत्रिका ने समय-समय पर विशिष्ट विषयों पर विशेषांक भी प्रकाशित किये हैं जिनमें विष्णु अंक (भाद्रपद २०२१ वि०), शिक्षा अंक (फाल्गुन चैत्र २०२० वि०), वेदांक (भाद्रपद २०२२ वि०) तथा वेदाविमर्शाङ्क (भाद्रपद २०२३ वि०), वेदाङ्क (भाद्रपद २०२४ वि०) तथा वेद-दर्शन अंक (भाद्रपद २०२५ वि०) उल्लेखनीय हैं। इस पत्रिका में इन्द्र विद्यावाचस्पति रचित भारतैतिह्यम्, डा० मंगलदेव शास्त्री रचित रश्मिमाला, द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री रचित स्वराज्यविजय महाकाव्य तथा पं० जयदत्त शास्त्री रचित सिद्धान्तशतकम् एवं श्री चैतन्य लिखित श्रीचैतन्यनीति-शतकम् जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थ धारावाही रूप से छपे हैं।

(४) **भारतोदय**—गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर का यह मासिक प्रमुख पत्र है। इसका प्रथम प्रकाशन ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमा १९६३ वि० (१९०९ ई०) को हुआ। इसके प्रथम सम्पादक हिन्दी के सुप्रसिद्ध समालोचक और संस्कृत के विद्वान् पं० पद्मसिंह शर्मा थे। तब से अब तक यह पत्र बीच-बीच में कई बार बन्द हुआ और कई बार पुनः प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ। अब आठ वर्षों से यह पुनः डा० हरिदत्त शास्त्री[1] के सम्पादन में प्रकाशित होने लगा है। पं० भीमसेन शर्मा (आगरा निवासी) रचित निम्न पद्य इस पत्र का सिद्धान्त वाक्य (Motto) है—

निशम्यतां लेखललामसञ्चयप्रकाशने येन कृतोऽतिनिश्चयः।
गृहीतसद्धर्मविशेषसंश्रयश्चकास्ति सोऽयं भुवि 'भारतोदयः'॥

---

१. १९३६ ई० में पं० हरिदत्त शास्त्री ने आगरा से 'कालिन्दी' नामक एक त्रैमासिक संस्कृत पत्रिका प्रकाशित की थी।

कविरत्न अखिलानन्द शर्मा ने इस पत्र की प्रशस्ति में कई संस्कृत पद्य लिखे थे। सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त शर्मा तथा पं० हरिशंकर शर्मा भी इस पत्र के सम्पादक रहे थे।

भारतोदय में महाविद्यालय के छात्रों की रचनाओं के अतिरिक्त संस्कृत के अन्य आर्यसमाजी तथा आर्यसमाजेतर विद्वानों की रचनायें भी प्रकाशित होती हैं। उदाहरणार्थ ब्रह्मचारी सुरेशचन्द्र लिखित रक्षाबन्धनम्[1] तथा ब्रह्मचारी आत्मानन्द रचित कृष्णोत्सवः[2] जैसे लघु निबन्धों के अतिरिक्त स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक लिखित 'अथर्ववेदेऽतिथये मांसभोजनसमर्पणसंदेहस्य विवेचनम्'[3], पं० विद्यानिधि शास्त्री रचित 'वैदिकशब्दानामनेकार्थकत्वम्'[4] तथा पं० दीनानाथ शर्मा शास्त्री सारस्वत लिखित 'किं महिदासः शूद्र आसीत्'[5] जैसे गम्भीर शास्त्रीय लेखों का उल्लेख किया जा सकता है। भारतोदय में संस्कृत की लघु-कवितायें भी प्रकाशित होती हैं।

(५) विद्वत्कला—ज्वालापुर महाविद्यालय के उच्चश्रेणी के छात्रों की विद्वत्कला परिषद् की यह हस्तलिखित मासिक प्रमुख पत्रिका थी। ब्रह्मचारी शिवदत्त शर्मा और ब्रह्मचारी सच्चिदानन्द शर्मा इसके सम्पादक थे। छात्रों की रचनायें इसमें प्रमुख स्थान पाती थीं।

(६) अमृतलता—स्वाध्याय मण्डल (पारडी) से पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के सम्पादन में संस्कृत की यह त्रैमासिक पत्रिका गत ४ वर्षों से प्रकाशित हो रही है। इसके परामर्शदातृ-मण्डल में महामहोपाध्याय पं० दत्तोवामन पोतदार, डा० मंगलदेव शास्त्री, स्वामी भगवदाचार्य तथा डा० सुधीरकुमार गुप्त जैसे ख्यातिप्राप्त संस्कृत विद्वान् हैं। अमृतलता में गम्भीर विवेचनात्मक लेखों के अतिरिक्त हलके-फुलके ललित निबन्ध, एकांकी नाटक तथा कवितायें भी प्रकाशित होती हैं। विश्ववृत्तम्, नीरक्षीर-विवेक (नव प्रकाशित ग्रन्थों की समालोचना) जैसे स्थायी स्तम्भ इस पत्रिका की विशेषतायें हैं। पत्रिका के परिशिष्ट में संस्कृत-भाषा का सुगम रीति से ज्ञान प्राप्त करने हेतु भाषा शिक्षण के पाठ भी रहते हैं।

---

१. भारतोदय—आश्विन कार्तिक २०२३ वि०।
२. " आश्विन कार्तिक २०२२ वि०।
३. " पौष २०२३ वि०।
४. " मार्गशीर्ष २०२३ वि०।
५. " पौष २०२३ वि०।

संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशन संस्थान—संस्कृत-भाषा और उसके साहित्य के प्रचार में आर्यसमाज के पुस्तक-प्रकाशन संस्थानों का योगदान भी महत्त्वपूर्ण है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द ने अपने निजी वैदिक यन्त्रालय की स्थापना भी इसी ध्येय की पूर्ति हेतु की थी। स्वामीजी के पत्रों से यह विदित होता है कि इस यन्त्रालय को स्थापित करने में उनका मुख्य प्रयोजन वैदिक-शास्त्रों को सर्वजन सुलभ बनाना था।[1] वे इसे संस्कृत-शास्त्र ग्रन्थों के प्रकाशन का प्रमुख केन्द्र बनाना चाहते थे। अविभाजित पंजाब की राजधानी लाहौर भी एक समय संस्कृत-विद्या का केन्द्र थी। आर्यसमाज का प्रमुख साहित्यिक गति-विधियों का संचालन भी लाहौर से ही होता था। विरजानन्द प्रेस, लाहौर से चारों वेदों की मूल संहितायें दुरंगी छपाई में प्रकाशित हुई।[2] मास्टर दुर्गाप्रसाद कृत ऋग्वेद के पर्याप्त अंश का अंग्रेजी भाषान्तर[3] भी यहीं से छपा। इसी प्रेस से वैशेषिक दर्शन पर प्रशस्तपाद का पदार्थधर्म-संग्रह[4] भी प्रकाशित हुआ।

आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् संन्यासी स्वामी दर्शनानन्द ने अपने संन्यासपूर्व जीवन में, जब वे पं० कृपाराम शर्मा के नाम से जाने जाते थे, काशी में तिमिरनाशक प्रेस की स्थापना की। यहां से उन्होंने संस्कृत-व्याकरण के काशिका और महाभाष्य जैसे ग्रन्थ प्रकाशित कर छात्रों को अल्प मूल्य में दिये जो अन्यत्र छपे प्रकाशन संस्थानों से अधिक मूल्य पर उपलब्ध होते थे। पं० कृपाराम ने अपने इसी प्रेस से वैशेषिक उपस्कार, न्याय (वात्स्यायन-भाष्य), योगदर्शन (व्यास-भाष्य), सांख्यदर्शन (विज्ञानभिक्षु कृत प्रवचन-भाष्य और अनिरुद्ध वृत्ति सहित) कात्यायन श्रौत-सूत्र (मूल मात्र) पारस्कर गृह्य-सूत्र

---

१. इसका उल्लेख इसी ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय (पृष्ठ ८३) में हो चुका है।

२. ऋग्वेदसंहिता ऋषिदेवताछन्दस्वरपूर्विका बहुसंहितानुसारेण संशोधिता लवपुरे विरजानन्दयन्त्रालये १९६६ विक्रमाब्दे मुद्रिता च। साम संहिता के मुखपृष्ठ पर मुद्रण काल वि० सं० १९४६ अङ्कित हैं।

३. इस ग्रन्थ के कई भाग श्रीमद्दयानन्द पुस्तकालय, गुरुकुल चित्तौड़गढ़ में विद्यमान हैं। यह ग्रन्थ अब दुर्लभ ग्रन्थों की श्रेणी में समझा जाता है।

४. "वैशेषिकदर्शनस्य प्रशस्तपादभाष्यम्—महामुनिगोतमाचार्येण विरचितम्। श्रीयुतपण्डितलेखरामेण महत्परिश्रमेणान्वेष्य श्रीमत्पण्डितगणेशदत्तशास्त्रिणः सकाशादानीतम्। लवपुरे विरजानन्दयन्त्रालये मुद्रितम्।" स्वामी दयानन्द के ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के निर्देशानुसार इस ग्रन्थ को गोतममुनि प्रणीत कहा गया है। द्र० पूर्व पृष्ठ ११९ टि० १।

(मूल मात्र) तथा सामवेद संहिता[1] आदि-आदि अनेक ग्रन्थ भी प्रकाशित किये।

अथर्ववेद का एक संशोधित संस्करण स्वामी दयानन्द के भक्त बम्बई निवासी श्री सेवकलाल कृष्णदास ने लीथो में छपवाया था।[2]

आर्यसमाज के वर्तमान प्रकाशन संस्थानों में विश्वेश्वरानन्द वैदिकशोध संस्थान, साधु आश्रम होशियारपुर[3], स्वाध्याय मण्डल (पारडी)[4], गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली तथा आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर आदि प्रमुख हैं। आर्य साहित्य मण्डल ने मूल वेद संहिताओं के अतिरिक्त चारों वेदों का सरल हिन्दी-भाष्य प्रकाशित किया। प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं के अन्तर्गत भी पृथक्-पृथक् साहित्य विभाग है जहां से वैदिक और संस्कृत-साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन होता है। ऐसे साहित्य विभागों में आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब का चमूपति साहित्य विभाग, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा का महात्मा हंसराज साहित्य विभाग तथा उत्तर-प्रदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभा का घासीराम प्रकाशन विभाग उल्लेखनीय है।

जहां तक संस्कृत-भाषा के प्रचारार्थ आन्दोलनात्मक प्रणाली को क्रियान्वित करने का प्रश्न है, आर्यसमाज ने इस क्षेत्र में भी पर्याप्त कार्य किया है। संस्कृत के पक्ष में जन-मानस को आकृष्ट करने तथा उसके प्रति लोगों में अधिकाधिक रुचि उत्पन्न करने के लिए आर्यसमाज सदा से क्रियाशील रहा है। आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सवों, प्रतिनिधि सभाओं के वार्षिक सम्मेलनों, गुरुकुलों के वार्षिक महोत्सवों तथा अखिल भारतीय एवं अन्ताराष्ट्रिय स्तर पर आयोजित होने वाले आर्य महासम्मेलनों के अवसरों पर संस्कृत सम्मेलनों का आयोजन किया जाता रहा है। इन सम्मेलनों में आर्य समाजेतर विद्वानों को

---

१. इस ग्रन्थ की एक दुर्लभ प्रति इस ग्रन्थ के लेखक के पुस्तकालय में है।

२. अथर्ववेद संहिता भानुशालिवंशोद्भव कृष्णदास सुत सेवकलालेन परिशोधितम्।

(Edited by Sevaklal Karsandas Bombay. Printed at Satyanarayan Press 1834.)

३. इस संस्थान के प्राण आचार्य विश्वबन्धु का आर्यसमाज से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

४. स्वाध्याय मण्डल के संस्थापक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के कृतित्व के पीछे स्वामी दयानन्द की प्रेरणा कार्य करती थी।

भी आमन्त्रित किया जाता है तथा संस्कृत-भाषा के व्यापक प्रचार हेतु अपनाये जाने वाले साधनों पर गम्भीरता पूर्वक विचार होता है।

गुरुकुलों के उत्सवों पर छात्रों में संस्कृत के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए वाद-विवाद प्रतियोगिता, भाषण प्रतियोगिता, अन्त्याक्षरी प्रतियोगिता तथा सरस्वती सम्मेलन आयोजित किये जाते हैं। इन सरस्वती सम्मेलनों में भाग लेने वाले छात्र वेदों के सस्वर पाठ का भी प्रदर्शन करते हैं। गुरुकुलों के ये सरस्वती सम्मेलन जहां छात्रों में संस्कृत के प्रति रुचि उत्पन्न करते हैं, वहां सामान्य लोगों में भी संस्कृत के प्रति उत्साह जागृत करने में सहायक होते हैं। गुरुकुल कांगड़ी में संस्कृत की उन्नति हेतु संस्कृत साहित्य परिषद् का संगठन किया गया था, जिसमें प्रतिवर्ष प्रतिष्ठित संस्कृत विद्वानों को महत्त्वपूर्ण विषयों पर संस्कृत निबन्ध पाठ के लिए आमन्त्रित किया जाता था। छात्रों में संस्कृत-भाषण के अभ्यास हेतु संस्कृतोत्साहिनी तथा देव-गोष्ठी जैसी सभाओं का आयोजन किया जाता रहा है, जिनके तत्त्वावधान में संस्कृत साहित्य सम्मेलन, संस्कृत कवि सम्मेलन आदि आयोजित होते रहे हैं।

निश्चय ही भारत के जनमानस में संस्कृत को सुप्रतिष्ठित करने के लिए आर्यसमाज का प्रयास सर्वथा स्तुत्य और श्लाघनीय रहा है।

उपसंहार

आर्यसमाज की संस्कृत सेवा–प्रभाव और प्रतिक्रिया—पुनर्जागरण के सर्वाधिक सशक्त और प्रभावशाली आन्दोलन आर्यसमाज के द्वारा संस्कृत-भाषा और साहित्य की उन्नति और प्रगति में जो महत्त्वपूर्ण योगदान मिला है, उसका सम्यक् आकलन उपर्युक्त अध्यायों में किया जा चुका है। वस्तुतः आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द का उद्देश्य वेद-प्रतिपादित आर्य-सभ्यता और आर्यसंस्कृति को उसके अविकृत रूप में पुनः स्थापित करना था। इसी ध्येय की पूर्ति के लिए स्वामीजी ने अपने देशवासियों का ध्यान वेदों पर केन्द्रित किया। उनका सुदृढ़ विश्वास था कि भारतीय आर्य-संस्कृति में जो कुछ सत्य, शिव और सुन्दर है उसका मूल उत्स वेद ही हैं। इसीलिए स्वामी दयानन्द ने वेदों को समस्त सत्य विद्याओं का आकार ग्रन्थ घोषित किया। वेद के साथ-साथ वेद-प्रतिपादित जीवन-दर्शन का आख्यान करने वाले संस्कृत साहित्य के अभ्युत्थान की ओर आर्यसमाज का ध्यान अनिवार्यतः आकृष्ट हुआ।

वेद-प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुसार अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्ति और परिवर्तन लाना उस युग के आर्यसमाजियों के लिए एक आवश्यक और पुनीत कर्त्तव्य था। वर्णाश्रम-व्यवस्था का स्वीकार वैदिक जीवन-दर्शन की एक अनिवार्य फलश्रुति थी। एक विशिष्ट जीवन-पद्धति के विकास हेतु वर्णाश्रम व्यवस्था को आर्यसमाज ने अपने सामाजिक-दर्शन के रूप में स्वीकार किया। यद्यपि विद्यमान परिस्थितियों में वर्ण-व्यवस्था को अपने आदर्श और अविकृत रूप में पुनः स्थापित करना कोई सहज कार्य नहीं था, परन्तु इसकी पूरक आश्रम जीवन-प्रणाली को पुनरुज्जीवित करने की द्रुत गति से चेष्टा की गई। पुरातन संस्कृत शिक्षण-प्रणाली को क्रियान्वित करने के लिए गुरुकुलों की स्थापना की गई तथा गुरुकुलों में छात्रों और उपाध्यायों के पारस्परिक सम्पर्क और सहयोग पर बल देते हुए उन्हें आदर्श शिक्षण संस्थानों के रूप में विकसित करने का प्रयत्न किया गया। गुरुकुल-जीवन को ब्रह्मचर्य आश्रम की आधार शिला बनाया गया और यह आशा प्रकट की गई कि जो छात्र स्नातक बनकर इन गुरुकुलों से निकलेंगे वे देश, जाति और धर्म के आदर्श सेवक बन सकेंगे।

कहना नहीं होगा कि आर्यसमाज के कार्यों और प्रवृत्तियों, उसकी मान्यताओं और सिद्धान्तों का देशव्यापी प्रभाव पड़ा है। प्रस्तुत विवेचन में आर्यसमाज के संस्कृत-विषयक कार्य के प्रभावों का आकलन करने के साथ-साथ हम उन प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करेंगे जो आर्यसमाज के कतिपय क्रान्तिकारी मन्तव्यों ने धर्म और समाज के क्षेत्र में उत्पन्न कीं। निश्चय ही हमारा यह प्रभाव और प्रतिक्रिया विषयक अध्ययन संस्कृत से ही सम्बद्ध होगा। आर्यसमाज की वेद-विषयक दृष्टि की चर्चा प्रसंगवशात् शोध प्रबन्ध के पञ्चम अध्याय में की जा चुकी है। अपने धर्मान्दोलन के सुनिश्चित आधार के रूप में स्वीकार कर लिये जाने के पश्चात् स्वामी दयानन्द के लिए यह आवश्यक था कि वे वेद के उन रहस्यों का उद्घाटन करते जो शताब्दियों से अज्ञान, अनध्याय और अनास्था की तमिस्रा से आच्छन्न रहने के कारण तथा कथित वैदिक धर्मियों के लिये भी सर्वथा अपरिचित या अल्प परिचित रह गए थे। वेद-विषयक स्वामी दयानन्द के मन्तव्यों का परवर्ती आर्यसमाजेतर वैदिक विद्वानों पर जो प्रभाव पड़ा, उसका विचार करना भी आवश्यक है।

इसी प्रकार आर्यसमाज की कतिपय धार्मिक और सामाजिक क्रान्तिकारिणी मान्यताओं की प्रतिक्रिया के रूप में पुरातन और परम्परा प्राप्त आस्थाओं, विश्वासों और रूढ़ियों को याथातथ्य रूप में सुरक्षित रखने का जो

आन्दोलन सनातनधर्म आन्दोलन के नाम से संचालित किया गया उसमें भी आर्यसमाज के प्रगतिशील और युगानुवर्ती स्वर को दबाने का ही प्रयत्न अधिक था। सनातनधर्म आन्दोलन के पुरस्कर्ताओं ने पदे-पदे आर्यसमाज के मन्तव्यों और सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए जो विपुल खण्डनात्मक साहित्य लिखा, उसका भी संस्कृत से सम्बन्ध रहा है। यह खण्डनात्मक साहित्य हिन्दी के साथ-साथ संस्कृत-भाषा में भी लिखा जाताथा। प्रकारान्तर से आर्यसमाज के विरोध ने भी संस्कृत-भाषा की खण्डनात्मक शैली को ही पुष्ट किया।

सनातनधर्मी नेताओं ने आर्यसमाज के मन्तव्यों के खण्डन का ध्वंसात्मक विसंवादी स्वर तो अपनाया ही, परन्तु उनकी यह प्रतिक्रिया संस्कृत-शिक्षण के क्रियात्मक और रचनात्मक पक्ष में भी फलवती हुई। आर्यसमाज के अनुकरण पर ही सनातनधर्मी क्षेत्रों में भी गुरुकुल स्थापना पूर्वक संस्कृत शिक्षण के पुनरुत्थान का श्लाघनीय प्रयास हुआ। प्रभाव और प्रतिक्रिया का यही प्रगतिशील स्वर सनातन-धर्मियों के अतिरिक्त जैन मतावलम्बियों में भी दिखाई पड़ा और उसका कारण भी आर्यसमाज का एतद् विषयक कार्य माना जा सकता है।

फलतः हमारा यह उपसंहारात्मक विवेचन निम्न विन्दुओं के अन्तर्गत समाविष्ट होगा—

(१) स्वामी दयानन्द की वेद-विषयक मान्यताओं का परवर्ती वैदिक विद्वानों पर प्रभाव।

(२) आर्यसमाज की प्रतिक्रिया स्वरूप सनातनधर्मी विद्वानों द्वारा रचित संस्कृत-साहित्य।

(अ) शास्त्रीय साहित्य।

(आ) आर्यसमाज की आलोचना और खण्डन में लिखा गया संस्कृत साहित्य।

(३) संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज के गुरुकुलों के अनुकरण पर खोले गए ऋषिकुल विद्यालय।

(४) जैन गुरुकुलों की स्थापना।

हम इन बातों पर क्रमशः विचार करेंगे।

वैदिक धर्म की पुनः अभिवृद्धि स्वामी दयानन्द का लक्ष्य था। इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु वैदिक विचारधारा को जनसाधारण के समक्ष सुस्पष्टरूप से प्रस्तुत करना आवश्यक था। यह तब तक असम्भव था जब तक कि वेदों का

तात्पर्य ज़नसमाज के सम्मुख न आ जाय। फलतः वेदों पर भाष्य-रचना का कार्यक्रम स्वामीजी ने अपनाया। वेद-भाष्य लेखन एक निश्चित पद्धति के अनुसार प्रारम्भ हुआ। यह पद्धति थी यास्क द्वारा प्रतिपादित वेदार्थ की नैरुक्त प्रक्रिया। वेदार्थ-चिन्तन तथा वेदार्थ-विश्लेषण के शताब्दियों तक विस्तृत युग में नैरुक्त, याज्ञिक, ऐतिहासिक आदि अनेक शैलियां विकसित हुईं।[1] स्वामी दयानन्द ने अपनी भाष्य-प्रक्रिया को मुख्यतः ब्राह्मण ग्रन्थों में दिये गए व्युत्पत्ति मूलक अर्थ तथा निरुक्त में प्रदर्शित निरुक्ति-मूलक व्याख्या तक ही सीमित रखा। यद्यपि सायण आदि वेद के मध्यकालीन भाष्यकारों ने भी वेदार्थ में यत्र-तत्र नैरुक्त-प्रक्रिया का आश्रय लिया है तथापि वे वेदों का मुख्य प्रयोजन यज्ञों की सिद्धि में ही मानते हैं। उनके लिए प्रत्येक मन्त्र का याज्ञिक विनियोग प्रदर्शित करना आवश्यक हो गया है। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द वेदों को यज्ञ-मीमांसा तक ही सीमित न रखकर उन्हें समस्त परा और अपरा विद्या का आकर एवं ज्ञान-राशि का मूल कोश मानते हैं। अतः वे वेदमन्त्रों का अर्थ करते समय याज्ञिक प्रक्रियाओं तक ही उसके तत्त्व को परि-सीमित न कर मन्त्र का अधिदैव, अधिभूत तथा अध्यात्म-गत अर्थ करने पर जोर देते हैं। वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया यद्यपि स्वामीजी के समकालीन वेदज्ञों के गले पूर्णरूप से नहीं उतरीं, तथापि कालान्तर में वैदिकों की यह धारणा बन गई कि स्वामी दयानन्द ने वेदार्थ प्रक्रिया के जिन मूलभूत सूत्रों का निर्धारण किया है उनकी किसी भी प्रकार उपेक्षा नहीं की जा सकती। वे इस बात से भी सहमत हुए कि स्वामीजी द्वारा संकेतित प्रणाली को ही अपनाकर अथवा उसका उपबृंहण कर वेद के वास्तविक तात्पर्य तक पहुंचा जा सकता है।

यहां हम स्वामी दयानन्द के वेद-भाष्य के प्रभाव का विचार करते हुए देखें कि किन-किन वैदिक विद्वानों ने स्वामीजी के वेदभाष्य के प्रति अपनी अनुकूल प्रतिक्रिया प्रदर्शित की है। सर्वप्रथम हम पाण्डिचेरी के साधक योगी अरविन्द के मत का उल्लेख करेंगे, जिन्होंने स्वामीजी की वेद भाष्य-प्रणाली पर अपनी स्पष्ट सम्मति प्रदान करते हुए उनके वेद-भाष्य को सायण की तुलना में श्रेष्ठ और वरिष्ठ ठहराया है। वैदिक-मैगजीन में प्रकाशित अपने एक विस्तृत लेख में उन्होंने सायण-भाष्य की त्रुटियों और सीमितताओं का ही उल्लेख नहीं किया, विशद् विवेचन के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर भी पहुंचे कि

१. निरुक्त में वेदार्थ की अधिदैव, अधियज्ञ, अध्यात्म, आख्यानसमय, ऐतिहासिक, नैदान, नैरुक्त, परिव्राजक, पूर्वयाज्ञिक इन ९ पृथक्-पृथक् शैलियों का उल्लेख मिलता है।

जहां तक वेद की पूर्ण और अन्तिम व्याख्या का सम्बन्ध है, वह चाहे कुछ भी हो परन्तु यह तो स्वीकार करना ही होगा कि दयानन्द ही वेदार्थ-विषयक वास्तविक दृष्टि का प्रथम अन्वेषक था।[1] उन्होंने स्वामी दयानन्द की ही भांति वेद में एकेश्वरवाद के सिद्धान्त की पुष्टि की और स्वामीजी द्वारा व्यक्त इस मान्यता का भी समर्थन किया कि वेदों में अधुनातन विज्ञान के सिद्धान्त अपने मूल रूप में विद्यमान हैं। यहीं तक नहीं, वे तो स्वामी दयानन्द से एक पग आगे जाकर यहां तक कह देते हैं कि वेदों में विज्ञान के कुछ ऐसे भी तथ्य पाये जाते हैं, जिन्हें आधुनिक वैज्ञानिक अभी तक जान भी नहीं सके हैं।[2]

श्री अरविन्द ने स्वामी दयानन्द की वेद भाष्य-प्रणाली का प्रशस्ति पाठ ही नहीं किया, उन्होंने स्वयं भी आध्यात्मिक दृष्टि को प्रधानता देते हुए वेद के कुछ अंशों का भाष्य किया। उनका 'वेद-रहस्य' ऐसी ही वेद-व्याख्या है जिसकी वेदार्थ शैली स्वामी दयानन्द की वेद-भाष्य पद्धति से बहुत कुछ मिलती है। वेद-रहस्य की विस्तृत भूमिका में श्री अरविन्द ने भी दयानन्द की ही भांति सायण की वेदार्थ की यज्ञ प्रक्रियानुसारिणी एकान्तिक शैली की कटु आलोचना की है। वेद के विषय में श्री अरविन्द की विचारधारा का ही अनुकरण करने वाले श्री टी० वी० कपाली शास्त्री ने भी ऋग्वेद के कुछ अंश का भाष्य[3] किया है, जिस पर स्वामी दयानन्द की वेद भाष्य-प्रणाली का निश्चित प्रभाव है।

निरुक्तालोचन, ऐतरेयालोचन, त्रयी-परिचय आदि प्रसिद्ध वैदिक ग्रन्थों के लेखक तथा स्वामी दयानन्द के ही समकालीन बंगाली विद्वान् पं० सत्यव्रत सामश्रमी (१८४६ ई०–१९११ ई०) भी स्वामीजी की वेद भाष्य-प्रणाली से पर्याप्त प्रभावित हुए थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'ऐतरेयालोचन' में शूद्रों के वेदाधिकार की घोषणा करते हुए स्वामी दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट यजुर्वेद के उसी मन्त्र को उद्धृत किया है, जिसमें परमात्मा की कल्याणी वेदवाणी को मनुष्य

---

1. "In the matter of Vedic interpretation. I am convinced that whatever may be the final and complete interpretation. Dayanand will be honoured as the first discoverer of the right clues."

2. "There is nothing fantastic in Dayanand's idea ther Veda contains truth of science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that the Veda contains the other truths of Science the modern world does not at all possess and in that case Dayanand has rather understated than over stated the depth and range of the Vedic wisdom." Dayanand and Veda.

१. सिद्धाञ्जनभाष्य—श्री अरविन्द आश्रम पाण्डिचेरी से दो खण्डों में प्रकाशित।

मात्र के हितार्थ प्रचारणीय बताया गया है ।[1] सामश्रमीजी द्वारा लिखित अन्य वैदिक ग्रन्थ भी स्वामीजी की विचारधारा से प्रभावित हैं । स्वामी दयानन्द की ही भांति सामश्रमीजी ने वेदों में विज्ञान की सत्ता को स्वीकार किया है ।[2]

वेद मन्त्रों में निहित रहस्य पर नूतन वैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन करने वाले जयपुरीय पं० मधुसूदन ओझा की वेदार्थ शैली भी अध्यात्म प्रधान मन्त्रार्थ शैली है । यह शैली भी स्वामी दयानन्द की वेदार्थ शैली से प्रत्यक्षतया प्रभावित है । यद्यपि महामहोपाध्याय पं० मधुसूदन ओझा[3] तथा उनके शिष्य द्वय महामहोपाध्याय स्व० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेद[4] तथा स्व० पं० मोतीलाल शास्त्री[5] का वेदार्थ चिन्तन ऊहा तथा कल्पना पर ही अधिक आश्रित प्रतीत होता है, तथापि यह निश्चित है कि मधुसूदन शैली के विद्वानों ने वेद-भाष्य की परम्परागत मध्यकालीन याज्ञिक शैली को छोड़कर वेदों की जो अध्यात्म-मूलक व्याख्या की है, निश्चय ही उसके मूल में स्वामी दयानन्द की वेदार्थ-प्रणाली का प्रभाव दृष्टिगोचर हो रहा है । पं० मधुसूदन ओझा द्वारा आविष्कृत वेदार्थ-प्रणाली को ही स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने पल्लवित किया ।[6] उन्होंने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि वेदार्थ की परम्परा में सुदीर्घकाल के पश्चात् स्वामी दयानन्द ने पुनः ब्रह्मवाद-पक्ष की स्थापना की । पश्चिमी विद्वान् हठपूर्वक इस प्रणाली से पराङ्मुख रहे और समस्त ब्राह्मण ग्रन्थों की स्पष्ट साक्ष्य के होते हुए भी उन्होंने अध्यात्म किंवा ब्रह्मवाद

---

१. "शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षात् वेदवचनमपि प्रदर्शितं स्वामिदयानन्देन यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः । ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय—इति" (वाजसनेयी संहिता २६।२) ऐतरेयालोचनम्, पृ० १७ (१६०६ में प्रकाशित कलकत्ता संस्करण)

२. 'त्रयीचतुष्टय' ग्रन्थ में सामश्रमीजी ने वेदों में विज्ञान की सत्ता स्वीकार की है ।

३. १६३० ई० में प्रकाशित इन्द्र-विजय तथा अन्य ग्रन्थ ।

४. चतुर्वेदजी ने अपने ग्रन्थ 'वैदिक-विज्ञान और भारतीय संस्कृति' में यद्यपि वेद के विषय में स्वकल्पित वैज्ञानिक दृष्टि को स्वीकार किया है तथापि इस दृष्टि के जनक स्वामी दयानन्द के कतिपय विचारों की उन्होंने उग्र आलोचना की है । वे वेदों से मृतक श्राद्ध तथा पुराणवर्णित राधाकृष्ण की रासलीला तो सिद्ध करते हैं, परन्तु वेदों में स्वामी दयानन्द के अनुसार वैज्ञानिक आविष्कारों के मूलभूत सिद्धान्तों की सत्ता उन्हें अमान्य है ।

५. सांस्कृतिक व्याख्यान पञ्चक तथा शतपथ विज्ञान-भाष्य आदि ग्रन्थ ।

६. उरुज्योति और वेद-विद्या में संगृहीत निबन्ध ।

सिद्धान्त को कभी पूज्य दृष्टि से नहीं देखा।[१] वेदों के मर्मज्ञ विद्वान् डा० फतहसिंह भी अपने वैदिक-दर्शन तथा The Vedic Etymology के लिए स्पष्टतः स्वामी दयानन्द के वेदार्थ-विषयक विचारों के ऋणी हैं।

रामानन्द सम्प्रदाय के आचार्य स्वामी भागवदाचार्य ने अपने साम-संस्कार भाष्य की भूमिका तथा ब्रह्मसूत्र वैदिक-भाष्य में वेदाधिकार का विवेचन करते हुए मनुष्य मात्र के लिए जो वेद के पठन-पाठन का अधिकार स्वीकार किया है वह प्रत्यक्षतया स्वामी दयानन्द के एतद्-विषयक विचारों का ही प्रभाव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी दयानन्द की वेद भाष्य-प्रणाली ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में सभी आधुनिक वेद-व्याख्याकारों को प्रभावित किया है। न केवल एतद्देशीय अपितु पाश्चात्य वैदिक विद्वान् भी स्वामी दयानन्द की वेदार्थ-विषयक देन को स्वीकार करते हुए वेद-विषयक उनके बृहत् साधनापूर्ण अनुष्ठान को श्लाघा की दृष्टि से देखते हैं। डा० सुधीरकुमार गुप्त ने अपने शोध प्रबन्ध 'वेद भाष्य-प्रणाली को दयानन्द सरस्वती की देन' में स्वामीजी की वेद भाष्य-पद्धति की महत्ता और उसके प्रभावों का सम्यक् आकलन किया है। वेदार्थ-चिन्तन के क्षेत्र में याज्ञिक प्रभाव को न्यून कर वेद मन्त्रों में निहित सत्य की व्यापक स्तर पर प्रतिष्ठा तथा उसके शाश्वत महत्त्व की घोषणा निश्चय ही स्वामी दयानन्द की वैदिक-साहित्य को एक महती देन है। वेदार्थ के नये आयामों को ढूंढ कर स्वामी दयानन्द ने वैदिक अध्ययन को एक सर्वथा नूतन दिशा प्रदान की है।

इसी प्रसंग में विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के निदेशक आचार्य विश्वबन्धु, स्वाध्याय मण्डल (पारड़ी) के संस्थापक स्व० पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर तथा वेद संस्थान के अध्यक्ष स्वामी विद्यानन्द विदेह के वेद-विषयक दृष्टिकोण को स्वामी दयानन्द ने किस प्रकार प्रभावित किया है, यह देख लेना भी उपयुक्त होगा। आचार्य विश्वबन्धु अपने कार्यकाल के प्रारम्भिक भाग में आर्यसमाज से सम्बद्ध रहे हैं। सातवलेकरजी के वेद-भाष्य तथा विद्यानन्द विदेह के वेद-व्याख्या ग्रन्थ भी स्वामी दयानन्द की वेद भाष्य-प्रणाली का ही अनुसरण करते हैं। उपर्युक्त तीनों विद्वानों का आर्यसमाज से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अतः उनका स्वामीजी के वेद-विषयक मन्तव्यों से प्रभावित होना स्वाभाविक ही है।

---

१. साप्ताहिक दिवाकर (आगरा) का वेदाङ्क पृ० १३० (२६-१०-३५ को प्रकाशित)।

यह तो हुआ प्रभाव का विचार। अब हमें यह देखना है कि आर्यसमाज के क्रान्तिकारी कार्यक्रम के कारण धर्म और समाज के अपेक्षाकृत पिछड़े क्षेत्रों में जो उसकी व्यापक प्रतिक्रिया हुई और इसी प्रतिक्रिया स्वरूप सनातनधर्म आन्दोलन का संगठन हुआ उसके द्वारा संस्कृत-भाषा और साहित्य की क्या सेवा हुई ? निश्चय ही सनातनधर्म का यह आन्दोलन प्रतिक्रियामूलक और प्रतिगामी था, तथापि आर्यसमाज के शैक्षणिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक कार्यक्रमों की स्पर्धा में उसके द्वारा जो समानान्तर कार्यक्रम गठित किये गए, उनके द्वारा भी संस्कृत-भाषा और साहित्य को जो गति और बल मिला, यहां उसी का विवेचन हमें अपेक्षित है।

सनातनधर्म आन्दोलन के जन्म की भूमिका—धर्म और समाज के क्षेत्र में उदार और प्रगतिशील तथा कई अर्थों में क्रान्तिकारी दृष्टि लेकर चलने वाले आर्यसमाज का पुराणपन्थी, गतानुगतिकता के प्रेमी, रूढ़िवादी वर्ग के लोगों द्वारा विरोध होना स्वाभाविक ही था। ज्यों-ज्यों आर्यसमाज द्वारा समाज के क्षेत्र में सुधार के कार्य बल पकड़ने लगे और धर्म के क्षेत्र में लोगों की दृष्टि अधिकाधिक उदार, तर्कमूलक और वैज्ञानिक होने लगी, त्यों-त्यों परम्परा प्रेमी लोग उसका विरोध भी करने लगे। आर्यसमाज का यह विरोध सनातनधर्म आन्दोलन के रूप में व्यक्त हुआ। व्याख्यानवाचस्पति पं० दीन-दयालु शर्मा ने १८८७ ई० में हरिद्वार में गंगा तट पर भारतधर्म महामण्डल की स्थापना की। तत्पश्चात् पं० मदनमोहन मालवीय के सहयोग से सनातन-धर्म सभाओं की विभिन्न प्रान्तों में स्थापना की गई। इस सनातनधर्म आन्दो-लन में मालवीयजी जैसे उदार-दृष्टि सम्पन्न पुरुष तो थोड़े ही थे, अधिकांश लोग कट्टर परम्परा पोषक तथा नवयुग की नवीन विचारधारा के विरोधी थे। पंजाब, उत्तरप्रदेश तथा उत्तर भारत के अन्य प्रान्तों में जहां-जहां आर्य-समाज का कार्य बढ़ा, सनातनधर्मी क्षेत्रों से उसका संगठित रूप में विरोध किया जाता रहा। इटावा निवासी पं० भीमसेन शर्मा, मुरादाबाद निवासी पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, पं० अखिलानन्द शर्मा, पं० कालूराम शास्त्री, पं० माधवाचार्य आदि सनातनधर्मी विद्वानों ने आर्यसमाज के खण्डन में विपुल साहित्य संस्कृत और हिन्दी में लिखा है।

आर्यसमाज के विरुद्ध खड़े किये गए इस सनातनधर्म आन्दोलन ने भी संस्कृत-भाषा तथा उसके साहित्य के उन्नयन में प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, अतः इसे प्रकारान्तर से आर्यसमाज की संस्कृत-विषयक देन के विवेचन में ही सन्निविष्ट कर लेना उचित होगा। वस्तुतः

आर्यसमाज और सनातनधर्म की वैचारिक आधारभूमि एक ही है। आर्यसमाज की भांति सनातनधर्म भी धर्ममीमांसा में वेदों को सर्वोपरि प्रमाण मानता है। वेदातिरिक्त स्मृति, पुराण, तन्त्र, धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थ भी सनातनधर्मियों की दृष्टि में प्रामाणिक हैं, यद्यपि तुलनात्मक दृष्टि से वे भी वेद प्रमाण को ही सर्वोपरि महत्त्व देते हैं। आर्यसमाज से उनका मतभेद मूर्तिपूजा, अवतारवाद, वर्णव्यवस्था को जन्मना स्वीकार करने, विधवा-विवाह को त्याज्य समझने तथा वेदाध्ययन में द्विजमात्र का ही अधिकार मानने जैसे विषयों को लेकर है। भूतकाल में आर्यसमाज और सनातनधर्म के बीच यदा-कदा शास्त्रीय विषयों को लेकर शास्त्रार्थों का आयोजन हो रहता था। यद्यपि अधिकांश शास्त्रार्थ हिन्दी में ही होते थे, परन्तु कभी-कभी विद्वत्ताप्रदर्शन हेतु संस्कृत के माध्यम से भी शास्त्रार्थ किये जाते थे। आर्यसमाज की भांति सनातनधर्म में भी शास्त्रालोचन, संस्कृत-ग्रन्थ रचना तथा संस्कृत-शिक्षा हेतु विद्यालयों और पाठशालाओं की स्थापना का कार्य प्रारम्भ हुआ। इन सभी योजनाओं के क्रियान्वयन में आर्यसमाज के द्वारा किये गए एतद् विषयक कार्य की प्रतिक्रिया हीं स्पष्ट परिलक्षित होती है, अतः यहां इस पर विचार कर लेना असमीचीन न होगा।

स्वामी दयानन्द के प्रमुख शिष्य और आर्यसमाज के आद्य पण्डित भीमसेन शर्मा कालान्तर में किसी कारणवश आर्यसमाज से पृथक् होकर सनातनधर्म आन्दोलन में सम्मिलित हो गए।[1] भीमसेन शर्मा ने आर्यसमाज में रहकर शास्त्रालोचन और संस्कृत ग्रन्थ निर्माण का जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य किया था वैसा ही कार्य उन्होंने सनातनधर्मी बन जाने के पश्चात् भी किया। अब वे इटावा से 'ब्राह्मणसर्वस्व' नामक मासिक पत्र निकालने लगे और इस पत्र के माध्यम से उन्होंने आर्यसमाज के धार्मिक और सैद्धान्तिक मन्तव्यों की समालोचना आरम्भ की। अपने जीवन के पिछले भाग में वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में वेद-व्याख्याता के पद पर भी नियुक्त हुए थे।

सनातनधर्मी बन जाने के पश्चात् भीमसेन शर्मा ने उन सब शास्त्र ग्रन्थों का सनातनधर्म के मन्तव्यों के अनुकूल भाष्य किया, जिन पर वे आर्यसमाजी दृष्टि से लिख चुके थे। अब उन्होंने उपनिषदों पर शाङ्कर वेदान्त की अद्वैतवादी विचारधारा के अनुसार पुनः भाष्य लिखा जब कि वे पहले उपनिषदों की जीवेश्वर-भेद परक व्याख्या लिख चुके थे। उन्होंने १८ स्मृतियों

---

१. द्रष्टव्य—'पं० भीमसेन शर्मा का मत-परिवर्तन'—वेदवाणी जनवरी, फरवरी, ६८ में डा० भवानीलाल भारतीय का लेख।

को एकत्रित कर उनकी हिन्दी टीका लिखी तथा कतिपय कल्प-सूत्रों का हिन्दी भाष्य किया। कर्मकाण्ड विषयक उनके अन्य ग्रन्थों में स्मार्तकर्म-पद्धति उल्लेखनीय है। इसमें स्वस्ति पुण्याह-वाचन प्रयोग, आवसथ्य गृह्याग्नि के स्थापन का विधान, औपासन (नित्य सायं-प्रातः गृह्याग्नि में होने वाला होम), पक्षादि कर्म (स्मार्त रीति से होने वाले दर्शपौर्णमास होम) पञ्चमहायज्ञ-विधान आदि सम्मिलित हैं। यह एक विडम्बना ही थी कि जिन पं० भीमसेन शर्मा ने स्वामी दयानन्द के सान्निध्य में रहकर आर्यसमाज के सिद्धान्तों की सत्यता स्वीकार की, अब वे ही विरोधी-पक्ष में जाकर उन्हीं सिद्धान्तों का खण्डन करने लगे। परन्तु जहां तक संस्कृत-भाषा का सम्बन्ध है, पं० भीमसेन शर्मा का इस भाषा के प्रति लगाव एक निर्विवाद तथ्य है। चाहे वे आर्य-समाजी रहे या सनातनधर्मी, उन्होंने संस्कृत-ग्रन्थ निर्माण करने तथा संस्कृत-भाषा के शिक्षण और प्रचार के कार्य में ही अपने को सर्वात्मना तल्लीन रखा। श्री भीमसेन शर्मा अपने जीवन के मध्याह्नोत्तर काल में कलकत्ता विश्वविद्यालय में वेद के व्याख्याता पद पर नियुक्त हुए। इटावा से वे ब्राह्मण-सर्वस्व नामक पत्र प्रकाशित करते थे। इसमें उनकी वेद-दीपिका व्याख्या तथा आश्वमेधिक मन्त्र मीमांसा शीर्षक पुस्तकें धारावाही रूप से प्रकाशित हुईं। आश्वमेधिक मन्त्र मीमांसा में यजुर्वेद के अश्वमेधाध्याय पर महीधर भाष्य की स्वामी दयानन्द कृत आलोचना का खण्डन करते हुए कात्यायन श्रौत सूत्र के आधार पर महीधर के अर्थों को निर्दोष सिद्ध किया है।

पं० भीमसेन की ही भांति कविरत्न पं० अखिलानन्द शर्मा भी सिद्धान्त-भेद के कारण आर्यसमाज से पृथक् हुए। आर्यसमाज में रहकर अखिलानन्द दयानन्द-दिग्विजय जैसा उत्कृष्ट महाकाव्य लिख चुके थे। अब सनातनधर्म में दीक्षित होकर उन्होंने २५ सर्गों में समाप्त होने वाला २२७५ पद्यों का सनातनधर्म-विजय महाकाव्य लिखा, जो उन्हीं के द्वारा रचित विजय-वैजयन्ती टीका सहित १९७७ वि० में प्रकाशित हुआ। उनके अथर्वालोचन तथा वेद-त्रयी समालोचन आदि ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं।

सनातनधर्म में भी आर्यसमाज की ही भांति वेद तथा अन्यान्य शास्त्रों के स्वमत पुष्टि हेतु भाष्यादि लिखने का कार्य परम्परागत दृष्टि से हुआ, जिससे संस्कृत का शास्त्रीय वाङ्मय पर्याप्त समृद्ध हुआ। स्वामी दयानन्द के सतीर्थ्य पं० उदयप्रकाश ने दयानन्द-भाष्य के खण्डन केलिए यजुर्वेद का भाष्य[1]

१. यह दुर्लभ ग्रन्थ रामलाल कपूर ट्रस्ट के पुस्तकालय में विद्यमान है।

लिखा, मुरादाबाद निवासी पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र विद्यावारिधी ने भी यजुर्वेद पर भाष्य लिखा, ऋषिकुमार रामस्वरूप शर्मा ने मनुस्मृति तथा पं० रामचन्द्र शर्मा ने पाराशर स्मृति की हिन्दी टीकायें लिखीं। आर्यसमाज ने अष्टादश पुराणों का खण्डन किया था। अब सनातनधर्मी विद्वानों ने पुराणों के समर्थन तथा पुराण-प्रतिपादित मन्तव्यों की पुष्टि में ग्रन्थ लिखे। ऐसे ग्रन्थों में पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र का अष्टादशपुराण-दर्पण, पं० कालूराम शास्त्री का पुराण-वर्म तथा पं० माधवाचार्य शास्त्री का पुराण-दिग्दर्शन उल्लेखनीय हैं।

आर्यसमाज के सिद्धान्तों के खण्डन में भी सनातनधर्मी विद्वानों द्वारा संस्कृत में अनेक ग्रन्थ लिखे गए। विश्वेश्वरनाथ गोस्वामी ने स्वामी दयानन्द के आद्यग्रन्थ 'भागवत-खण्डन' के खण्डन में 'पाषण्डिमुखमर्दन' नामक पुस्तक संस्कृत-भाषा में लिखा। इसमें भागवतखण्डन का प्रतिपद खण्डन किया गया है। राममोहन शर्मा तथा गोस्वामी घनश्याम ने दयानन्द कृत ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका के खण्डन में महामोह-विद्रावण तथा भूमिकाभास ग्रन्थ लिखे। इनका उल्लेख इसी ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में किया जा चुका है। अन्य खण्डनत्माक ग्रन्थों में, जिनमें सिद्धान्तों के तात्त्विक खण्डन की अपेक्षा व्यंग्य, आक्रोश, आक्षेप और विरोध का ही स्वर प्रबल है, लाहौर निवासी पं० गोविन्दराम शास्त्री कृत दयानन्दमत-मर्दन, कन्नौज निवासी पं० हरिशंकर-लाल शास्त्री कृत सद्धर्मदूषणोद्धार तथा प० छज्जूराम कृत दयानन्दाष्टक उल्लेखनीय हैं। पं० श्रीगोपाल ने सत्यार्थप्रकाश के खण्डन में संस्कृत में वेदार्थ-प्रकाश नामक ग्रन्थ लिखा। इसका हिन्दी और उर्दू अनुवाद भी छपा, ऐसा ज्ञात होता है। सनातनधर्म के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० अम्बिकादत्त व्यास ने अवतारवाद की सिद्धि में 'अवतारमीमांसा कारिका' नामक २६१ श्लोकों का पद्य-बद्ध ग्रन्थ लिखा। यह १९५५ वि० में प्रकाशित हुआ। आर्यसमाज के कतिपय समाज-सुधार सम्बन्धी मन्तव्यों का विरोध उन दाक्षिणात्य पण्डितों द्वारा भी संस्कृत-भाषा के माध्यम से ही हुआ था, जो उत्तर भारत के सनातन-धर्म आन्दोलन से सर्वथा असम्पृक्त थे, तथापि जिन्हें बालविवाह विरोध, विधवा-विवाह समर्थन तथा समुद्र-यात्रा स्वीकार जैसे सुधारवादी स्वर अस्वीकार्य थे। निश्चय ही यह सारा खण्डन-मण्डन संस्कृत-भाषा में वाद-विवाद की क्षमता उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हुआ, फलतः ऐसे साहित्य को भी भाषा की प्राञ्जलता का वर्धक होने से उपादेय ही समझना चाहिए।

इसी प्रसंग में आर्यसमाज की विचारधारा से प्रभावित उदासीन सम्प्रदायानुयायी स्वामी हरिप्रसाद वैदिकमुनि की संस्कृत साहित्य सेवा का भी उल्लेख किया जाना आवश्यक है। स्वामी हरिप्रसाद के गुरु महात्मा जवाहिरदास काशी निवासी थे। उन्होंने स्वामी दयानन्द की काशी निवासकाल में पर्याप्त सहायता की थी। वे स्वामीजी के संस्कृत पाठशाला संस्थापन के कार्य में भी सहयोगी थे। इन्हीं के शिष्य स्वामी हरिप्रसाद वैदिकमुनि ने वेद और दर्शन पर पर्याप्त कार्य किया। वैदिकमुनि कुछ समय तक गुरुकुल वृन्दावन में अध्यापक भी रहे थे। वेदों पर लिखा गया उनका वेदसर्वस्व ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है; जिसमें वेदों की मन्त्र-संख्या, वैदिक-शाखा प्रवचन आदि कतिपय उपयोगी विषयों पर विवेचन किया गया है। वैदिकमुनि ने मीमांसा को छोड़कर पांचों दर्शनों पर वैदिक वृत्ति लिखी है। उनकी सांख्यसूत्र वृत्ति १९६२ वि० में प्रकाशित हुई।[1] गीता उपनिषदों पर भी उन्होंने संस्कृत में भाष्य लिखे। स्वामी दयानन्द द्वारा संकलित वैदिक संध्या-पद्धति पर भी स्वामी हरिप्रसाद ने 'वैदिक संध्या-भाष्यम्'[2] शीर्षक संस्कृत-भाष्य लिखा।

ऋषिकुल-संस्थापन—सनातनधर्म के क्षेत्र में आर्यसमाज की प्रतिक्रिया स्वरूप शास्त्रालोचन तथा स्वतन्त्र ग्रन्थ निर्माण का कार्य तो हुआ ही, आर्यसमाज के ही अनुकरण पर सनातनधर्मियों ने संस्कृत विद्या के प्रचारार्थ ऋषिकुलों की भी स्थापना की। हरिद्वार स्थित ऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम आर्यसमाज के गुरुकुल कांगड़ी की प्रतिद्वन्द्विनी संस्था के रूप में ही स्थापित हुआ था, जिसके द्वारा संस्कृत अध्ययन को बल मिला। महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेद पर्याप्त समय तक इसके आचार्य पद पर रहे थे। न केवल सनातनधर्मियों ने ही, अपितु जैन मतावलम्बियों ने भी आर्यसमाज के अनुकरण पर गुरुकुलों की स्थापना की। इन गुरुकुलों में संस्कृत-भाषा, व्याकरण-

---

१. "सांख्यसूत्रवैदिकवृत्तिः अर्थात् श्रीमन्महर्षिकपिलप्रणीतसूत्राणां वेदानुसारिणी वृत्तिः—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्योदासीनवर्य्यात्मारामभगवत्पादशिष्येण श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्योदासीनवर्य्यपण्डितस्वामिजवाहिरदासभगवत्पादाधिगतवेदांगविद्येन श्रीमन्निखिलशास्त्रनिष्णातपण्डितस्वामिहरिप्रसादेननिर्मिता।"

२. निर्णयसागर मुद्रणालये प्रकाशितम् १९७४ वि०।

काव्य आदि के अध्ययन के साथ-साथ जैनधर्म, दर्शन, न्याय आदि का अध्ययन भी कराया जाता था तथा आर्यसमाज की ही भांति धार्मिक और शास्त्रीय वाद-विवादों में भाग लेने वाले शास्त्रार्थी पण्डित तैयार किये जाते थे। ये जैन विद्वान् भी संस्कृत के माध्यम से धार्मिक वाद-विवाद और दर्शन-विषयक सूक्ष्म आलोचना-प्रत्यालोचना में सतत् तत्पर रहते थे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आर्यसमाज की प्रतिक्रिया स्वरूप देश में जो सनातनधर्म आन्दोलन चला तथा जैन विद्वानों में धार्मिक वाद-विवाद की चेतना स्फूर्त हुई, उससे भी संस्कृत-भाषा की महती सेवा हुई है तथा इसका श्रेय भी प्रकारान्तर से देश में धार्मिक चेतना को उत्पन्न करने वाले आर्यसमाज को ही दिया जा सकता है।

परिशिष्ट—१

परिवर्धन

पृष्ठ ८९ स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने यजुर्वेद के प्रथम १० अध्यायों का अन्वयार्थ लिखा है।

पृष्ठ ९० सामवेद के कुछ अंश का भाष्य पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने किया।

पृष्ठ ९१ अथर्ववेद के किञ्चित् अंश का भाष्य स्व० बुद्धदेव विद्यालंकार ने संस्कृत तथा हिन्दी में किया जो आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के मुखपत्र आर्य (लाहौर) से धारावाही प्रकाशित हुआ।

पृष्ठ ९२ यजुर्वेद के रुद्राध्याय का संस्कृत भाष्य पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने किया जो अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित हुआ। 'रुद्राष्टाध्यायी' शीर्षक से यजुर्वेद के रुद्र-देवता सम्वन्धी मन्त्रों का एक संग्रह शाहपुरा के स्व० नरेश सर नाहरसिंहजी ने १९७९ वि० में प्रकाशित किया था।

पृष्ठ ९५ आथर्वण पैपलाद संहिता के कतिपय मन्त्रों का अंग्रेजी अनुवाद पं० रामदत्त शुक्ल और वासुदेवशरण अग्रवाल ने किया जो १९३७ ई० में लखनऊ से छपा।

पृष्ठ ९५ ऋग्वेद के भाष्यकार वेङ्कटमाधव के भाष्य के अन्तर्गत विद्यमान अनुक्रमणियों का सम्पादन एवं भाषानुवाद पं० जयदेव शर्मा, विद्यालंकार ने किया। 'अथर्ववेदभाष्ये संहितायाः पदानां वर्णानुक्रम सूचीपत्रम्' शीर्षक से क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने अथर्ववेद के पदों की सूची तैयार की, जो १९७८ वि० में नारायण यंत्रालय, प्रयाग से छपी।

पृष्ठ ९८ वेद और विज्ञान विषयक ग्रन्थों में वैद्य रामगोपाल शास्त्री का 'वेदों में आयुर्वेद' शीर्षक ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। पं० भगवद्दत्त ने अंग्रेजी में वैदिक विज्ञान विषयक ग्रन्थ The Story of

Creation लिखा जो अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ। प्राच्य-विद्या विश्व-सम्मेलन के दिल्ली अधिवेशन (१९६३ ई०) के अवसर पर उन्होंने इसी विषय का एक शोध निबन्ध Extra ordinary Scientific Knowledge in Vedid works प्रस्तुत किया।

पृष्ठ ९८ वेद में नित्य इतिहास के रहस्य का उद्घाटन करने हेतु पं० धर्मदेव निरुक्ताचार्य का 'त्वाष्ट्री सरण्यू के वैदिक उपाख्यान का वास्तविक स्वरूप' तथा पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु का 'देवापि शन्तनु के वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप' भी द्रष्टव्य हैं।

पृष्ठ १०३ उपनिषद् प्रकरण में—रामदत्त शुक्ल ने एक गौण उपनिषद् शारीरकोपनिषद् का अनुवाद १९९४ वि० में प्रकाशित किया। इसी प्रकार स्वामी मंगलानन्द पुरी ने वज्रसूची उपनिषद् का अनुवाद 'ब्राह्मण कौन है?' नाम से किया।

पृष्ठ १०४ श्री मनोमोहन घोष के उपर्युक्त आक्षेपों का समाधान पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने 'मूल पाणिनीय शिक्षा' शीर्षक एक निबन्ध में किया जो साहित्य (पटना) अंक १, १९५९ में प्रकाशित हुआ।

पृष्ठ ११५ क्षत्रियकुमार उदयनारायणसिंह ने गोभिल, वाराह, खादिर तथा द्राह्यायण गृह्यसूत्रों की व्याख्या लिखी। ये ग्रन्थ शास्त्र-प्रकाश कार्यालय (बिहार) से प्रकाशित हुए।

पृष्ठ ११६ उदयनारायणसिंह ने ज्योतिष के सूर्यसिद्धान्त तथा सिद्धान्तशिरोमणि जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद किया।

पृष्ठ ३२२ डी० ए० वी० कालेज, लाहौर संस्कृत ग्रन्थमाला के निम्न ग्रन्थों के सम्पादकों के नाम—

दन्त्योष्ठ्य विधि	पं० रामगोपाल शास्त्री
अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमाणिका	पं० रामगोपाल शास्त्री
अथर्ववेदीय पञ्चपटलिका	पं० भगवद्दत्त

परिशिष्ट—२

उद्धृत, उल्लिखित एवं सहायक ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थ-नाम	लेखक, सम्पा०, प्रकाशक	पृष्ठ
अङ्गाधिकार	प्र० गुरुकुल कांगड़ी	३४२
अथर्वप्रातिशाख्य	सं० डा० सूर्यकान्त	३१४
अथर्ववेद और गोपथ ब्राह्मण	(ले० मारिस ब्लूमफील्ड)	
	अनु० डा० सूर्यकान्त	३१६
अथर्ववेद भाष्य	क्षेमकरणदास त्रिवेदी	९०
अथर्ववेद भाष्य पदसूची	"	९०
अथर्ववेद संहिता	सं० सेवकलाल कृष्णदास बम्बई	३४९
अथर्ववेदीया पञ्चपटलिका	सं० भगवद्दत्त	३११, ३२२
अपूर्व शास्त्रार्थ	हरिदत्त शास्त्री	२७१
अवोधनिवारण	अम्बिकादत्त व्यास	६३
अभिधावृत्तिमातृका	टी० विश्वेश्वर	३०१
अभिनवमहिम्न स्तोत्र	देवीचन्द्र शास्त्री	२०९
अमरकोश	सं० जीवराम उपाध्याय	३४४
अमृतमन्थन	मंगलदेव शास्त्री	२०३
अर्थशास्त्र (कौटिल्य)	अनु० उदयवीर शास्त्री	११६
अवतारमीमांसा कारिका	अम्बिकादत्त व्यास	३६०
अव्ययार्थ	दयानन्द सरस्वती	६५, १०७
अव्ययार्थ-निवन्धन	ब्रह्ममुनि परिव्राजक	१११
अष्टोत्तरशतनाममालिका	विद्यासागर शास्त्री	२१३
अष्टाध्यायी-भाष्य	दयानन्द सरस्वती	६६
"	भीमसेन शर्मा	१०७
"	ज्वालादत्त शर्मा	१०७
"	गङ्गादत्त शास्त्री	१०७
"	अमृतानन्द सरस्वती	१०७

*इस का वास्तविक 'पूना-प्रवचन' नाम है। इन का सटिप्पण परिशुद्ध संस्करण अभी अभी रामलाल कपूर ट्रस्ट से छपा है।

१. रामायण के विषय में वाल्मीकिरामायण भी देखें।

English Books.

परिशिष्ट—३

कतिपय महत्त्वपूर्ण शोध-निबन्ध

१	बार्हस्पत्य सूत्र की भूमिका	पं० भगवद्दत्त
२	वैदिक कोश की भूमिका	"
३	बैजवाप गृह्यसूत्र संकलन	"
४	शाकपूणि का निरुक्त और निघण्टु	"
५	डेट आफ विश्वरूप	"
६	आर्य वाङ्मय	"
७	अश्वशास्त्र	"
८	वेद और निरुक्त	पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, (अ० भा० आर्य विद्वत् सम्मेलन १९३३ ई० में पठित)
९	निरुक्तकार और वेद में इतिहास	"
१०	देवापि और शन्तनु के वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप	पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
११	ऐतरेय ब्राह्मण पर्यालोचन	डा० मंगलदेव शास्त्री
१२	ऐतरेयारण्यक पर्यालोचन	"
१३	कौषीतकि ब्राह्मण पर्यालोचन	"
१४	शतपथ ब्राह्मण पर्यालोचन	"
१५	ऋग्वेद की ऋक्संख्या	पं० युधिष्ठिर मीमांसक
१६	'मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यत्र कश्चिदभिनवो विचारः	"
१७	आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय	"
१८	मूल पाणिनीय शिक्षा	पं० युधिष्ठिर मीमांसक साहित्य (पटना) अंक १ सन् ३९५९

१६	असाधुत्वेनाभिमतानां संस्कृत वाङ्मये प्रयुक्तानां शब्दानां साधुत्वासाधुत्व-विवेचनम्	पं० युधिष्ठिर मीमांसक
२०	भगवत्पाददयानन्दसरस्वतीस्वामिनाम् अपूर्वा कृतिश्चतुर्वेदविषयानुक्रमणी	"
२१	शौक्ल्यकार्ष्ण्यविवेकः	"
२२	छन्दः संकलनम्	"
२३	भारतीयभाषाविज्ञानम्	"
२४	आदिभाषायां प्रयुज्यमानानाम् अपाणिनीयप्रयोगाणां साधुत्वविवेचनम्	"
२५	संस्कृतभाषाया राष्ट्रभाषात्वम्	"
२६	वेदानां महत्त्वं तत्प्रचारोपायश्च	"
२७	ऋग्वेद में देवकामा या देवृकामा	प्रियरत्न आर्ष
२८	वेद में असित शब्द	"
२९	वेद के एक संदिग्ध प्रकरण का विवेचन	ब्रह्ममुनि परिव्राजक
३०	सांख्यसूत्रों का प्राचीन नाम और इतिहास	उदयवीर शास्त्री
३१	तिलकोपज्ञा आर्या	"
३२	केन प्रणीतानि सांख्यसूत्राणि	"
३३	पतञ्जलिप्रणीतमध्यात्मशास्त्रम्	"
३४	मेधातिथि का न्यायशास्त्र	"
३५	सांख्यसम्बन्धिशङ्कालोचनालोचनम्	"
३६	The Flood Legend in Sanskrit.	डा० सूर्यकान्त
३७	Criticism in Sanskrit.	"
३८	Veda : The voice of Clarity.	"
३९	Veda : The voice of Aristocracy.	"
४०	Veda : The voice of wisdom.	"
४१	क्षेमेन्द्र : A critical Study.	"
४२	Saras, Soma and Sura.	"
४३	The Divine Right of Kalidasa.	"
४४	Kalidasa's vision of Kumar Sambhava.	"

४५	Indo-European and Semetic.	डा० सूर्यकान्त
४६	Random reading in the Vedas.	”
४७	Pratishakhya A and B in the light of Sama Parishishta.	”
४८	Abhinisthana or Abhinistana.	”
४९	Ambstha, Ambastha and Ambhastha.	”
५०	The Kathas as a Chasan of Yajurveda.	”
५१	The Kernel of Padma Puran.	”
५२	Unique Significance of Kumar Sambhava.	”
५३	Once more to the Kernal of the Rigveda.	”
५४	Is Sayana of the Rigveda identical with the Commentator on the Atharva Veda ?	”
५५	तान्त्रिक दीक्षा	”
५६	कीकट और पणि	”
५७	मेघदूत की वैदिक पृष्ठभूमि तथा उसका संस्कृत संदेश	डा० सुधीरकुमार गुप्त
५८	Nature of the Vedic Shakhas	By Dr. S. K. Gupta
५९	Ancient Schools of Vedic Interpretation.	”
६०	Swami Dayanand as a Vedic Commentator.	”
६१	Seers of the Rigveda their message and Philosophy.	”

६२	Mono Syllabic Origion of the Vedic Language.	By Dr. S. K. Gupta
६३	Authorship of Some of the Hymns of the Rigveda.	"
६४	A Critical Study of the Commentary on the Rigveda By Swami Dayanand.	"
६५	Coconut in the Rigveda.	"
६६	Authorship of the Phonetic Sutras edited by Dayanand.	"
६७	त्वाष्ट्री सरण्यू के वैदिक उपाख्यान का वास्तविक स्वरूप ...	पं० धर्मदेव निरुक्ताचार्य

परिशिष्ट–४

पत्र-पत्रिकाओं की संचिकायें—

१	आर्यसिद्धान्त	सरस्वती यन्त्रालय, प्रयाग
२	वेदप्रकाश	स्वामी प्रेस, मेरठ
३	परोपकारी	वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
४	वेदवाणी	रामलाल कपूर ट्रस्ट, वाराणसी
५	गुरुकुल पत्रिका	गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी
६	आर्योदय	आर्य प्रतिनिधिसभा, पंजाब का प्रमुखपत्र
७	आर्यमित्र	,, उत्तरप्रदेश का प्रमुखपत्र
८	टंकारा पत्रिका	महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट की मुखपत्रिका
९	भारतोदय	गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर
१०	अमृतलता	स्वाध्याय मण्डल (पारडी) की त्रैमासिक संस्कृत पत्रिका
११	ब्राह्मणसर्वस्व	ब्रह्म प्रेस, इटावा
१२	The Vadic Magazine	गुरुकुल कांगड़ी